पाश्चात्य राजदर्शन

लेखक

श्यामाचरण वर्मा, एम० ए०

सह-प्राध्यापक,

महाकोशल कला महाविद्यालय

(भूतपूर्व राबर्टसन कालेज)

जबलपुर

बुकलैण्ड प्राइवेट लिमिटेड

इलाहाबाद—पटना—कलकत्ता

बुकलैंड प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस:
१, शंकर घोष लेन, कलकत्ता—६

शाखाएँ

२११।१, विधान सरणी, कलकत्ता—६
४४, नेताजी सुभाषचन्द्र मार्ग, इलाहाबाद—३
अशोक राजपथ, पटना—४

प्रथम संस्करण १९६६

मूल्य १०) रुपया

प्रकाशक : जानकीनाथ वसु, एम० ए०, बुकलैंड प्राइवेट लि०,
४४, नेताजी सुभापचन्द्र मार्ग, इलाहाबाद—३
मुद्रक : महेश प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद-३

प्रस्तावना

पिछली बीस शताब्दियों में भौतिक ज्ञान का जो विकास यूरोप में हुआ दूसरे महाद्वीपों मे नही हो सका। इस विकास के तथा यूरोपीय साम्राज्यों के विस्तार के परिणाम स्वरूप सभी महाद्वीपों पर यूरोपीय विचारों व संस्थाओ का प्रभाव पड़ा। वर्तमान युग की राजनीतिक संस्थाओं व घटनाओं को समझने के लिये यूरोपीय राजनीतिक विचारो का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। जिन लोगो को किसी भी रूप में राजनीति से दिलचस्पी है, उनके लिये पाश्चात्य राजदर्शन का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। यह पुस्तक इसी दृष्टिकोण से लिखी गई है। यह कहने की आवश्यकता नही कि वर्तमान राजनीति सिद्धातो का संघर्ष है, इसलिये इसकी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को समझना भी आवश्यक है। इस पुस्तक मे यूनान के आरंभिक युग से लेकर १६वीं शताब्दी के अंत तक राजनीति के विभिन्न दार्शनिकों के विचारों की मीमांसा करने का प्रयास किया गया है।

विद्यार्थियों व सहयोगियो एवं राजनीति में रुचि रखने वाले अन्य लोगो को भी यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

महाकोशल महाविद्यालय
(भूतपूर्व राबर्टसन कालेज)
जबलपुर

श्यामाचरण वर्मा

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
१	राजनीतिक चिन्तन (Political Thought)	१
२	प्लेटो (Plato)	८
३	अरस्तू (Aristotle)	४८
४	अरस्तू के बाद (Greek Political Philosophy after Aristotle)	८४
५	पोलीब्यिस (Polybius)	९०
६	सिसरो (Marcus Tullius Cicero)	९४
७	पोपतंत्र का उदय (Rise of Papacy)	११०
८	अंधकार युग (The Dark Age)	१२३
९	परिषदीय आन्दोलन (The Conciliar Movement)	१४७
१०	निकोलो मेक्यावेली (Niccolo Machiavelli)	१६२
११	वर्तमान युग का आरंभ (Beginning of the Modern Period)	१७८
१२	टामस हाब्स (Thomas Hobbes)	१८९
१३	जान लॉक (John Locke)	२१०
१४	फ्रांस-स्वतन्त्रता की खोज (France—Search for Liberty)	२२९
१५	जॉ जक रूसो (Jean Jacques Rousseau)	२३८
१६	इङ्गलैंड : अनुदार शताब्दी (England—The Conservative Century)	२६१
१७	जेरमी बेन्थम (Jeremy Bentham)	२७२
१८	जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)	२९२
१९	हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)	३१२
२०	हीगेल (Hegel)	३२४
२१	कार्ल मार्क्स (Karl Marx)	३४७
२२	टामस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green)	३७५

अध्याय १

राजनीतिक चिन्तन

(Political Thought)

पाश्चात्य दर्शन का आरम्भ यूनानी युग से माना जाता है। यूरोप में यूनानी साहित्य ही प्राचीनतम है तथा इन रचनाओ मे व्यवस्थित दर्शन प्राप्त होता है। यूनानी युग से पूर्व यूरोप मे यदि कोई सभ्यता थी तो न तो उसका कोई प्रमाण ही मिला है, न उसका कोई साहित्य ही प्राप्त हो सका है। यूनानी दर्शन को यूरोप ने न केवल सुरक्षित रूप मे प्राप्त किया है बल्कि निश्चित रूप मे ग्रहण भी किया है। यूरोपीय दर्शन व्यवस्थाये यूनानी दर्शन से निश्चित रूप से सबद्ध और प्रभावित है। तथा यूरोप का वर्तमान दर्शन तथा यूनानी दर्शन एक ही इतिहास की दो अवस्थाये है। राजदर्शन का आरंभ भी यूनान से ही होता है तथा यूनानी दार्शनिक प्लेटो यूरोप के इतिहास मे प्रथम राजनीतिक दार्शनिक माना जाता है। यह निश्चित है कि व्यवस्थित राजदर्शन राजनीतिक समस्याओ पर क्रमबद्ध और पद्धतिपूर्ण चिंतन प्लेटो की विशाल रचनाओ मे ही पाया जाता है। राजनीतिक समस्याओ पर चितन प्लेटो से पहले भी होता रहा है किन्तु इन विचारो को कभी व्यवस्थित दर्शन का रूप नही दिया जा सका। प्लेटो स्वयं इन विचारो से बहुत प्रभावित था तथा कई विचार उसने स्वीकार भी किये है।

इस अर्थ मे राजनीतिक चितन कहा और कब आरभ हुआ, निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता है। मनुष्य स्वभाव से चितनशील प्राणी है तथा उसका संपर्क जिन वस्तुओ, क्रियाओं व संस्थाओ से होता है उनके सबध मे उसके मस्तिष्क में अपने आप तरह-तरह के प्रश्न उठने लगते है। इस आधार पर राजनीतिक चितन उतना ही प्राचीन है जितना राज्य। मेक्सी (Maxey) ने लिखा है, "शासन की स्थापना सामाजिक विकास का एक महान हिस्सा है। मानव जाति के इतिहास को अन्य किसी वस्तु ने इतना प्रभावित नही किया; अन्य किसी वस्तु ने मानव मस्तिष्क को इससे अधिक उग्र चुनौती नही दी।" इस चुनौती (challenge) के परिणाम स्वरूप राजनीतिक चितन आरंभ होता है तथा इसी कारण विभिन्न राजनीतिक सिद्धातों का मानव-जीवन पर इतना प्रभाव होता है।

राजदर्शन का विकास जिस रूप मे पश्चिम मे हुआ पूर्वी देशो मे नही हो सका, यद्यपि यह बात मान्य है कि पूर्वीय देशों की संस्कृति यूरोपीय सभ्यता से अधिक प्राचीन है। कुछ सामाजिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण पूर्व मे राजदर्शन का

आरभ उस व्यवस्थित रूप मे नही हो सका जिस तरह यूरोप मे हुआ । पूर्वीय जातिया अधिक धार्मिक थी तथा लौकिक जगह व लौकिक प्रश्नो को उन्होने अधिक महत्व नही दिया । उनका ध्यान, उनकी बौद्धिक शक्ति अधिकाश रूप से पारलौकिक चिन्तन मे ही व्यस्त रही । यही कारण है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता मे धर्म तथा पारलौकिक दर्शन (Metaphysics) का विकास अधिक हुआ । इसके अतिरिक्त सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्राचीन पूर्वीय सभ्यताओ का इतिहास तथा उनका साहित्य हमे उपलब्ध भी नही है । समय के साथ बहुत सा ज्ञान अधकार के गर्त मे चला गया तथा बाह्य आक्रमणो के कारण न तो प्राचीन साहित्य के अवशेष ही रह गये, न उसकी परम्परा ही रही । यह भी संभव है कि कालचक्र मे जो पार्थिव जगत का साहित्य था वह लुप्त हो गया तथा धार्मिक और अपार्थिव ही शेष रहा । यह सम्भव है कि विदेशी आक्रमणकारियो के प्रभाव से अपनी संस्कृति की सुरक्षा करने के लिये धर्म और दर्शन का प्रचार अधिक किया गया तथा भौतिक विचारो का महत्व क्रमश. समाप्त हो गया । मनु सहिता मे राजा के उत्तरदायित्वो का उल्लेख किया गया है । कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' एक महान राजनीतिक ग्रन्थ है ।

इसके विपरीत यूनानी लोग लौकिक समस्याओ के प्रति उदासीन नही थे तथा राजनीतिक सस्थाओ के साथ धार्मिक श्रद्धा एवं मान्यताओ को मिश्रित नही करते थे । प्राचीन भारतीय पद्धति मे राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि तथा राजाज्ञा का पालन धार्मिक कर्त्तव्य माना जाता था । यहां तक कि राज्य को कर देना भी एक धार्मिक कर्त्तव्य था । यूनानी दर्शन मे राज्य का दैवीकरण नही किया गया बल्कि उसे एक मानव सस्था के रूप मे ही स्वीकार किया गया । नगर राज्यो की व्यवस्था भी राजदर्शन के विकास मे सहायक हुई । इन छोट राज्यो मे सामान्य प्रश्नो पर एक दूसरे के विचार मालूम करना तथा विचारो का प्रचार करना बहुत सरल था । शासन का कोई गुण या दोष सबकी निगाह से छिपाया नही जा सकता था । राज्य एक मानव संस्था है तथा अन्य किसी मनुष्य की तरह शासक भी गलती कर सकता है । राज्य को कुटुम्ब का विकसित रूप माना गया इसलिये राज्य के आदेश का पालन तथा राज्यनिष्ठा श्रेष्ठ नागरिक गुण माने गये किन्तु शासक के निर्णय मे अधविश्वास कभी उचित नही माना गया । जबकि अधिकाश पूर्वीय विचारक ईश्वर, आत्मा, सत्य, माया और मृत्यु के बाद की अवस्था पर चिंतन कर रहे थे तथा इस जगत को माया मानकर आत्मा के निर्वाण का मार्ग खोज रहे थे, यूनानियो का ध्यान सामाजिक समस्याओ की ओर आकर्षित हुआ । इस जीवन की उपादेयता यही है कि जिस समाज मे हम रहते है उसके प्रति अपने कर्त्तव्य करते रहे । सामाजिक चिंतन के दो निष्कर्ष निकले ।- प्रथम, मनुष्य स्वभाव से

सामाजिक प्राणी है तथा सामाजिक जीवन का आधार नैतिकता है। अतः मनुष्य एक नैतिक प्राणी है तथा किसी भी जीवन की श्रेष्ठता या निम्नता का मूल्याकन नैतिक व्यवहार (Moral behaviour) के आधार पर ही किया जा सकता है। यही कारण है कि यूनानियों की प्रमुख समस्या नैतिक ही है। नैतिक दृष्टिकोण से अच्छा मनुष्य कैसा होना चाहिये या नैतिक सद्गुण (Moral virtues) क्या है; यही यूनानियों की मौलिक समस्या है। समाज दर्शन का दूसरा निष्कर्ष यह था कि समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का स्थान निश्चित है अत हर व्यक्ति को अपना निश्चित कार्य करते रहना चाहिये तथा समाज के लिये प्रत्येक सदस्य का जीवन महत्वपूर्ण है इसलिये किसी सदस्य की अवहेलना नही की जा सकती है। इस विचार ने न्याय की सामाजिक व्याख्या प्रदान की। जो कानून कहता है वही न्याय नही है वल्कि जो समाज के लिये उपयोगी है वही न्याय है। यह विश्वास प्लेटो के न्याय सिद्धात का आधार है और अरस्तू के विचार भी इसी निष्कर्ष को दूसरे रूप मे प्रस्तुत करते है। अरस्तू यह मानकर चलता है कि जो प्राकृतिक है वही न्यायसगत है। यह विचार केवल प्रकृति जगत के अध्ययन पर ही आधारित नही है वल्कि ऊपर दर्शाये गये दोनो निष्कर्पो पर आधारित है। न्याय वही है जो समाज के अनुकूल है और मनुष्य प्रकृति से सामाजिक है इसलिये जो प्राकृतिक या स्वाभाविक है वही न्यायसगत है। यूनानियो के लिये चिन्तन का प्रधान विपय सामाजिक नीतिशास्त्र (Social ethics) ही था तथा अरस्तू से पहले राजनीति का अध्ययन नीतिशास्त्र के ही अतर्गत होता था। नैतिक सद्गुण की खोज करते हुये यूनानी विचार राजनीति के क्षेत्र मे प्रवेश कर गये। यूनान के छोटे नगरराज्यो के निवासियो का जीवन इतना सरल था कि जीवन के सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र की सीमा स्पष्ट नही थी। न तो सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्वो मे अतर किया जा सकता था न गुणो मे। नैतिक सद्गुण की खोज मे पहला निष्कर्प यही निकला कि जो अच्छा नागरिक नही है वह अच्छा व्यक्ति भी नही हो सकता तथा आदर्श नागरिक एक आदर्श राज्य मे ही हो सकता है, अत. अच्छे नागरिक और अच्छे राज्य की खोज शुरू हुई। नगर राज्यो के पारस्परिक सबधो के कारण विभिन्न नगरो मे प्रचलित विभिन्न राजनीतिक व्यवस्था की ओर लोगो का ध्यान आकर्पित हुआ। इन विभिन्न व्यवस्थाओ का तुलनात्मक अध्ययन भी शुरू हुआ। नगर राज्यो मे जिस तीव्र गति मे एकतत्र, कुलीनतत्र, प्रजातत्र और सैनिकतत्र परिवर्तित हुए उनका स्वाभाविक परिणाम राजनीतिक चितन का आरभ ही हो सकता था।

सभी पडोसी जातियो को वर्वर और स्वय को सभ्य मानने वाले यूनानियो मे अपनी विवेकशीलता पर गर्व होना स्वाभाविक था और वे हर समय अपने इस श्रेष्ठ

गुण का परिचय देने के लिये तत्पर होते थे। नगर की शासन प्रणाली किसी भी प्रकार की हो, नागरिक राजनीतिक चर्चा करना राष्ट्रीय गौरव मानते थे तथा नगर के बाजार, मार्ग तथा सार्वजनिक स्थल वाद विवाद के वातावरण से प्रभावित रहते थे। इस वातावरण ने एथेन्स मे साफिस्टवर्ग जो जन्म दिया। ईसा पूर्व पाचवी शताब्दी मे एथेन्स भौतिक और बौद्धिक उन्नति के चरम शिखर पर था। यह नगर यूनानी जगत का व्यापारिक व बौद्धिक केन्द्र बन चुका था। यद्यपि इससे पूर्व होमर, हेसाड के महाकाव्यो मे राजनीतिक सस्थाओ के गुण-दोषो का वर्णन पाया जाता है तथा ज्यामिति-शास्त्र (Geometry) के महान् विद्वान पाइथागोरस (Pythagorus) ने भी महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये है किन्तु वे क्रमबद्ध नही रहे और न ही उनके दार्शनिक आधार स्पष्ट थे। पाइथागोरस ने शासन करना बुद्धिमानवर्ग का विशेपाधिकार माना तथा व्यक्तिगत संपत्ति का विरोध किया। उसका विचार था कि मित्रो की संपत्ति पर सबका समान अधिकार होना चाहिये। पाइथागोरस की वर्ग-व्यवस्था अत्यत महत्वपूर्ण है। उसने समाज मे तीन वर्ग बतलाये—ज्ञानप्रिय (Lovers of Wisdom), मानप्रिय (Lovers of Honour) तथा धनप्रिय (Lovers of Wealth)। यह वर्ग-व्यवस्था प्लेटो की वर्ग-व्यवस्था के संदर्भ मे अत्यंत महत्वपूर्ण है। यूनानी सभ्यता के स्वर्णिम युग मे दो नगरो ने अत्यधिक प्रतिभा प्राप्त की—एथेन्स और स्पार्टा। इनमें से एथेन्स का महत्व और प्रभाव वर्तमान समय तक स्वीकार किया जाता है क्योकि एथेन्स की देन बौद्धिक होने के कारण स्थायी है। ईसा पूर्व ७१३ मे एथेन्स मे राजतंत्र का अंत हो गया और कुलीनतंत्र की स्थापना हुई और ईसा पूर्व ५०८ मे कुलीनतंत्र का स्थान प्रजातंत्र ने ले लिया। इसके विपरीत स्पार्टा एक सैनिकतंत्र था। ईसा पूर्व ४९० मे एथेन्स के इतिहास मे सबसे गौरवशाली घटना हुई। मराथान (Marthon) के युद्ध मे एथेन्सवासियो ने परशिया (Persia) को हरा दिया। यूनानी जगत मे एथेन्स और स्पार्टा प्रतिद्वन्दी बन गये। ४६० ईस्वी पूर्व मे एथेन्स का नेतृत्व पेरिक्लीज (Pericles) के कुशल हाथो मे आया। उसने केवल शासन का ही नेतृत्व नही किया बल्कि सामान्य नागरिको मे राजनीतिक जागृति फैलाने का भी प्रयत्न किया। पेरिक्लीज ने इस बात पर गर्व प्रकट किया कि एथेन्स के निवासी अपने व्यक्तिगत कार्यो से अवकाश निकाल कर सक्रिय राजनीति मे हिस्सा लेते है। उसने कहा, "वह मनुष्य जो सार्वजनिक जीवन मे कोई रुचि नही रखता, उसे हम अनुपयोगी मानते है, और यदि निर्माण करनेवाले व्यक्तियो की संख्या कम है तो नीति का निर्णय करने वाले सभी लोग है।" इस दृष्टिकोण ने जन-साधारण मे राजनीतिक जीवन के प्रति लगन का निर्माण किया तथा एथेन्स के मार्ग व सार्वजनिक स्थल मुक्त विवाद के माध्यम बन गये थे।

किन्तु यह युग एथेन्स के गौरव का अंतिम युग था। ४३१ ईस्वी पूर्व मे स्पार्टा और एथेन्स में युद्ध हुआ, ४२६ मे पेरिक्लीस की मृत्यु हुई और ४०४ मे एथेन्स स्पार्टा से पराजित हो गया। इस सैनिक पराजय ने एथेन्स को एक नया कार्यक्षेत्र प्रदान किया। एथेन्स चिन्तन और अध्ययन का केन्द्र बन गया।

पेरिक्लीज के युग मे ही एथेन्स मे नये मानवीय विषयो (Humanities) का अध्ययन अधिक लोकप्रिय हो गया। सफल राजनीतिक जीवन के लिये सार्वजनिक भाषण देने की क्षमता तथा मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र व राजनीति का ज्ञान होना आवश्यक था। इस युग मे एथेन्स मे नये प्रकार के शिक्षको का प्रादुर्भाव हुआ जिन्हे साफिस्ट (Sophists) कहा जाता है। यद्यपि इस वर्ग के सभी लोगो को साफिस्ट कहा जाता है किन्तु इनका कोई निश्चित दार्शनिक सप्रदाय नही था। इन शिक्षको मे विचारों और मान्यताओ की समानता भी नही थी तथा एक ही व्यक्ति भिन्न स्थानो पर भिन्न मतो का समर्थन कर देता था। इनका उद्देश्य किसी सिद्धांत का प्रचार करना नही था वल्कि ये मूल रूप से पेशेवर शिक्षक (Professional Teachers) थे जो अपनी जीविका कमाने के लिये ही शिक्षण का कार्य करते थे। इनका प्रमुख क्षेत्र था भाषण और सार्वजनिक विवाद की कला का प्रशिक्षण सपन्न युवको को प्रदान करना जो सक्रिय राजनीति मे हिस्सा लेने की इच्छा रखते थे। प्रमुख मार्गो और चौराहो पर यह लोग अपने आस-पास लोगो को एकत्रित लेते थे फिर प्रश्न आमन्त्रित करते थे तथा हर विषय पर प्रश्नो के उत्तर देने के लिये तैयार रहते थे। एक प्रश्न का हर समय वही उत्तर होगा, यह निश्चित नही था। साफिस्टो की इस प्रणाली से ही कुछ सैद्धातिक निष्कर्ष निकलते है जिनका उल्लेख यहा पर करना आवश्यक है। पहला निष्कर्ष यह है कि संपूर्ण ज्ञान संभव है। मनुष्य की बौद्धिक शक्ति सीमित नही है। प्रश्नो के उत्तर सही भले ही न हो उत्तर देने का दावा करके साफिस्ट लोगो ने इस विश्वास के प्रचार मे सहायता दी कि कोई समस्या मानव बुद्धि के वाहर नही है। वाद मे प्लेटो ने इसी दृष्टिकोण का विरोध करते हुए कहा कि समकालीन राज्यो मे ज्ञान के आवरण मे अज्ञान का साम्राज्य फैला हुआ था। साफिस्टो की दूसरी देन यह है कि सत्य हमेशा सापेक्ष (relative) होता है पूर्ण नही। कोई भी विचार,, व्यवहार या नियम हर स्थान पर और हर समय सत्य नही होता; अत सत्य साधन है, साध्य नही। विभिन्न परिस्थितियो मे सत्य, न्याय और औचित्य का निर्णय मनुष्य को आधार मान कर ही किया जा सकता है। "सभी वस्तुओ का माप मनुष्य है।" सत्य और न्याय की सापेक्षता (relativity) मनुष्य के जीवन से है। मनुष्य का अर्थ यहा पर मानव जाति से नही है वल्कि व्यक्ति से है। अतः अलग-अलग समय पर विभिन्न व्यक्तियो के लिये न्याय और सत्य की व्याख्या अलग-अलग होगी।

प्लेटो इसी घोर व्यक्तिवाद का विरोध करना चाहता था, क्योंकि इस व्यक्तिवाद ने मनुष्य को घोर स्वार्थी बना दिया था।

साफिस्ट प्रचार का विरोध करने का उत्तरदायित्व सुकरात (Socrates) ने अपने कंधो पर लिया तथा उसे अच्छी तरह निभाया। ईसा पूर्व ४६६ मे सुकरात का जन्म हुआ और उसने एथेन्स को प्रगति के चरम शिखर पर देखा तथा उसका पतन होते हुए भी देखा। एथेन्स के पतन को रोकने के लिये सुकरात ने एक ओर साफिस्ट प्रचार को रोकना आवश्यक समझा और दूसरी ओर प्रजातन्त्र मे संशोधन का समर्थन किया था। एथेन्स मे राजनीतिक पदो पर नियुक्ति के लिये योग्यता का कोई ध्यान नही रखा जाता था। हर पद के लिये हर नागरिक योग्य समझा जाता था। सुकरात की प्रणाली साफिस्टो के समान ही थी इसलिये प्रारंभ मे उसे भी साफिस्ट समझा जाता था। अपने समर्थको और शिष्यो के साथ नगर के मार्गो पर घूमते रहना तथा किसी भी व्यक्ति को विवाद करने के लिये प्रोत्साहित करना। फिर तीक्ष्ण प्रश्नो के द्वारा यह सिद्ध करना कि उस व्यक्ति के विचार गलत है। सुकरात की प्रणाली नकारात्मक ही रही होगी जैसा कि प्लेटो द्वारा रचित संवादो से प्रतीत होता है। अपने विचारो को व्यक्त करने की अपेक्षा दूसरे के विचार जानना और उनकी असत्यता सिद्ध करना। साफिस्टो की तरह सुकरात किसी प्रकार का शुल्क नही लेता था तथा न इस बात का दावा करता था कि वह सर्वज्ञानी है। उसका मूल उद्देश्य ज्ञान की व्यवसायिकता का ही विरोध करना था।

सुकरात ने आनेवाली पीढ़ियो को तीन प्रकार से प्रभावित किया—अपने जीवन से, विचारो से व मृत्यु से। सुकरात का जीवन आदर्श नागरिक का जीवन था। उसने कभी अपने राजनीतिक दायित्वो से मुंह नही मोड़ा। वह कर्तव्यनिष्ठ नागरिकता की मूर्ति था किन्तु शासन की गलतियों की आलोचना करना भी वह नागरिक का कर्तव्य मानता था और निर्भय होकर शासन की गलतियो का विरोध करता था। सुकरात के विचार हमें लिखित रूप मे उपलब्ध नही है। इनका ज्ञान उसके शिष्यो की रचनाओ से ही होता है। ज्ञान के संबंध मे उसके विचार अत्यंत महत्वपूर्ण है। साफिस्टो की सर्वज्ञता का विरोध करते हुए उसने ज्ञान को जीवन का सर्वश्रेष्ठ सद्गुण माना। वह इस बात को स्वीकार नहीं करता कि पूर्णज्ञान अप्राप्य है किन्तु फिर भी साफिस्टो का विरोध करता है। जिस प्रकार से हर साफिस्ट सर्वज्ञानी होने का दावा करने लगा था उस दावे का विरोध सुकरात करना चाहता था। पूर्ण ज्ञान प्राप्य अवश्य है किन्तु हर व्यक्ति उसे प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरों के बौद्धिक दम्भ को खंडित कर देने के बाद भी सुकरात ने कभी इस बात का दावा नहीं किया कि वह संपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका

है। वह हमेशा यह कहा करता था, "मै कुछ नही जानता, सिवाय इसके कि मै कुछ नही जानता।" सुकरात सत्य की खोज करना चाहता था और इस विश्वास के साथ ही यह खोज शुरू होती है। सत्य की खोज मे किसी प्रकार की पूर्वमान्यताये भ्रमात्मक ही होगी। राजनीति के क्षेत्र मे सुकरात नागरिक कर्तव्यो पर अधिकार की अपेक्षा अधिक जोर देता था। वह व्यक्तिवाद और जनतत्र दोना का विरोधी था। व्यक्ति से समाज का महत्व अधिक है। सुकरात की मृत्यु का प्रभाव भी इन दोनों विचारो के पक्ष मे ही हुआ। उसके विचारो की तीक्ष्णता के कारण उसे मृत्यु दड दिया गया। एथेन्स की जनसभा मे उस पर यह आरोप लगाया गया कि वह नास्तिक है तथा उसके विचारो ने नागरिको को पथभ्रष्ट कर दिया है। सुकरात के अनुयायी यह जानते थे कि यह दोनों आरोप असत्य और निराधार हैं किन्तु जनसभा ने उसे स्वीकार कर लिया। सामान्य नागरिक एक दार्शनिक के साथ कभी न्याय नही कर सकते क्योकि वे उसके विचारो का मूल्याकन करने के योग्य नही है। जनसभा के द्वारा सुकरात को मृत्यु दड दिया गया। इसका पहला प्रभाव यह हुआ कि सुकरात का सबसे अधिक प्रतिभाशाली अनुगामी प्लेटो प्रजातत्र का विरोधी बन गया। जो व्यवस्था समाज के श्रेष्ठतम वर्ग—दार्शनिक तथा उच्चतम नागरिक सुकरात के साथ न्याय नही कर सकी, वह व्यवस्था कभी अच्छी नही हो सकती। इसकी प्रतिक्रिया प्लेटो के विचारो मे दो प्रकार से व्यक्त हुई, न्याय की नई व्याख्या और दार्शनिक राजा का शासन। सुकरात जब जेल मे था तो उसके शुभ-चिन्तको ने उसे जेल से भगाने की योजना बनाई किन्तु सुकरात ने इसे स्वीकार नही किया। अपने मित्रो को जो उत्तर उसने दिया वह उसके दर्शन का अत्यत महत्वपूर्ण अग है, "यह सच है कि कानून ने मुझे क्षति पहुँचाई है। पर मै केवल एक व्यक्ति हूँ, इसलिये अनुचित दड का प्रभाव केवल मुझ पर पड़ रहा है। यदि मै कारागार से भागूगा तो कानून और एथेन्स दोनो को क्षति पहुँचेगी। यह अपराध अक्षम्य होगा।" वह विचार एक ओर नागरिक उत्तरदायित्वो की गौरवपूर्ण व्याख्या करते है तो दूसरी ओर व्यक्ति के विरुद्ध समष्टि का समर्थन करते है। प्रचलित व्यक्तिवाद पर इससे बड़ा आघात नहीं हो सकता था। अत मे सुकरात ने एथेन्स की जनसभा के सामने बिना भय या दुःख के विष का प्याला पीकर यह सिद्ध कर दिया कि सत्य के पुजारी को न किसी बात का भय था न दु.ख तथा सपूर्ण मानव जाति को यह सबक सिखाया कि विचारो की स्वतंत्र अभि-व्यक्ति पर प्रतिबंध लगाना उचित नही है।

—:o:—

अध्याय २

प्लेटो

(४२७ ई०पू० से ३४७ ई०पू०)

(Plato : 427 B.C. to 347 B.C.)

पाश्चात्य राजदर्शन के इतिहास मे प्लेटो ही सबमे पहला दार्शनिक है। प्लेटो से पहले राजनीतिक चिन्तन व्यवस्थित नही था। यूनान मे सभी विषयों के ज्ञान का विकास बहुत अधिक हुआ। गणित, तर्कशास्त्र, दर्शन, नक्षत्रज्ञान जैसे जटिल विषयों का यूनानियो को व्यापक ज्ञान था किन्तु मानव समस्याओ की ओर चिंतनधारा मोड़ने का श्रेय साफिस्टो को है। साफिस्टो ने एथेन्स का बौद्धिक वातावरण विचलित कर दिया था तथा आनेवाले वर्षो ने राजनीतिक वातावरण मे उथल-पुथल ला दी। ४०४ ईस्वी पूर्व मे पेलोयोनेसिया युद्ध मे एथेन्स की पराजय तथा सुकरात की मृत्यु ने एथेन्सवासियो का गर्व खंडित किया तथा राजनीतिक सस्थाओ पर पुनर्विचार करने के लिये वाध्य किया। पेरिक्लीज की मृत्यु के वाद शताब्दी का चतुर्थांश भी नही वीता था और गौरवमय प्रजातंत्र धूल धूसरित हो गया। प्लेटो ने एथेन्स मे सद्गुणो का क्रमिक ह्रास होते देखा और सुकरात मे सद्गुणो की हत्या होते देखी। पराजय के वाद एथेन्स का राजनीतिक गौरव समाप्त हो गया किन्तु यूनानी जगत मे उसे एक नया महत्व प्राप्त हुआ। इस समय तक एथेन्स भूमध्यसागरीय क्षेत्र मे शिक्षा का केन्द्र वन चुका था। अन्य राज्यों के कई लोग एथेन्स मे व्यापार करने और शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। एथेन्स का यह महत्व बढता गया और यूनानी सभ्यता के पतन के वाद भी एथेन्स अध्ययन का केन्द्र वना रहा। प्लेटो की अकादमी और अरस्तू के लाइसियम ने दूर-दूर से छात्रो को आकर्षित किया और इन दार्शनिको के वाद भी लोग ज्ञान प्राप्त करने एथेन्स मे आते रहे।

प्लेटो का जन्म एथेन्स मे ४२७ ईस्वी पूर्व के लगभग हुआ था। उसका परिवार संपन्न और नगर की राजनीति मे महत्वपूर्ण था। कई लेखको का यह विचार है कि प्रजातंत्र के प्रति अविश्वास का मूल कारण प्लेटो का पारिवारिक वातावरण तथा आभिजात्य पैतृकता है। किन्तु अधिकाश लेखक इस विचार से सहमत नहीं है वल्कि यह मानता है कि प्रजातत्र के प्रति प्लेटो की घृणा का मूल कारण प्रजातंत्र

में सुकरात के साथ किया गया अन्याय है। प्लेटो के सिद्धांत में मानवीय समानता को स्वीकार नही किया बल्कि अल्पमत की श्रेष्ठता को ही मान्यता दी गई है। किन्तु अरस्तू, जो किसी कुलीन परिवार से सम्बन्धित नही था, वह भी प्रजातंत्र का उतना ही तीव्र विरोधी है। इसके अतिरिक्त जन्म या कुल की श्रेष्ठता की अपेक्षा प्लेटो ने बुद्धि और विवेक की श्रेष्ठता का समर्थन किया है जबकि यह स्वीकार किया गया है कि कुल और जन्म से बौद्धिक क्षमता का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता।

प्लेटो का ध्येय मूल रूप से सक्रिय राजनीति मे हिस्सा लेना था। कुशल राजनीतिज्ञ बनने के लिये राजनीति का सैद्धातिक ज्ञान तथा सार्वजनिक वक्तृता (Public speaking) का अभ्यास होना आवश्यक था। यह दोनो गुण प्राप्त करने के लिए प्लेटो सुकरात के दल मे शामिल हुआ। सुकरात से ही उसने अपने दार्शनिक आधार प्राप्त किये। 'ज्ञान ही सर्वोच्च सद्‌गुण है' इस विचार को प्लेटो ने पूर्णरूप से स्वीकार किया तथा ज्ञान की श्रेष्ठता दर्शाने के लिये दार्शनिक शासक की कल्पना की। सुकरात की मृत्यु ने प्लेटो के जीवन की धारा बदल दी। राजनीतिक जीवन के प्रति उत्साही युवक ने जब यह देखा कि राजनीति मे सुकरात जैसे बुद्धिमान, गुणवान और निष्ठावान नागरिक को विषपान का दड दिया जा सकता है तो उसने अपना मार्ग बदल दिया। यह अन्याय सुकरात के प्रति नही बल्कि विवेक के प्रति था, दर्शन के प्रति था और दार्शनिको के पास इतनी शक्ति नही थी कि वे मूर्तिमान दर्शन को अन्याय से बचा सके, अत. प्लेटो ने ऐसे राज्य की कल्पना की जिसमे विवेक ही सत्ताधारी हो जहा दार्शनिक ही सर्वश्रेष्ठ और शक्तिमान हो। न्याय और राज्य की नई कल्पना करना आवश्यक था। प्लेटो ने एक नया जीवन आरभ किया —दार्शनिक का जीवन। प्लेटो ने स्वय अपने एक पत्र मे लिखा है, "परिणाम यह हुआ कि मैं, जो प्रारभ मे राजनीतिक जीवन के लिये व्यग्र था. .... अंत मे निराश हुआ ....और मैंने यह देखा कि सारी समकालीन सरकारे दोषपूर्ण है" तथा "मानव जाति उस समय तक शुभ दिन न देखेगी जब तक कि जो लोग सही रूप से दर्शन का पालन करते है राजनीतिक शक्ति हस्तगत कर लें, या फिर जिस वर्ग के पास राजनीतिक शक्ति है किसी दैवी शक्ति के द्वारा दार्शनिक बना दिया जाय।" सुकरात की मृत्यु के बाद प्लेटो विदेश भ्रमण के लिये निकल गया। भूमध्यसागर के आसपास के अधिकाश राज्यो का भ्रमण तथा वहा की राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था का अवलोकन उसने किया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसी समय प्लेटो मिश्र (Egypt) भी गया तथा वहा से श्रम विभाजन व रेखागणित का प्रभाव लेकर लौटा। यहां पर यह बात स्मरणीय है कि यूनान मे भी रेखागणित (Geometry) का ज्ञान बहुत विकसित हो चुका था और प्लेटो से पहले

पाइथागोरस ने इस विषय के विकास मे महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। इस भ्रमण मे प्लेटो का दार्शनिक मस्तिष्क व्यावहारिक ज्ञान मे भी सुसज्जित हो गया और उसने अपना नया जीवन एक दार्शनिक और शिक्षक के रूप मे शुरू किया। ईस्वी पूर्व ३८६ के लगभग उसने अपनी अकादमी की स्थापना की जिसे पाश्चात्य जगत का सर्वप्रथम विश्व-विद्यालय कहा जा सकता है। इस विद्यालय मे कई राज्यो से विभिन्न विषयो का अध्ययन करने वाले छात्र आते थे। अकादमी के कार्यक्रम मे इस बात की पुष्टि होती है कि प्लेटो ऐसी शिक्षा देना चाहता था जिसमे विद्यार्थी कुशल और बुद्धिमान नागरिक बन सके। शिक्षा का मूल उद्देश्य था विद्यार्थी को यथार्थ ज्ञान प्रदान करना। यथार्थ ज्ञान के प्रकाश मे ही व्यक्ति उचित और अनुचित मे अतर कर सकता है तथा सही मार्ग का चुनाव कर सकता है। इस विद्यालय के कार्यक्रम मे गणित (विशेष रूप से रेखागणित) का महत्व बहुत अधिक था। प्लेटो रेखागणित को ज्ञान का आधार मानता था क्योंकि अकादमी के प्रवेश द्वार पर यह शब्द लिखे थे, 'कोई भी रेखागणित से अनभिज्ञ व्यक्ति प्रवेश न करे।''

यह विश्वास किया जाता है कि प्लेटो की सभी सैद्धातिक रचनाये अकादमी के जीवन की देन है। राजनीति मे प्लेटो की तीन रचनाये महत्वपूर्ण है – रिपब्लिक (The Republic), स्टेट्समैन (The Statesman) और लॉज (The Laws)। प्लेटो की सभी रचनाये सवाद प्रणाली (Dialogue method) मे है। नाटक की तरह अनेक पात्र है जो पारस्परिक सवादो मे सिद्धातो का खडन और स्थापना करते है। तार्किक दृष्टिकोण से प्लेटो ने नकारात्मक प्रणाली का प्रयोग किया है। अपने विचार प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त नही किये गये किन्तु प्रचलित विचारो का खडन किया गया और जिन तर्कों से खडन किया गया उन्ही तर्कों में नये विचारो का निर्माण भी किया गया। विचार केवल इसलिए प्रेषित किया जाता है कि उसका खडन किया जाय और अत मे भ्रम का निवारण करके सत्य की स्थापना की जाय। एक मत दूसरे को निगल जाता है और अत मे केवल सत्य ही जीवित रहता है। न्याय की व्याख्या मे इस प्रणाली का उपयोग उल्लेखनीय सफलता के साथ हुआ है। सुकरात के जिस प्रकार से मौखिक प्रश्नों के द्वारा विचारो की असत्यता सिद्ध करने का प्रयत्न करता था उसी प्रणाली को प्लेटो ने लिखित पुस्तको मे भी अपनाया। सभी सवादो के पात्र जीवित व्यक्ति है तथा मुख्य पात्र सुकरात है। जिन विचारो का खडन किया गया है पहले उनके प्रचारको के द्वारा उस विचार को व्यक्त कराया गया है फिर मुख्य पात्र सुकरात अनेक प्रश्नो और शंकाओ के द्वारा उस विचार की असत्यता सिद्ध करता है। इस प्रणाली के द्वारा प्रत्येक विचार को अतिरिक्त बल प्राप्त होता है क्योंकि तुलनात्मक रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि

अन्य विचार गलत है। प्रकृति और जीवशास्त्र के उदाहरण और उपमाएँ भी प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है। रिपब्लिक प्लेटो का पहला महान् ग्रन्थ है। (इसके पहले कुछ छोटी और कम महत्वपूर्ण रचनाये निर्मित हो चुकी थी।) रिपब्लिक मे प्लेटो के प्रारम्भिक विचारो की अपूर्णता व युवा कल्पना के उत्साह का प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलता है। कल्पना की उड़ान मे प्लेटो ने अपने विचारों की व्यावहारिकता को भुला दिया। स्टेट्समेन तुलनात्मक रूप से कम महत्वपूर्ण है। यह राजनीतिक परिभाषाओ का सकलन है। लॉज प्लेटो की अन्तिम रचना है जिसे वह अपूर्ण ही छोड गया। यह प्रौढ, परिपक्व व अनुभवी मस्तिष्क की कृति है तथा रिपब्लिक के अनेक विचारो मे या तो परिवर्तन कर दिया गया या सशोधन। आयु बढने के साथ यौवन की कल्पना का उत्साह भी कम होता गया और व्यावहारिक अनुभवो ने भी विचारो मे परिवर्तन करना आवश्यक बना दिया। यह जानते हुए भी कि रिपब्लिक का आदर्श कल्पना मे बनाया गया है प्लेटो को यह विश्वास था कि उचित सुविधाये मिलने पर इस कल्पना को व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है। ३६७ ईस्वी पूर्व मे वह साइराक्यूज (Syracuse) के युवा उत्तराधिकारी डायोनीसियस (Dionysius) द्वितीय को शिक्षा प्रदान करने के लिये आमन्त्रित किया गया। शासक को दार्शनिक बनाने के इस अवसर का प्लेटो ने लाभ उठाना चाहा। इस उद्देश्य मे असफलता और निराशा मिलने पर उसे रिपब्लिक का आदर्श त्यागना पडा। प्लेटो का सपूर्ण दर्शन इन तीन पुस्तको मे ही सम्मिलित नहीं माना जा सकता है। वह निश्चित है कि शिक्षक होने के नाते उसके विचारो की व्यापक व्याख्या अकादमी मे दिये गये व्याख्यानो मे हुई होगी। दुर्भाग्यवश हमे प्लेटो के इन व्याख्यानो का कोई अश प्राप्त नहीं हो सका फिर भी इन तीन ग्रन्थो मे जो सामग्री मिलती है वह उसके दर्शन को समझने के लिये पर्याप्त है।

प्लेटो के सपूर्ण दर्शन का आरभस्थल और सभी विचारो का केन्द्र रिपब्लिक ही है। जावेट (Benjamin Jowett) ने भी रिपब्लिक को प्लेटो की सर्वश्रेष्ठ रचना बतलाया तथा यह कहा कि यह महान् ग्रन्थ अन्य सभी सवादो का केन्द्र है। रिपब्लिक एक जटिल, व्यापक और कल्पना-प्रधान ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का क्षेत्र इतना विशाल है कि निश्चित शब्दो मे इस ग्रन्थ का विषय नही बतलाया जा सकता है। जार्ज सेबाइन लिखते है कि "रिपब्लिक एक ऐसी पुस्तक है जो वर्गीकरण को चुनौती देती है। इसे आधुनिक सामाजिक अध्ययन या आधुनिक विज्ञान के किसी वर्ग मे नही रखा जा सकता।" विषय की व्यापकता ने इस ग्रन्थ को अपने आप मे ही एक वर्ग बना दिया है। प्लेटो ने इस पुस्तक को दो नाम दिये रिपब्लिक (राज्य), या न्याय सबधी किन्तु इसका क्षेत्र न तो राजनीति है न विधिशास्त्र। सामाजिक जीवन के हर-एक पहलू पर

प्लेटो के विचार इस पुस्तक मे पाये जाते है। नैतिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक, दार्शनिक व शिक्षा सबंधी सभी समस्याओं का वर्णन इस पुस्तक मे विस्तृत रूप से पाया जाता है। किसी एक समस्या का चित्रण हमे यह भुला देता है कि पुस्तक मे दूसरे विषयो का भी उल्लेख है। रूसो भी इस प्रभाव से नही बच सका। वह इसे "शिक्षा पर अभी तक लिखा गया सर्वोत्तम ग्रन्थ" मानता है। प्लेटो की बहुमुखी प्रतिभा का वर्णन सर अर्नेस्ट बार्कर (Sir E. Barkar) ने इस प्रकार किया है, "रिपब्लिक केवल राजनीति या विधिशास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ नही है बल्कि सपूर्ण मानव दर्शन पर एक प्रयास है।" विल डूरां (Will Durant) ने रिपब्लिक की प्रशसा इन शब्दो मे की है, "प्रबुद्ध वर्ग के लिये एक विशाल भोज जो एक उदार हृदय व्यक्ति प्र तुत करता है।" इमरसन (Emerson) ने तो यहा तक कह दिया कि "प्लेटो दर्शन है और दर्शन प्लेटो"। उसने रिपब्लिक के बारे मे वह कथन प्रस्तुत किया है जो उमर ने कुरान के संदर्भ मे कहा था—"ग्रन्थालयो को जला दो क्योकि उनका मूल्य इस पुस्तक मे है।" इन प्रशसाओ मे अतिशयोक्ति अवश्य है किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि रिपब्लिक का विषय क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। प्लेटो ने शायद समकालीन जीवन की किसी समस्या को नही छोडा।

प्लेटो का प्रमुख उद्देश्य साफिस्टो के बौद्धिक अह और प्रचलित व्यक्तिवाद का खडन करना है। जो कार्य सुकरात अधूरा छोड़ गया था उसे प्लेटो पूर्ण करना चाहता था। प्लेटो ने समकालीन राज्यो मे दो कमजोरियाँ दर्शायी—अज्ञान और स्वार्थ। सुकरात से प्रभावित होने के कारण प्लेटो भी यह मानता है कि मानव चरित्र की सभी कमजोरियाँ ज्ञान की कमी के कारण है। ज्ञानहीन मनुष्य अच्छाई और बुराई मे अंतर नहीं कर सकता इसलिये हमेशा बुराइयो से बचकर चलना उसके लिये सभव नही रहता। इसी प्रकार जो समाज ज्ञानी पुरुषों के द्वारा निर्देशित नही है वह भी सही रास्ते पर नही है। राजनीतिक स्वार्थो ने यूनानी नगरो को विभाजित और शक्तिहीन बना दिया था। प्लेटो इन कमजोरियो की विषद व्याख्या करता है किन्तु इसके निवारण के उपाय नही दर्शाता बल्कि आदर्श के जाल मे फँस जाता है। कमजोरियो को दूर करने के उपाय न बतलाकर वह ऐसे आदर्श की कल्पना करने लगता है जिसमे ऐसी कमजोरियां न हो। यूनान के पतनशील राज्यो को ऊपर उठाने की अपेक्षा उसने नये राज्य की कल्पना की। रोगी का इलाज करने की अपेक्षा स्वस्थ शरीर की कल्पना करना अधिक अच्छा समझा। इस कारण से उसके विचार व्यावहारिकता से क्रमश: दूर होते गये। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि प्लेटो की कल्पना मे इतना वजन है कि दो हजार वर्ष बाद भी उसके विचारो का प्रभाव बना हुआ है।

न्याय सिद्धान्त (Theory of Justice)—रिपब्लिक का दूसरा नाम न्याय सम्बन्धी (Concerning Justice) है। इस ग्रन्थ की प्रधान समस्या न्याय की व्याख्या सही करना ही है। पुस्तक के आरम्भ मे ही न्याय की उचित परिभाषा का प्रश्न प्रस्तुत किया गया है तथा इसका उत्तर पुस्तक के अन्त में ही होता है। पुस्तक मे लिखित सारे दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक व अन्य विचार न्याय को स्पष्ट करने के माध्यम है। साफिस्टो की शिक्षा और सामान्य अज्ञान के कारण न्याय की अनेक अनुचित परिभाषाये प्रचलित हो गई थी। अपनी सुविधा के अनुसार लोग न्याय की व्याख्या करते थे जिसके कारण सामाजिक व्यवस्था क्षीण होती जा रही थी। प्लेटो ने न्याय की वैधानिक या राजनीतिक व्याख्या नही की वल्कि सामाजिक व्याख्या की है। समाज के हित मे न्याय क्या है? किस सिद्धान्त के पालन से समाज के पवित्र बन्धनो को सुरक्षित रखते हुए व्यक्ति की उन्नति हो सकती है? समाज मे रहते हुए हर मनुष्य को वह कर्त्तव्य पूरा करना चाहिये जो समाज के सदस्य के नाते उसे सौपा गया है। न्याय वह गुण है जो समाज को संगठित रखता है। न्याय केवल व्यक्ति का ही नही वल्कि समष्टि का भी आवश्यक गुण है। सामाजिक सम्बन्धो की सरलता को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति अपना कार्य स्वयं की प्रेरणा से करे तथा एक दूसरे के कार्य मे किसी प्रकार की बाधा प्रस्तुत न करे। अत. न्याय की मूल समस्या यह है कि समाज मे व समाज के लिये न्यायसंगत क्या है? न्याय की परिभाषा प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करने के वजाय प्लेटो ने निषेधात्मक प्रणाली का सहारा लेकर पहले प्रचलित परिभाषाओ का खंडन किया है।

न्याय का अध्ययन परम्परावादी व्याख्या से शुरू होता है। रिपब्लिक का आरंभिक दृश्य सेफालस के घर से शुरू होता है जहा न्याय की परिभाषा देने की समस्या बात-चीत के बीच उत्पन्न हो जाती है। वृद्ध सेफालस (Cephalus) न्याय के परम्परावादी सिद्धात (Traditionalism) का समर्थन करता है। सामाजिक परम्पराओं में जो नैतिक नियम स्थापित हो गये है वही न्याय का आधार है। स्पष्टत. 'सत्य बोलना और अपना ऋण चुकाना ही न्याय है।' कुछ समय के वाद सेफालस का स्थान उसका पुत्र पालीमार्कस (Polemarchus) ले लेता है। वह सुकरात के प्रश्नो का उत्तर देते हुए यह स्वीकार करने के लिये वाध्य हो जाता है कि हर व्यक्ति को उसका उचित हिस्सा देना ही न्याय है। इस कथन के स्पष्टीकरण मे पालीमार्कस यह स्वीकार कर लेता है कि 'मित्रो के प्रति अच्छा और शत्रु के प्रति बुरा व्यवहार' करना ही न्याय है। यहा प्लेटो को परम्परावाद का खंडन करने का अवसर मिल जाता है। इस व्याख्या का अर्थ वह हुआ कि न्याय एक कला है जिसे अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

कला एक ऐसी क्षमता है जिसका प्रयोग अच्छी और बुरी दोनों दिशाओं में हो सकता है। प्लेटो चिकित्सा का उदाहरण देता है। चिकित्सा एक कला है क्योंकि उसमें रोग को कम करने और बढ़ाने की शक्ति होती है। इस अर्थ में न्याय को कला नहीं माना जा सकता क्योंकि न्याय केवल अच्छाई की दिशा में ही कार्य करता है। अभ्यास से न्याय प्राप्त नहीं किया जा सकता बल्कि वह आत्मा का जन्मजात गुण है जिसे अलग नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त मित्र के साथ अच्छा और शत्रु के साथ बुरा व्यवहार करने का विचार भी अनुचित है। मित्र और शत्रु का भेद करना हमेशा सरल नहीं होता, जिसे हम आज शत्रु समझते हैं वह कल मित्र निकल सकता है। ऐसी स्थिति में हमें उस व्यक्ति के प्रति अपना व्यवहार बदलना पड़ेगा। किन्तु न्याय एक स्थायी वस्तु है जिसमें अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जब हम शत्रु के प्रति बुरा व्यवहार करते हैं और बाद में वह मित्र निकलता है तो हमें अपने पुराने आचरण पर पश्चाताप होता है। इस कारण से भी यह परिभाषा गलत है क्योंकि न्यायपूर्ण व्यवहार के कारण कभी स्वयं को खेद नहीं होना चाहिये। प्लेटो की दूसरी आपत्ति यह है कि मित्रों के साथ अच्छा व्यवहार करने की बात तो उचित है किन्तु शत्रु के साथ बुरा व्यवहार करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। जो व्यक्ति वैमनस्यता की भावना रखता है वह पहले ही पतित है और उसके प्रति बुरा व्यवहार करना उसे और भी नीचे गिराना होगा। न्याय की ऐसी परिभाषा किसी हालत में मान्य नहीं हो सकती। प्लेटो कहता है कि ऐसी परिभाषा किसी अत्याचारी या निरंकुश शासक ने ही बनाई होगी। न्याय कला नहीं है क्योंकि अनुभव और अभ्यास से न्याय प्राप्त नहीं होता। परम्परा केवल पीढ़ियों की संकलित अनुभूति है। यह परिभाषा केवल दो व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों पर आधारित है जब कि प्लेटो व्यक्ति और समाज के संबंध के उचित सिद्धांत को ही न्याय मानता है।

इस स्थान पर थ्रेसीमेकस (Thrasymachus) न्याय की उग्रवादी (Radical) परिभाषा प्रस्तुत करता है। समाज में जो शक्तिशाली है उसके हितों के अनुकूल और प्रतिकूल ही उचित और अनुचित का निर्णय हो सकता है। यह सिद्धान्त प्रकृति के नियम पर आधारित है। जिस प्रकार प्रकृति में उसी का अस्तित्व रह सकता है जो शक्तिशाली है उसी प्रकार समाज में भी कमजोरों का अस्तित्व इसी पर निर्भर है कि वे शक्तिशाली व्यक्ति के हितों के विरुद्ध न जायं और उनके क्रोध का भाजन न बनें। विवाद के समय इस सिद्धान्त के दो निष्कर्ष निकलते हैं। राज्य के नियम हमेशा शासक के हित में ही होते हैं क्योंकि राज्य में शासक ही सबसे शक्तिशाली है। नागरिक के लिये शासक के हितों की पूर्ति करना ही न्याय है। दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि शासक और

शसित के लिए न्याय अलग-अलग है। शासक के लिये अपने हितो मे कार्य करना न्याय-सगत है किन्तु प्रजा के लिये शासक के हितो मे ही कार्य करना न्याय संगत हे तथा अपने हितो मे कार्य करना न्याय सगत नही है। नागरिक के लिये अपने हितो मे कार्य करना अन्याय है शासक के लिये नही। सामान्य रूप से हर व्यक्ति के लिये अपने विकास के लिये कार्य करना ही बुद्धिमानी है। इसका अर्थ यह हुआ कि न्याय के विरुद्ध कार्य करना ही बुद्धिमानी है। यह तो अवसरवाद की पृष्ठभूमि है। जहाँ बन्धन है वहाँ न्याय के अनुकूल और जहा हो सके न्याय के प्रतिकूल कार्य करना ही बुद्धिमानी होगा। इस सिद्धान्त के प्रथम निष्कर्ष के विरुद्ध प्लेटो ने शासन सम्बन्धी सुकरात के विचार प्रस्तुत किये है। शासन एक कला है। और प्रत्येक कला उस वस्तु के उत्थान के लिये होती है जिससे उसका सम्बन्ध होता है। प्लेटो दो उदाहरण प्रस्तुत करता है—चिकित्सक की कला का ध्येय यही है कि वह रोगी को लाभ पहुँचाये तथा शिक्षक की कला विद्यार्थी की उन्नति मे ही है। कला कभी स्वयं कलाकार के लिये नही होती इसीलिये शासन भी शासक के स्वार्थ मे नही बल्कि शासितो के हित मे होना चाहिये। आगे चलकर हम देखेगे कि प्लेटो ने स्वार्थी शासन का कितना तीव्र विरोध किया है। द्वितीय निष्कर्ष के विरुद्ध प्लेटो ने यह तर्क पेश किया कि न्यायप्रिय व्यक्ति हमेशा अधिक बुद्धिमान, शक्तिशाली और सुखी होता है। बुद्धिमान इसलिये होता है क्योकि वह अपनी सीमा को जानता है। वह उद्देश्यहीन प्रतिस्पर्धा मे अपनी शक्ति नही खोता बल्कि अपनी सीमा मे अपने विकास के लिये प्रयत्न करता है। शक्तिशाली इसलिये है कि वह सबके साथ मिलकर कार्य करता है अत. उसके साथ सगठन की शक्ति होती है। अधिक सुखी इसलिये है कि व्यर्थ की प्रतिस्पर्धा का असतोष उसे नही होता। वह दूसरो के कार्यो मे न तो हस्तक्षेप करता है न उनकी उन्नति देखकर दुखी होता है। इस आलोचना मे प्लेटो अहस्तक्षेप की पृष्ठभूमि तैयार कर रहा है। यह सिद्धान्त शासक और प्रजा के लिये न्याय के अलग-अलग मापदंड स्वीकार करता है जब कि प्लेटो कहता है कि न्याय सब के लिये एक समान होता है। समय या व्यक्ति के साथ न्याय के स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही होता।

इसके उपरान्त ग्लाउकन (Glaucon) न्याय की तीसरी परिभाषा प्रस्तुत करता है जो कार्यसाधक सिद्धात (Pragmatism) पर आधारित है। वह सिद्धात उग्रवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। न्याय को कमजोर का हित माना गया। न्याय प्राकृतिक वस्तु नही है बल्कि पारस्परिक समझौते पर निर्भर है। इस व्याख्या मे सामाजिक समझौते का उल्लेख मिलता है। पूर्व राजनीतिक अवस्था का वर्णन करते हुए ग्लाउकन कहता है कि लोग अपने से कमजोर व्यक्तियो पर अन्याय करते थे और शक्तिशाली

व्यक्ति का अन्याय सहते थे। इस अवस्था के तीन परिणाम होते हैं। (१) कमजोर व्यक्ति इस बात का आभास करते है कि उन्हे अन्याय अधिक सहना पड़ता है और वे स्वयं अन्याय करने की स्थिति मे नही है इसलिये वे एक समझौता करते है कि न कोई अन्याय करे और न किसी को अन्याय सहन करना पड़े। (२) इसी संविदा के अनुरूप विधि का निर्माण करते है जो आचरण का मापदंड भी है और न्याय का आधार भी। (३) व्यक्ति स्वार्थो को त्यागकर विधि का पालन करने लगता है। यह सिद्धात यह दर्शाता है कि न्याय भय की उत्पत्ति है। न्याय एक ऐसे समझौते का परिणाम है जो कमजोरो की सुरक्षा के लिये किया गया। इस सिद्धांत के विरुद्ध प्लेटो ने वही आरोप लगाये है जो सामान्य रूप से तीनो सिद्धातो के विरुद्ध लगाये जा सकते है। यह तीनो सिद्धात न्याय को एक वाह्य वस्तु मानते है, एक कला मानते है जिसे अभ्यास से प्राप्त किया जा सकता है। प्लेटो कहता है कि इन तीनो सिद्धातो ने न्याय की खोज सही स्थान पर नही की। ये सिद्धांत मनुष्य के वाह्य आचरण मे न्याय को खोजने का प्रयत्न करते है। न्याय का निवास मनुष्य की आत्मा मे है, न्याय आत्मा की सही अवस्था का ही दूसरा नाम है। न्याय के अनुरूप कार्य करने मे ही आत्मा की सही अभिव्यक्ति है। न्याय कोई वाह्य शक्ति या क्षमता नही है बल्कि वह एक आतरिक गुण है; आत्मा का जन्मजात गुण है जो आत्मा के साथ ही जन्म लेता है और आत्मा के साथ ही जीवित रहता है। न्याय का सही रूप जानने के लिये आत्मा का अध्ययन करना होगा। प्लेटो आत्मा के चार गुण बतलाता है— न्याय, ज्ञान, साहस और संयम।

इस अवस्था पर पहुँच कर न्याय की व्याख्या का प्रश्न फिर स्थगित कर दिया जाता है। न्याय आत्मा का गुण अवश्य है किन्तु इस रूप मे उसका अध्ययन नही किया जा सकता क्योकि आत्मा अत्यंत सूक्ष्म तत्व है जिसका अध्ययन सरलता से नही किया जा सकता। प्लेटो आत्मा और राज्य मे समानता स्थापित करता है। राज्य मानव मस्तिष्क की उत्पत्ति है, एक मानसिक सगठन है। मानव शरीरो के एकत्रित हो जाने मात्र से राज्य नही बन जाता बल्कि राज्य बनाने के लिये नागरिकों मे विचारो और मान्यताओ का साम्य होना आवश्यक है। मानसिक सगठन होने के नाते राज्य और मस्तिष्क मे समानता होना आवश्यक है। मानव आत्मा के सभी गुण राज्य मे भी पाये जाते है क्योकि राज्य आत्मा का ही विशाल रूप है। प्लेटो कहता है कि राज्य और आत्मा एक ही पुस्तक के दो संस्करण है–एक बृहद् और दूसरा सूक्ष्म। बृहद् संस्करण का अध्ययन हम बिना किसी यंत्र की सहायता से कर सकते हैं और उसके हर अंग का व्यापक अध्ययन कर सकते हैं; किन्तु सूक्ष्म

सस्करण का अध्ययन दूरवीन की सहायता के विना नही हो सकता। न्याय का उचित रूप जानने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसका अध्ययन वृहद् सस्करण मे करें क्योकि आत्मा मे न्याय अत्यत सूक्ष्म रूप मे मिलेगा और राज्य मे व्यापक रूप मे। एक वार फिर न्याय की व्याख्या का प्रश्न स्थगित कर दिया जाता है क्योंकि न्याय का अध्ययन हर किसी राज्य मे नही कर सकते। विकृत राज्य मे न्याय का रूप भी विकृत होगा। न्याय का शुद्ध रूप आदर्श राज्य मे ही मिल सकता है। यहां आदर्श राज्य का चित्रण शुरू हो जाता है और पाठक यह भूल जाता है कि रिपब्लिक की मूल समस्या क्या है। आत्मा के अनुकूल राज्य मे भी चार तत्व होते है। न्याय को छोड़ शेष तीन तत्व राज्य के तीन वर्गो के रूप मे वतलाये गये है। ज्ञान (Wisdom) शासक का गुण है, साहस (Courage) सैनिको मे पाया जाता है और संयम (Temperance) विशेष रूप से उत्पादको (कृपको) मे तथा सामान्य रूप मे तीनो वर्गो मे पाया जाता है। तीन वर्गों के जीवन और उनके कार्यो का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि ये तीन गुण क्या है। जो बच रहता है वह न्याय है। (इस पद्धति को अवशेषी पद्धति कहते है।) इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्लेटो कहता है कि इन तीन वर्गो के वीच मधुर सबध बनाये रखना ही न्याय है। वर्गो के पारस्परिक सबधो मे माधुर्य प्राप्त करने के लिये प्लेटो ने अर्थ-शास्त्र के श्रम विभाजन के सिद्धात का सहारा लिया। मधुर सवध वनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति अपना ही कार्य करे और दूसरे के कार्य मे हस्तक्षेप न करे। न्याय के दो आधार हमारे सामने आते है। विशेषज्ञता (Speciallization) और अहस्तक्षेप (Non-Interference)। इस व्याख्या के द्वारा प्लेटो साफिस्ट प्रभाव को विल्कुल समाप्त कर देना चाहता है। साफिस्टो के विरुद्ध वह सिद्ध कर देता है कि हर व्यक्ति हर कार्य नही कर सकता बल्कि वह किसी विशेष कार्य के लिये बना है। समाज मे सबका स्थान निश्चित है और हमे उसी सीमा मे अधिक से अधिक विकास करना चाहिये। प्रचलित व्यक्तिवाद का भी खंडन इस व्याख्या से हो जाता है। व्यक्ति समाज का अग है, उससे अलग नही। न्याय केवल व्यक्ति के लिये ही नही है बल्कि समाज के लिये भी है तथा व्यक्ति को ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिये जो समाज के प्रति अन्याय हो। विशेषज्ञता और अहस्तक्षेप के दोनो आधार स्वीकार कर लेने से हर व्यक्ति समाज के विकास मे स्वयं अधिक से अधिक योग देता है और दूसरो को योग देने का पूर्ण अवसर देता है। प्लेटो कहता है कि हर व्यक्ति की क्षमताएं विशेष प्रकार की होती है इसलिये यह आवश्यक है कि वह उसी कार्य को करे जो उसकी क्षमताओ के अनुकूल है। जीवन के साधारण क्षेत्र मे हम विशेषज्ञता को वहुत महत्व देते है।

२

अच्छा कपड़ा बनाने के लिये यदि यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति कपड़ा ही बनाता रहे तो अच्छे सैनिक या शासक बनने के लिये वह और भी आवश्यक हो जाता है। अहस्तक्षेप विभिन्न वर्गो के बीच मधुर संबंध बनाये रखने के लिये बहुत उपयोगी है। एक कृषक या सैनिक यदि शासक बनने की इच्छा न रखे, सैनिक या शासक यदि सपत्ति और उत्पादन मे अनधिकार चेष्टा न करे तो समाज मे अशांति की संभावना न्यूनतम हो जाती है। प्लेटो यह दर्शाता है कि दूसरे वर्ग के कार्यो मे हस्तक्षेप करके हम अपनी शक्तियो का भी अपव्यय करते है और अन्य लोगो को भी उचित कार्य करने से रोकते हैं। इस प्रकार समाज को दोहरी हानि होती है। आत्मा मे भी न्याय का यही कार्य है—बुद्धि का हर तत्व अपना कार्य स्वतंत्र रूप से करे और एक दूसरे पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाले। हर व्यक्ति मे न्याय के दोनो स्वरूप होते है— व्यक्तिगत रूप मे बुद्धि के सभी तत्वो को सतुलित रखना और राज्य के सदस्य के नाते अपने कर्तव्य पूरे करना। प्लेटो ने न्याय के सामाजिक स्वरूप पर ही अधिक महत्व दिया है।

प्लेटो के न्याय सिद्वात की आलोचना अनेक कारणो से की गई है। न्याय की व्याख्या मे प्लेटो ने कई ऐसी बातो को छोड़ दिया जिन्हे हम साधारण रूप से स्वीकार करते है और अनेक ऐसे विचार शामिल किये जिन्हे हम स्वीकार नही करते। जार्ज सेवाइन ने लिखा है, "यह परिभाषा अपनी भूलो के कारण भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी सम्मिलित विचारो के कारण।" न्याय की यह व्याख्या वैधानिक नही है जब कि न्याय शब्द के प्रयोग से हमारे मस्तिष्क मे विधि की कल्पना सबसे पहले आती है। इसका मूल कारण यह है कि यूनानी सभ्यता और हमारी सभ्यता मे एक महान अतर है। आधुनिक यूरोपीय सभ्यता रोमन सभ्यता से प्रभावित होने के कारण वैधानिकता की ओर झुकी हुई है जब कि यूनानियो का दृष्टिकोण नैतिक था वैधानिक नही। नैतिक भावना भी व्यक्तिगत न होकर सामाजिक थी। नैतिकता का सबध उन कार्यो से नही था जो व्यक्ति अपने प्रति करता है बल्कि उन कार्यो से था जो व्यक्ति समाज के प्रति करता है। सामाजिक जीवन की सुदृढता और श्रेष्ठता को बनाये रखना ही नैतिक जीवन का उद्देश्य था। इस दृष्टिकोण से बार्कर की यह आलोचना भी उचित नही दिखती कि "प्लेटो ने नैतिक कर्तव्य और वैधानिक दायित्व के बीच के अंतर को धुँधला और सीमा को भ्रमपूर्ण बना दिया है।" प्लेटो की व्याख्या का विधि के साथ किसी प्रकार का सबंध जोड़ना उसके साथ अन्याय होगा। प्लेटो का संबंध केवल सामाजिक नैतिकता (Social morality) से था और वह सपूर्ण समाज के सुख का माध्यम खोज रहा था। भ्रम के निवारण के लिये यह आवश्यक है कि हम इसे न्याय का सिद्धात न कह कर सामाजिक औचित्य (Soical righteousness) का सिद्धांत कहे।

राज्य और व्यक्ति के साम्य को लेकर भी प्लेटो की आलोचना की गई है। यह बात मानी जा सकती है कि राज्य तथा अन्य सस्थायें मानव बुद्धि की उत्पत्ति है किन्तु इस आधार पर राज्य और बुद्धि को समरूप नही माना जा सकता। राज्य मे बुद्धि के समानान्तर वर्गो का वर्णन अतिशयोक्ति है। मनोवैज्ञानिक रूप से भी बुद्धि का विभाजन उचित नही है। आत्मा एक इकाई है, उसे तीन हिस्सो मे नही बाटा जा सकता। ज्ञान, साहस और सयम को आत्मा के लक्षण माना जा सकता है परन्तु इन्हे तीन असम्बद्ध और एक दूसरे से स्वतत्र इकाई नही माना जा सकता जिस तरह राज्य के तीन वर्गो को दर्शाया गया है।

प्लेटो का यह सिद्धान्त निष्क्रिय है क्योकि यह कर्त्तव्यो के निषेध पक्ष पर ही अधिक जोर देता है। प्लेटो ने व्यक्ति के अधिकारो का तो कोई वर्णन नही किया वल्कि कर्त्तव्यो मे भी यही दर्शाया कि व्यक्ति को क्या नही करना चाहिये। वह सामाजिक संगठन के हित मे व्यक्ति के कार्यो को सीमित करता है। विशेषज्ञता का सिद्धान्त भी एकांगी है। विशेषज्ञता लाभदायक होती है किन्तु इसका यह अर्थ नही कि व्यक्ति के कार्यक्षेत्र को सीमित कर दिया जाय। यह तो स्वीकार करना ही होगा कि हर समाज मे कुछ लोग बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति हुआ करते है। इस सिद्धान्त से ऐसी प्रतिभा का सीमांकन हो जाता है। यह सिद्धान्त व्यक्ति के सर्वाङ्गीण विकास के विपरीत है। यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रत्येक व्यक्ति मे ज्ञान, साहस और सयम मे से एक लक्षण प्रधान होता है तो भी यह उचित नही है कि प्रधान लक्षण के विकास के लिये अन्य दो लक्षणो का बलिदान कर दिया जाय। न्याय का यह सिद्धान्त सामाजिक जीवन को भी एकागी बना देता है तथा समाज पर अल्प वर्ग का शासन लादने का प्रयत्न करता है। वास्तविकता यही है कि न्याय की यह व्याख्या कुछ पूर्व स्वीकृत सिद्धान्तो का समर्थन करने के लिये ही की गई है। सुकरात के दुखद अन्त की प्रतिक्रिया दार्शनिक वर्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करने के रूप मे हुई। न्याय की यह परिभाषा भी इसीलिये करनी पडी ताकि ज्ञानी व्यक्तियो की श्रेष्ठता स्थापित की जा सके। यह मानने से भी इन्कार नही किया जा सकता कि समकालीन राज्यो मे जो कमजोरिया प्लेटो ने पाई उनके निवारण के लिये भी न्याय की यह व्याख्या आवश्यक थी।

आदर्श राज्य (Ideal state)—न्याय के सिद्धान्त मे ही आदर्श राज्य के वर्णन की आवश्यकता स्वीकार कर ली गई है। शुद्ध न्याय अशुद्ध राज्यो मे प्राप्त नहीं हो सकता किन्तु जो व्यावहारिक और मानवीय है उसका अपूर्ण होना भी स्वाभाविक है। पूर्णता केवल कल्पना मे ही पाई जाती है इसलिये कल्पना के सहारे आदर्श राज्य का निर्माण करना आवश्यक था। समकालीन राज्यो की कमजोरियों की व्याख्या करने के बाद प्लेटो ने उन्हे

दूर करने के उपाय नहीं दर्शाये बल्कि एक ऐसे राज्य की कल्पना प्रस्तुत की जिसमे इन दोषो की सम्भावना ही नही है। यदि न्याय की व्याख्या करना 'रिपब्लिक' का पहला उद्देश्य है तो आदर्श राज्य की कल्पना करना दूसरा उद्देश्य है और दोनों एक दूसरे पर निर्भर है।

न्याय के सिद्धान्त मे प्लेटो राज्य और बुद्धि के बीच साम्य स्थापित करता है। आदर्श राज्य मे इस साम्य को पूर्ण रूप मे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। प्लेटो भी राज्य की सावयव कल्पना को स्वीकार करता है किन्तु वर्तमान सावयव सिद्धान्त भौतिक है क्योकि वह राज्य की तुलना शरीर के सगठन से करता है जबकि प्लेटो आध्यात्मिक सावयव का समर्थक है तथा राज्य को बुद्धि के समरूप मानता है। मानव बुद्धि के तीन तत्व प्लेटो स्वीकार करता है—विवेक (Reason), भावना (Spirit) और क्षुधा (Appetite)। इन तीन लक्षणो के अनुरूप राज्य को भी तीन वर्गो मे बांटा गया। प्लेटो का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस प्रकार है कि प्रत्येक मनुष्य मे तीन मे से कोई एक तत्व अधिक प्रधान होता है और प्रत्येक मनुष्य को वही कार्य करना चाहिये जो उसके प्रधान तत्व के अनुकूल है। इस आधार पर समाज के तीन वर्ग अपने आप बन जाते है। जिन मनुष्यो मे विवेक प्रधान है वे दार्शनिक है, जिनमे भावना प्रधान है उन्हे सैनिक बनना चाहिये। तीसरे वर्ग को प्लेटो कृपक कहता है किन्तु उसका तात्पर्य सभी उत्पादको से है। जिनमे क्षुधा प्रधान है वे भौतिक वस्तुओ के उत्पादन मे ही अधिक रुचि ले सकते है। प्लेटो का यह विभाजन यद्यपि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है फिर भी समाज के विभिन्न कार्यों की पूर्ति का साधन है। हर समाज मे तीन कार्य आवश्यक होते है—शासन, रक्षा और उत्पादन। इसलिये प्लेटो ने समाज का कार्यरूप विभाजन (Functional Division) किया है। प्लेटो से पहले पाइथागोरस ने भी तीन प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख किया था—ज्ञानप्रिय, मानप्रिय और धनप्रिय। प्लेटो ने इनके नाम अवश्य बदल दिये किन्तु उनका रूप वही है। इसके अतिरिक्त सामाजिक जीवन में इन वर्गो का कार्यक्षेत्र निश्चित रूप से निर्धारित कर दिया गया। प्लेटो का यह विभाजन हिन्दू समाज की वर्ण व्यवस्था से काफी समानता रखता है। हिन्दू व्यवस्था मे चार वर्ग स्वीकार किये गये हैं—ब्राह्मण जो प्लेटो के दार्शनिको के समान बुद्धिजीवी वर्ग है, क्षत्रिय जिनका कार्य युद्ध करना और आक्रमण से रक्षा करना है, वैश्य जिन्हे व्यापक रूप मे उत्पादक कहा जा सकता है यद्यपि कालांतर यह वर्ग केवल व्यापारी वर्ग बन कर रह गया। हिन्दू व्यवस्था मे चौथे वर्ग का भी वर्णन है शूद्र जो प्लेटो के विभाजन मे नही पाया जाता। इसका मूल कारण यह है कि यूनान मे दास प्रथा प्रचलित थी इसलिये सेवा कार्य (जो हिन्दू समाज मे शूद्रो को सौंपा गया है)

दासों के द्वारा ही कराया जाता था। प्लेटो ने दासो को इस योग्य नही समझा कि उनका उल्लेख समाज के एक वर्ग के रूप मे किया जाय क्योंकि वे स्वतन्त्र व राजनीतिक वर्ग नही थे।

प्लेटो राज्य के विकास का वर्णन भी इन्ही तीन तत्वो के आधार पर करता है। प्रारम्भिक संगठन का कारण भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना है। विभिन्न इच्छाओ की पूर्ति के लिये पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। क्षुधा मनुष्य को उत्पादन की ओर ले जाती है, उत्पादन के वाद विनिमय की आवश्यकता होती है और विनिमय से अंतर्निभरता उत्पन्न होती है। यह निर्भरता सहयोग और फिर संगठन के रूप मे वदल जाती है। भोजन, वस्त्र और निवास की आवश्यकताओ ने मनुष्य को सामूहिक जीवन के लिये वाध्य किया इसलिये समाज के निर्माण का आरम्भिक कारण या समाज का पहला तत्व क्षुधा है। राज्य का यह प्रारम्भिक और अस्पष्ट रूप है। प्लेटो का तात्पर्य यह है कि पारम्भिक कवीले और समुदाय इसी प्रकार वने। इसके वाद भावना ने राज्य के स्वरूप को प्रभावित किया। आवश्यकताओ मे निरतर वृद्धि होती रहती है तथा उनकी पूर्ति के लिए कलाओ और विज्ञान का आविष्कार होता है। विभिन्न कार्यो की पूर्ति के लिए समाज मे विशाल जनसख्या की आवश्यकता होती है, भूमि के विस्तार और सदस्यो की रक्षा का प्रश्न आता है। विशेपज्ञता के आधार पर यह आवश्यक है कि समाज में कुशल, प्रशिक्षित और अनुभवी सैनिक हो। यदि आर्थिक क्षेत्र मे श्रम विभाजन और विशेपज्ञता आवश्यक है तो देश की रक्षा के लिये वह और भी अधिक आवश्यक है। इस प्रकार सभाज के विकास मे दूसरा तत्व प्रवेश करता है। जिनमे भावना प्रधान है वही सैनिक कार्य ग्रहण करते है। सैनिक समाज के अभिभावक (Guardian) है जो समाज की रक्षा भी करते है और विकास मे सहायता भी देते है। राज्य के विकास मे अतिम तत्व दार्शनिक है जो राज्य को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा देता है। सेना की स्थापना से राज्य का भौतिक स्वरूप पूर्ण हो जाता है नैतिक और आध्यात्मिक नही। सैनिक रक्षा भी करते हैं और प्रशासन भी। इन दोनों कार्यो को पृथक करना आवश्यक है इसलिये दक्ष शासको की स्थापना होती है। यह वर्ग केवल शासन करता है और सैनिको को इस अतिरिक्त कार्य से मुक्ति दिला देता है। दार्शनिक तत्व ज्ञान-राज्य मे दो प्रकार से प्रवेश करता है। (१) सैन्य शासको मे ही विवेक का अस्तित्व रहता है। प्लेटो यह मानता है कि भावना के साथ विवेक भी अस्पष्ट रूप मे मिला रहता है। यथार्थ ज्ञान वह क्षमता है जो मनुष्य को अच्छे-बुरे का अन्तर करने के योग्य वनाती है। सैनिक अपने कर्त्तव्यो की पूर्ति उस समय तक नही कर सकता जब तक मित्र और शत्रु के बीच अन्तर करने की क्षमता उसमे न आ जावे। यह

भेद करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता होती है इसलिए ज्ञान भावना का सहचर है, किन्तु यह शुद्ध विवेक नही है । (२) शुद्ध विवेक केवल आदर्श राज्य मे ही सम्भव है जहाँ दार्शनिको का शासन हो । विशेषज्ञता और श्रम विभाजन के लिये यह आवश्यक है कि अभिभावको के कार्य को भी हम विभाजित कर दे । इस वर्ग के दो कार्य है—रक्षा करना और व्यवस्था वनाये रखना । पहला कार्य सैनिक करते है जिन्हे प्लेटो सहायक अभिभावक के नाम से सम्बोधित करता है । दूसरा कार्य दार्शनिक या ज्ञानी पुरुष करते है जिन्हे श्रेष्ठतम अभिभावक (Guardians Par-excellence) कहा गया । सबसे अच्छा मनुष्य वही है जो हमेशा विवेक से कार्य करे । अतः अच्छे राज्य मे भी विवेक का सार्वभौम होना आवश्यक है । जिन व्यक्तियो मे उचित विवेक है उन्हे दार्शनिक शिक्षा के द्वारा पूर्ण शासक बनाया जाता है । ये दार्शनिक ही राज्य को सही मार्ग पर ले जा सकते है । समाज के लिये अन्तिम रूप मे क्या हितकर है और क्या हानिकारक, इसका निर्णय स्थायी रूप से दार्शनिक ही कर सकते है । अत. समाज का सही निर्देशन दार्शनिको के द्वारा ही हो सकता है । दार्शनिक शासक का "ज्ञान एक साथ उसका शासन करने का अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी ।" इस प्रकार विकसित होकर राज्य अपनी अतिम अवस्था पर पहुँचता है ।

आदर्श राज्य मे इन तीनो वर्गो का होना आवश्यक है । 'रिपब्लिक' का तर्क इस बात की माग करता है कि राज्य मे कार्य विभाजन और अहस्तक्षेप की नीति अपनाई जावे, न्याय की यही माग है । मनुष्य मे अलग-अलग बौद्धिक तत्वो की प्रधानता पाई जाती है । कुछ लोगो मे विवेक प्रधान होता है, कुछ मे भावना तथा कुछ ऐसे भी लोग होते है जिनमे दोनो तत्व कमजोर होते है । बौद्धिक रूप से भिन्न व्यक्तियो को विभिन्न वर्गो मे बाट देने से राज्य मे सगठन और विशेषज्ञता के लाभ प्राप्त किये जा सकते है । राज्य मे सैनिको और शासकों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग की भी आवश्यकता होती है जो उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन करे । इस वर्ग को प्लेटो कृपक वर्ग कहता है । इनमे क्षुधा ही प्रधान होती है, अतः यह लोग सैनिक या शासक बनने के योग्य नही है । विशेषज्ञता के कारण सैनिक और शासको से उत्पादन कार्य की आशा करना अनुचित होगा । व्यक्ति का वर्ग उसके जन्म से निर्धारित नहीं होता बल्कि उसकी बौद्धिक क्षमता से निश्चित होता है । किसी कृपक परिवार मे जन्म लेने वाले वालक मे यदि विवेक की प्रधानता है तो उसे दार्शनिक की शिक्षा देकर दार्शनिक वर्ग मे शामिल कर लेना चाहिये । इसी प्रकार विवेक और भावना के अभाव मे दार्शनिक दम्पत्ति का वालक कृपक वन जायगा । किन्तु प्लेटो ने ऐसा कोई मापदड प्रस्तुत नही किया जिसके द्वारा यह निश्चित किया जा सके कि किसी वालक मे कौन

-सा तत्व प्रधान है। इस मापदंड के अभाव मे यह स्वाभाविक है कि वर्ग विभाजन जन्म पर आधारित हो जायगा जिस प्रकार हिन्दू समाज मे हो गया।

प्लेटो का तार्किक निष्कर्ष दार्शनिक शासक है। मस्तिष्क के तीन हिस्सो मे विवेक ही श्रेष्ठ है इसलिये समाज मे भी विवेकशील वर्ग ही श्रेष्ठ होना चाहिये तभी न्याय की स्थापना हो सकती है। सुकरात के साथ एथेन्स की जनसभा मे जो अन्याय हुआ उसका कारण यही था कि जनसाधारण मे इतनी बुद्धि नही थी कि वे एक दार्शनिक के विचारो और कार्यो का निर्णय कर सके। यह अन्याय उस समय तक होता रहेगा जब तक शासन का अधिकार दार्शनिकों को न दे दिया जाय या शासको को दर्शन की शिक्षा न दी जाय। दर्शन को राज्य मे सर्वश्रेष्ठ स्थान मिलना आवश्यक है। जो वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेते है वही अच्छे और बुरे का अतर कर सकते है। जिन्हे शिवम् (Good) का ज्ञान है उन्ही के द्वारा समाज का निर्देशन होना लाभदायक है। प्लेटो ज्ञान को एक सक्रिय क्षमता मानता है। दर्शन का अर्थ केवल चिन्तन या एकात मे मनन करना ही नही है। दर्शन एक द्विमुखी प्रतिभा है जो हमे वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक होती है और उस ज्ञान के अनुकूल कार्य करने की प्रेरणा भी देती है। दार्शनिक जो सर्वश्रेष्ठ शिवम् (Summum bonum) का ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी प्राप्ति के लिये कार्य भी करने लगता है और उसके नेतृत्व मे सपूर्ण समाज उसी दिशा मे अग्रसर होगा। दार्शनिको का शासन ही निस्वार्थ शासन होगा क्योकि जिसे शिवम् की अनुभूति हो जाती है वह अपने पराये का भेद नही करता। प्लेटो ने सम-कालीन राज्यो मे दो अवगुण बतलाये है—अज्ञान और राजनीतिक स्वार्थ। दोनो पीडाओ की एक औषधि है—दार्शनिक शासन-स्वार्थरहित और प्रबुद्ध (enlightened) शासन। दार्शनिक इन दोनो दोषो से सुरक्षित है क्योकि ज्ञानी होने के नाते ही वह निस्वार्थ सेवक भी बन जाता है इसीलिये प्लेटो ने उसे श्रेष्ठतम अभिभावक कहा है। शासक जो भी कार्य करता है अपने लिये नही बल्कि एक अभिभावक की तरह अपने आश्रितो के लिये करता है। इसके अतिरिक्त दार्शनिको को वास्तविक ज्ञान प्रदान करने के लिये प्लेटो ने उन्हे उचित शिक्षा देने का भी प्रबंध किया तथा उनकी स्वार्थी प्रवृत्तियो को रोकने के लिये सपत्ति और कुटुम्ब के सारे प्रलोभन छीन लिये और उन्हे साम्यवादी व्यवस्था मे रख दिया।

आदर्श राज्य का शासन एकतन्त्रात्मक या कुलीनतन्त्रात्मक ही हो सकता है। प्रजातत्र का कोई प्रश्न नही उठता क्योकि किसी भी समाज मे दार्शनिको का बाहुल्य नही हो सकता। शिक्षा व्यवस्था भी इतनी कठोर है कि अतिम योग्यता तक बहुत

कम लोग ही पहुँच सकते है। बौद्धिक वर्ग का शासन होने के साथ-साथ यह शासन निरंकुश भी है। शासको के ऊपर कोई शक्ति नही है, किसी प्रकार का नियन्त्रण नही है। अन्य दो वर्ग शासन के कार्य मे किसी प्रकार हस्तक्षेप नही कर सकते इसलिये प्लेटो की व्यवस्था को बौद्धिक निरकुशतन्त्र (Intellectual Desptoism) कहा गया है। दार्शनिक शासको पर प्लेटो विधि के बंधन भी स्वीकार नही करता। दार्शनिक की शक्ति सर्वोच्च भी है असीम भी। वह विधि प्रधान और व्यक्ति प्रधान शासनो को स्वीकार करता है किन्तु विधि प्रधान शासन अत्यत कठोर और अपरिवर्तनशील होते है। समय के इस व्यवस्था मे परिवर्तन नही किया जा सकता जब कि समाज निरंतर परिवर्तनशील है। दार्शनिक की बुद्धि बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियो को समझने और उनके अनुकूल कार्य करने की क्षमता रखती है। बौद्धिक वर्ग का शासन उतना ही पवित्र, विश्वासनीय और निष्पक्ष होता है जितना विधि का शासन। इसलिये विद्वान व्यक्ति का शासन ही अधिक अच्छा है। विधि व्यक्ति को नही बनाती बल्कि व्यक्ति विधि को बनाता है। नियमो का अस्तित्व व्यक्ति की भलाई के लिये है अत अनुपयोगी हो जाने वाले नियमो को बदलने का अधिकार समाज को होना चाहिये। दार्शनिक शासक विधि से ऊपर है। वह किसी कानून से सीमित नही है बल्कि वह स्वयं कानून का स्त्रोत है। प्लेटो दार्शनिको पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नही लगाना चाहता क्योकि उनकी चिन्तन क्रिया स्वय नियन्त्रित होती है जो केवल अच्छाई की दिशा मे ही कार्य करती है। शिक्षा और साम्यवाद के द्वारा यह निश्चित करने का प्रयत्न प्लेटो ने किया कि इन शासकों मे ज्ञान की दिशा मे कार्य करने की क्षमता आ जाय और इनका जीवन स्वार्थ के सभी आकर्षणो से मुक्त रहे। यह शासन सामान्य रूप से अल्प मत का ही होगा किन्तु एक व्यक्ति का भी हो सकता है। यदि किसी राजा को दर्शन की शिक्षा देकर दार्शनिक बनाया जा सकता है तो वह बौद्धिक राजतन्त्र होगा। प्लेटो यह स्वीकार करता है कि उसके लिये राजतंत्र और कुलीनतन्त्र मे कोई अतर नही है जब तक शासन ज्ञान के अनुसार हो रहा है। प्लेटो के मतानुसार यूनानी राज्यो को पतन से बचाने का यही एकमात्र मार्ग बच रहा था। अज्ञान और स्वार्थ से विकृत राज्यो के सुधारने का कोई दूसरा रास्ता नही था। प्लेटो ने स्पष्ट शब्दो मे लिखा, "जब तक दार्शनिक राजा न बन जाये या राजाओ और युवराजो मे दर्शन की शक्ति न आ जाये ···· नगरो को बुराइओ से मुक्ति नही मिल सकती।" 'रिपब्लिक' का मूल उद्देश्य दार्शनिक को असीम शासन स्थापित करना ही है। दार्शनिक राजा किसी प्रकार की विधि, जनमत या परम्पराओ से सीमित नही किया जा सकता। उसकी शक्ति सर्वोच्च है क्योकि उसका निर्णय किसी अन्य शक्ति के द्वारा प्रभावित नहीं

हो सकता। जार्ज सेबाइन ने लिखा है, "रिपब्लिक का यथार्थ रोमांस, मुक्त बुद्धि का रोमांस है, जो परम्पराओं के बंधनों से मुक्त मानव मूर्खता और स्वार्थ से अप्रभावित, परम्परा और मूर्खता की शक्तियों को विवेक के मार्ग पर निर्देशित करने के योग्य है।"

प्लेटो की इस कल्पना पर अनेक आक्षेप किये गये हैं। 'रिपब्लिक' एक आदर्श है जिसे व्यावहारिक जीवन में लागू नहीं किया जा सकता। दार्शनिक राजा का शासन कोरी कल्पना है। प्लेटो ने दार्शनिक वर्ग के निर्माण का जो तरीका बतलाया है वह संभव ही नहीं है। प्लेटो की इस कल्पना को साकार करने के लिये संपूर्ण सांस्कृतिक व सामाजिक विकास को समाप्त करके एक नये समाज का निर्माण करना होगा। प्लेटो को स्वयं अपने आदर्श की व्यावहारिकता पर विश्वास नहीं था। इस संदेह को स्वीकार करते हुए उसने लिखा, "यह राज्य केवल शब्दों में बना है इसलिये कभी नहीं बना।" एक अन्य स्थान पर प्लेटो यह भी स्वीकार करता है कि इस कल्पना को मानव जगत में साकार करना संभव नहीं है। "यह राज्य एक नमूने के रूप में स्वर्ग में रखा है," जिससे हम पृथ्वी के राज्यों की तुलना कर सकते हैं और इस आदर्श के अनुरूप अपनी व्यवस्था में सुधार कर सकते हैं। जानते हुए भी एक अव्यावहारिक कल्पना प्रस्तुत करने का सही उद्देश्य हो सकता है। जीवन में आदर्शों का यही महत्व है कि उन्हें हम पूर्णतः कभी प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु फिर भी उनके प्रकाश के सहारे हम एक निश्चित दिशा में निरंतर बढ़ते रहते हैं। 'रिपब्लिक' लिखते समय प्लेटो को यह आशा थी कि यदि उसे स्वयं अवसर मिल जाय तो वह अपनी इस कल्पना को भी साकार कर सकता है। इसीलिये जब उसे साइराक्यूज के नये शासक डायोनीशियस द्वितीय को शिक्षा प्रदान करने का आमन्त्रण मिला तो उसने सहर्ष स्वीकार कर लिया। वह इस प्रयास में असफल हुआ और उसकी आशा के सभी तार टूट गये तथा उसे अपने आदर्श बदल कर लॉज (Laws) की रचना करनी पड़ी।

समाज के वर्ग विभाजन का भी विरोध किया गया है। विभाजक का आधार गलत है। राज्य की बौद्धिक उत्पत्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह कहना उचित नहीं है कि राज्य में केवल वही तथा वही सब लक्षण होना चाहिये जो बुद्धि में है। राज्य का संगठन अत्यन्त जटिल है और उसे केवल साम्य के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। सभी साम्यवादी इस बात को भूल जाते हैं। मनोवैज्ञानिक आधार पर भी मानव बुद्धि में केवल तीन तत्व मानना भी उचित नहीं है। पाश्चात्य आलोचकों की अपेक्षा प्लेटो के इस सिद्धांत को भारतीय विद्यार्थी अधिक सहानुभूति से परख सकते हैं क्योंकि हमने इसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का व्यावहारिक अनुभव किया है। यह कहना कि

किसी विशेष मनुष्य मे विवेक या साहस मे से एक शक्ति प्रधान होती है या फिर दोनों का अभाव होता है अनुचित नही है। अनेक जातियो के स्वभाव से ज्ञानप्रिय या सघर्षप्रिय होने के प्रमाण हमे बहुतायत मे मिलते है। समाज का यह कार्यरूप विभाजन (Functional Division) यूरोप मे नही तो भारत मे सदियो चलता रहा है तथा ज्ञानप्रिय वर्ग का शासन नही तो ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता को स्वीकार किया ही गया है और क्षत्रिय शासक ब्राह्मण वर्ग की परामर्श को महत्व देते रहे है। किन्तु इस व्यवस्था मे एक कमजोरी स्वीकार करनी ही होगी। वर्ग विभाजन का आधार जन्म तो माना नही जा सकता और बौद्धिक क्षमताओ का निर्णय करने का मापदड न तो प्लेटो ने बतलाया न भारतीय समाज व्यवस्था मे ही मिलता है। यही कारण है कि कालान्तर मे भारतीय समाज मे वर्ग का निर्णय जन्म से ही होने लगा।

प्लेटो ने शासन की व्याख्या सही दृष्टिकोण से नही की। प्लेटो उस शासन को सर्वोत्तम समझता है जिसका सचालन सर्वोत्तम व्यक्तियो के द्वारा किया जाय। इसके विपरीत हम शासन की सफलता को इस कसौटी पर परखते है कि प्रजा को कितना सतोष मिला है। अच्छा शासन वही है जिसमे अधिक से अधिक लोग सतुष्ट हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि शासन मे अधिक से अधिक लोगो को हिस्सा दिया जाय। विशेपज्ञता को शासन मे स्वीकार करना व्यावहारिक रूप मे उचित नही है। कुशल से कुशल अधिकारी भी नागरिको को सतोष प्रदान नही कर सकते। मूल तत्व यह है कि शासक को समाज के विभिन्न वर्गो की समस्याओ का ज्ञान और अनुभव होना चाहिये अन्यथा वे सही दृष्टिकोण मे कार्य नही करेगे। एक कहावत है कि पकाने की कमी खाने वाला जानता है। भोजन अच्छा बना है या नही इसका निर्णय चखे बिना कुशल रसोईया भी नही कर सकता। इसी प्रकार विधि या औचित्य वही लोग निश्चित कर सकते है जिन्हे उसका पालन करना है। प्लेटो के राज्य मे शासक और शासितों के लिये अलग व्यवस्था है। सपत्तिहीन और कुटुम्बहीन दार्शनिक यह कैसे जान सकते है कि किसी गृहस्थ कृषक की क्या कठिनाइयाँ है। केवल सैद्धातिक अध्ययन से जीवन की व्यावहारिक कठिनाइयो को नही जान सकते। साधारण कला, कौशल, उत्पादन और व्यापार मे विशेपज्ञता का सिद्धात लाभदायक है किन्तु उसे एक सामाजिक या राजनीतिक सिद्धात नही माना जा सकता क्योकि राजनीति मे सिद्धात का अर्थ अल्पमत का शासन होगा जो कि हमारी मान्यताओ के अनुकूल नही है।

अत मे अर्नेस्ट बार्कर की एक महत्वपूर्ण आपत्ति और रह जाती है। उनका कहना है कि प्लेटो के राज्य को "अत्यधिक विभाजन और जैसा अरस्तू ने कहा, अत्यधिक एकीकरण मे आरोपित किया जा सकता है।" अत्यधिक विभाजन इसलिये

पर आधारित है कि मनुष्य एक दूसरे को दुख न पहुँचाए। राजनीतिक संगठन का भी यही आधार है। दूसरे से असुरक्षा और अन्याय का भय ही मनुष्य को राज्य की स्थापना की ओर ले जाता है। हर व्यक्ति के लिये अपने सुख ही अधिक प्रिय होते हैं। अतः जब दो व्यक्तियो के स्वार्थ टकराते है तो किसी एक को दुख सहना पड़ता है। इसी दुख से बचने के लिए समाज का निर्माण किया जाता है। ग्लाउकन की तरह एपीक्यूरस का तर्क भी यही है कि राज्य का निर्माण कमजोरों की सुरक्षा के लिये है। राज्य एक प्रकार का समझौता है कि न कोई अन्याय करेगा, न सहेगा। यही राज्य की उपयोगिता है। इसी आधार पर विधि और न्याय का जन्म भी समयानुकूल व्यवहार से होता है। अलग-अलग समाजो मे न्याय की परिभाषा अलग होती है; पूर्ण न्याय जैसी कोई चीज नही है।

सामान्य रूप से एपीक्यूरियनवाद का अर्थ एक ऐसी विचारधारा से लगाया जाता है जो सुख की भावना को हर बात से अधिक महत्वपूर्ण समझती है। यद्यपि एपीक्यूरस ने सुख का आधार भौतिक ही माना है किन्तु इन्द्रिय सुख ही एकमात्र या सर्वोच्च सुख नही है। इस कोटि के सुख मनुष्य को मानसिक सतोष और शाति देने के बजाय मन को उद्वेलित करते हैं। मनुष्य को बौद्धिक सुख ही खोजना चाहिये। एपीक्यूरस ऋण लेकर घृत पीने का समर्थक नही है और न हर प्रकार के सुख को श्रेयस्कर मानता है, इसीलिये यह कहा जाता है कि एपीक्यूरस भी पूर्णरूप से एपीक्यूरियन नहीं है।

स्टाइक दर्शन—लगभग इसी समय (३०० ई० पू० के करीब, जेनो (Zeno) नामक दार्शनिक ने एक विद्यापीठ की स्थापना की तथा स्टाइक संप्रदाय प्रचलित किया। स्टाइक दर्शन मूल रूप से एथेन्स का दर्शन नही था बल्कि यूनान का और संपूर्ण हेलास (Hallas) का दर्शन था। इसके सभी प्रारंभिक समर्थक एथेन्स के निवासी न होकर अन्य नगरो के थे। स्टाइक दर्शन का आधार यूनानी सिनिक (Cynic) विचारधारा है। मनुष्य को सुखी बनने के लिये स्वावलंबी होना चाहिये और स्वावलंबन के लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी इच्छाओ को न्युनतम करे। दृढ निश्चय, कर्त्तव्यपरायणता और सुखो की लिप्सा से मुक्ति का पाठ इन दार्शनिकों ने पढाया। मनुष्य केवल नाटक का एक पात्र है जिसे इस जीवन मे अपना अभिनय निभाना है उसमे चाहे सुख मिले या दुख। यह विरक्तिवाद विशेष रूप से दार्शनिक वर्ग के लिये है। सिनिक विचारक डायोजिनीज (Diogenes) के जीवन का एक उदाहरण इस सम्बन्ध मे अत्यंत महत्वपूर्ण है। एक बार सिकन्दर उसके सामने आकर खडा हो गया और उसने पूछा कि तुम क्या चाहते हो? डायोजिनीज ने कहा आप

मेरे और सूर्य के बीच से अलग हो जाइये। धीरे-धीरे यह विरक्तिवाद नगर-राज्य की ओर मुड़ता गया। नगर मे जिन चीजो को जीवन के लिये आवश्यक और अच्छा समझा जाता था उनका त्याग करना और उनकी ओर निन्दा से देखना इन विचारकों का सामान्य क्रम था। दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते हुए यह दार्शनिक सभी प्रथाओं के विरुद्ध प्रचार करते फिरते थे। इस विरोध मे उन्होंने राज्य और विधि को भी नही छोड़ा। इस विरक्तिवाद ने विश्व-बंधुत्व की भावना को जन्म दिया। संपत्ति, कुटुम्ब, नागरिकता, यश, ज्ञान सभी व्यर्थ है। अपना जीवन अत्यन्त सादगी से व्यतीत करना चाहिये। इस आधार पर मनुष्य में सभी प्रकार के ऊँच-नीच का अंतर समाप्त हो जाता है। गरीब और अमीर, यूनानी और बर्बर, प्रभु और दास सभी समान हैं।

इसी सिनिक दर्शन से स्टाइक विचारधारा का जन्म हुआ और इसी सिद्धांत को रोम ने यूनान से अधिकतम मात्रा मे ग्रहण किया। स्टाइक लोग जीवन के प्रति दार्शनिक उदासीनता रखते थे। जीवन मे प्रत्येक कदम पर मनुष्य को पराजय और निराशा ही मिलती है; विजय और उल्लास के अवसर कम आते है। सफलता की आकाक्षा पूर्ण न होने पर मन को असंतोष होता है। अतः यही अच्छा है कि कोई आकाक्षा ही न की जाय। स्टाइक लोग विवेकवादी थे। विवेक ही नैतिक जीवन का आधार है तथा यह एक ऐसा गुण है जो मनुष्य और देवताओ में समान रूप से होता है। सभी मनुष्य इस रूप मे समान है तथा देवताओ से सम्बन्धित है। वह कल्पना विवेक पर आधारित प्राकृतिक नियम को जन्म देती है। इस विचार को स्वीकार करने का स्वाभाविक निष्कर्ष यही है कि एक ऐसा नियम होना चाहिये जो भौगोलिक सीमाओ को तोड़कर संपूर्ण मानव जाति पर समान रूप से लागू होता है। दार्शनिक दो प्रकार की विधि को मानने के लिये बाध्य हो जाता है—प्रथाओ और परम्पराओ पर आधारित क्षेत्रीय विधि तथा विवेक पर आधारित प्राकृतिक विधि। यही विचार रोम की विधि व्यवस्था के आधार है। रोम के विचारकों ने स्टाइक विचारधारा को उचित परिवर्तन के साथ ग्रहण किया। रोमन लोगो का सपूर्ण दृष्टिकोण वैधानिक था। यूनानी दार्शनिको का दृष्टिकोण नैतिक था। इसलिये यह स्वाभाविक है कि रोम ने यूनान के स्टाइक दर्शन को ही स्वीकार किया जिससे विश्व-विधान (Universal Law) का विचार उन्हें मिला।

यहां पर हम यूरोपीय सभ्यता के एक युग की समाप्ति पर पहुँचते है, इसलिये इस बात का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि इस युग ने राजदर्शन को क्या प्रदान किया। यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक राजदर्शन यूनान का बहुत अधिक

ऋणी है। इस बात के बावजूद भी कि हमारे राज्य यूनान के नगर-राज्यों से कई गुने बड़े है, हमारी संस्थाये उनकी संस्थाओं से अधिक जटिल है। प्लेटो और अरस्तू ने विशेष रूप से अनेक स्थायी महत्व के विचार प्रदान किये है। सर्वप्रथम देन है राजनीति को नीतिशास्त्र का अंग मानना। यद्यपि अरस्तू ने दोनों विषयो का पृथक्करण कर दिया फिर भी राजनीति नैतिक मान्यताओ और मापदंडों से मुक्त नही हो सकी। वर्तमान युग में हमने राजनीति और नीतिशास्त्र के सपर्क को पूरी तरह तोड़ने की कोशिश की जिसके परिणाम स्वरूप राजनीति क्रमश: पतित और भयानक होती गई तथा जीवन अशांत और युद्धग्रस्त होता गया। आज हम सोचते है कि कितना अच्छा होता यदि शासक को नैतिक बंधन तोड़ने का अधिकार न दिया जाता। दूसरी महत्व-पूर्ण देन है राज्य की सावयव कल्पना जो राजनीतिक आदर्शवाद का स्थाई अंग बन गई और आज भी राजनीतिक विचारो को प्रभावित कर रही है। प्लेटो का शिक्षा सिद्धांत और अरस्तू का स्वर्णिम मध्यम मार्ग का सिद्धात भी उल्लेखनीय है। यूनानी दर्शन का एक महत्वपूर्ण अंग यह है कि वे समानता को अस्वाभाविक मानते थे। इसीलिये प्लेटो और अरस्तू प्रजातंत्र के विरोधी थे। यह विचार वर्तमान युग मे ग्राह्य नही है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि यूनानी युग के अंतिम वर्षो मे स्टाइक दार्शनिक ने इस विचार को बदल दिया और वे न केवल समानता बल्कि विश्व-बंधुत्व के भी समर्थक थे। रोमन लोगो ने इन स्टाइक विचारो को अपने अनुकूल पाया और उन्हें ग्रहण किया। रोम पर स्टाइक प्रभाव का वर्णन जार्ज सेबाइन ने इन शब्दो मे किया है—"कोई दूसरा यूनानी विचार उन क्षेत्रीय सदगुणो को, जिनमे रोमन लोग गौरव का अनुभव करते थे—स्वनियंत्रण, कर्त्तव्यपरायणता और जनभावना, प्रोत्साहन देने के लिये इतनी योग्य नही थी जितनी स्टाइक विचारधारा; और रोमन आक्रमण की शुष्क व्यवस्था मे कुछ आदर्शवादी अंश शामिल करने के लिये विश्व-राज्य की स्टाइक कल्पना से अधिक अच्छा कोई दूसरा विचार नही था।"

———

अध्याय ५

पोलीवियस

(२०४ ई०पू० से १२२ ई०पू०)

(Polybius : 204 B.C. to 122 B.C.)

ईसा पूर्व १६७ मे रोमन सेनाओ ने मकदूनिया की शक्ति को यूनान से समाप्त कर दिया और अखाई संघ (Achaen League) को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। इस विजय मे रोम के सैनिक पोलीवियस को युद्ध-वन्दी वना कर रोम ले आये। पोलीवियस का जन्म २०४ ई० पू० मे अखाई संघ के अर्केडिया (Arcadia) राज्य मे हुआ था। उसकी गणना अखाई संघ के प्रमुख राजनीतिज्ञो मे थी। इस सघ के कई राजनीतिज्ञ रोमन शक्ति के समर्थक थे किन्तु पोलीवियस नही था। युद्ध-वन्दी वना लिये जाने के वाद भी पोलीवियस की बुद्धिमता के कारण रोम के शासको ने उसका उचित आदर किया तथा उसके ज्ञान का लाभ भी उठाया। रोम की ओर से वह अखाई संघ को मध्यस्त के रूप मे भेजा गया। युद्ध-वन्दी के रूप मे पोलीवियस को वह अवकाश प्राप्त हुआ जो उसकी वौद्धिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक था। उसे रोम के संविवान, संस्थाओ और सभ्यता को निकट से जानने का अवसर मिला और इसी समय उसने "रोम का इतिहास" लिखा। रोमन सभ्यता की चरम अवस्था मे लिखित इस पुस्तक मे पोलीवियस ने यही दर्शाना चाहा कि रोम की श्रेष्ठता का कारण क्या था? रोमन लोग विश्व के अविकारी कैसे वन वैठे? रोम के साम्राज्य और शक्ति का विकास ५३ वर्ष की छोटी अवधि मे जिस तीव्रता से हुआ था वह वास्तव मे ध्यान आकर्षित करने वाली घटना थी। विशाल क्षेत्र और हितो की भिन्नता के वावजूद भी रोम का साम्राज्य दृढ और सगठित वना हुआ था। इन सभी वातो का विश्लेषण पोलीवियस ने करना चाहा। इसका मूल कारण था संगठित और अच्छा शासन। "रोम का इतिहास" केवल घटनाओ का ऐतिहासिक वर्णन नही है वरन् इन घटनाओ की राजनीतिक मीमासा भी है। यह ग्रन्थ चालीस भागो मे था किन्तु इसके पाच भाग ही पूर्ण रूप मे प्राप्य हैं।

पोलीवियस के अनुसार रोम के सविवान का प्रधान गुण उसका मिश्रित रूप था। रोम मे विभिन्न शासन प्रणालियो के गुणो का समावेश था, शासन के अंगो मे

पारस्परिक नियंत्रण और संतुलन होने से संविधान को अधिक स्थायित्व प्राप्त हो गया था। प्लेटो और अरस्तू से प्रभावित होने के कारण पोलीवियस मिश्रित संविधान को ही श्रेष्ठ मानता है तथा राज्य के तीन शुद्ध और तीन विकृत रूप स्वीकार करता है। शासन के तीन शुद्ध रूप राजतन्त्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्र हैं और इनके विकृत रूप हैं अत्याचारतन्त्र, धनतन्त्र और भीडतन्त्र (Ochlocracy)। उसने अरस्तू के चक्रवादी सिद्धात का भी समर्थन किया है। राज्य के स्थायित्व के लिये तीनों शुद्ध संविधानों का मिश्रण होना चाहिये। रोम मे यह मिश्रण इस रूप मे विद्यमान था। शासन के तीन हिस्से थे, पारिषद्य (Consuls) जो राजतन्त्र के गुणो का प्रतीक था, सीनेट (Senate) अभिजात्य वर्ग की समिति थी और नगर की जनसभा (Popular Assembly) को भी कुछ अधिकार सौंपे गये थे। राजसत्ता इन तीनो हिस्सो मे विभाजित थी जिसके कारण शासन मे रोक और सतुलन का सिद्धात प्रचलित हो गया था। पोलीवियस ने इसी तरह के मिश्रित सविधान की प्रशसा की है। राज्यो के वर्गीकरण के सिद्धात मे पोलीवियस ने दो सुधार किये। सर्वप्रथम उसने यह दर्शाया कि जो शासन मिश्रित नही है उनमे भ्रष्ट हो जाने की प्रवृत्ति होती है। वास्तव मे शासन के पतन को अरस्तू ने भी स्वाभाविक माना है। दूसरी बात मिश्रित राज्य का स्वरूप है। अरस्तू ने जहा सामाजिक वर्गो का मिश्रण प्राप्त करना चाहा पोलीवियस ने स्पष्ट रूप से राजनीतिक शक्तियो का मिश्रण किया है और उनमे नियंत्रण और सतुलन की व्यवस्था आवश्यक मानी। रोम की समकालीन व्यवस्था मे यह विभाजन इस प्रकार था, सपूर्ण सैन्य शक्ति और प्रशासकीय अधिकार पारिषद्यो को प्राप्त थे, राजस्व का नियत्रण सीनेट के हाथ मे था और विधि निर्माण तथा शासकीय अधिकारियो की नियुक्ति का अधिकार जनसभा को था। समाज के तीनो वर्गो को संतोप था और सहयोग तथा सगठन अधिकतम मात्रा मे था। तीनो वर्गो मे सामाजिक विकास मे अधिक से अधिक योग देने की स्पर्धा थी जिससे समाज का विकास तीव्रगति से हो रहा था। प्रत्येक वर्ग शेष वर्गो को पथभ्रष्ट होने से रोकता था। पोलीवियस ने राज्य के विकास का भी उल्लेख किया है। प्रत्येक राज्य के विकास मे तीन अवस्थाये होती है; उत्थान (Growth) सर्वोच्च शिखर और ह्रास। यूनानी राज्यो पर रोम की विजय का कारण यही था कि यूनानी राज्य अवनति की अवस्था मे थे और रोम उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच रहा था। पोलीवियस रोम की प्रतिभा और शक्ति से इतना प्रभावित था कि वह उसी व्यवस्था को ही आदर्श मान बैठा यद्यपि आने वालेवर्पो ने इस व्यवस्था के अवगुण स्पष्ट कर दिये और रोम का भी पतन हुआ। जार्ज सेवाइन ने लिखा है, "मान्टेस्क्यू की तरह उसने भी जिस सविधान का वह अध्ययन कर रहा था उसके सामाजिक रूप को ही देखा।" रोम मे मिश्रित सविधान का

प्रभाव केवल सामयिक था और वातावरण में जो परिवर्तन तीव्रगति से हो रहे थे पोलीबियस उन्हे नही देख सका । शीघ्र ही रोमन दर्शन मे मिश्रित सरकार का महत्व समाप्त हो गया और विश्व-नागरिकता तथा प्राकृतिक विधि की नई विचारधारा अधिक लोकप्रिय हो गई । विश्व-बंधुत्व और मानव समानता के प्रभाव मे रोम की सामाजिक वर्ग व्यवस्था ही पिघल गई । पोलीबियस की सबसे बडी कमजोरी यह है कि वह नये युग की महत्ता के कारण भी प्राचीन और लुप्तप्राय यूनानी सिद्धातो मे ही खोजना चाहता है । किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिये कि पोलीबियस जन्म से यूनानी था । अतः प्राचीन प्रतिभा की ओर उसका झुकाव होना स्वाभाविक है ।

राजनीति मे पोलीबियस का महत्व रोक और सतुलन के सिद्धात के कारण है । जिस सतुलन के सिद्धांत को हम आधुनिक शासन और राजनीति मे इतना महत्व देते है उसका आरम्भ पोलीबियस के विचारो से ही होता है । पोलीबियस ने पहली बार विभक्त और सीमित राजसत्ता का महत्व दर्शाया । यद्यपि पोलीबियस के सिद्धात मे मान्टेस्क्यू की तरह विधान मडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका की शक्तियो की स्पष्ट व्याख्या और पृथक्करण का उल्लेख नही है और पोलीबियस का मूल उद्देश्य रोक और सतुलन के सिद्धात की व्याख्या करना नही है वल्कि मिश्रित सविधान के गुणगान करना है ।

सतुलन और शक्ति विभाजन के इस सिद्धात को समझने के लिये रोम की शासन प्रणाली का सक्षेप मे वर्णन करना आवश्यक हो जाता है । सीमित और संतुलित शासन का इतना अच्छा चित्र बहुत कम मिलता है । रोम के पारिषद्यो को प्रशासन और कार्यपालिका का अधिकार था परन्तु युद्ध और शाति-सधि और कूटनीति सीनेट के अधीन थे । युद्ध और शाति के सभी निर्णय जन-सभाओ के द्वारा अनुमोदित होने चाहिये । सेना का सगटन और सचालन पारिषद्यो के हाथ मे था । राज्य कोष पर सीनेट का अधिकार था और विधि निर्माण जन-सभाओ का कार्य था । विधायनी और राजस्व की शक्तियो का यह वितरण आधुनिक राज्यो मे भी नही मिलता । पोलीबियस का विचार है, "जनता ही सम्मान का स्रोत है ।" अतः न्याय की स्थापना के लिये स्पष्ट विधि का निर्माण तथा सम्मानित पदो पर नियुक्ति जन-सभा के द्वारा ही होना चाहिये । रोम की व्यवस्था मे न्याय की शक्तिया अलग नही थी वल्कि तीनो हिस्सो मे विभक्त थी । पारिषद्यो का अपने अधीन अधिकारियो को दंड देने का अधिकार था । देश-द्रोह, हत्या और षडयत्र के मामलो मे जहा सार्वजनिक जांच की आवश्यकता होती है सीनेट ही न्यायालय का कार्य करती थी किन्तु ये निर्णय जनसभा के द्वारा अनुमोदित किये जाते थे । उच्च अधिकारियो के आचरण या अधिक मूल्य का आर्थिक दड देने का अधिकार जनसभा को था ।

इस व्यवस्था मे प्रत्येक हिस्से को अनेक स्वतत्र अधिकार थे किन्तु उस पर दूसरे हिस्सों का उचित नियत्रण भी रहता था। पारिषद्य सेना के सचालन मे पूर्ण स्वतत्र थे किन्तु वस्त्र और भोजन के लिये धन सीनेट से ही प्राप्त कर सकते थे। युद्ध और शाति के आदेश जनसभा के अनुमोदन के बिना कार्यान्वित नही होने थे। पारिषद्यो की वार्षिक नियुक्तियां सीनेट के द्वारा होती थी किन्तु उन्हे अपने आचरण का स्पष्टीकरण जनसभा को देना पड़ता था। सीनेट के अधिकाश निर्णयो का जनसभा के अनुमोदन की आवश्यकता होती थी। सीनेट के सदस्यो को पदमुक्त करने और उनकी सपत्ति छीनने का अधिकार जनसभा को था ट्रिब्यून्स (Tribunes) के आदेश से सीनेट की बैठक सयोजित करने से रोकी जा सकती थी और यह ट्रिब्यून्स जनसभा के आदेश पर कार्य करते थे। शासन पर सीनेट का नियंत्रण दो प्रकार से होता था। सर्वप्रथम राजस्व पर सीनेट का पूर्ण नियत्रण होता था। राज्य के सभी आर्थिक कार्यो और सार्वजनिक समझौतो पर सीनेट का नियत्रण होता था। रोम के अधिकाश नागरिक या तो इन समझौतो से संबधित थे या राज्य के वैतनिक कर्मचारी थे। अधिकाश लोगो की जीविका सार्वजनिक कोष (Public Exchequer) पर निर्भर थी। अत. यह लोग सीनेट को क्रोधित करने का दुस्साहस नही कर सकते थे। दूसरा कारण यह था कि सभी न्यायाधीश सीनेट के सदस्यो मे से ही लिये जाते थे इसलिये सीनेट का सम्मान बना हुआ था।

इस संतुलन से समाज मे अधिकतम सगठन प्राप्त होता है। समाज के सभी वर्ग सतुष्ट रहते है और राज्य की सभी समस्याओ को सुलझाने मे अधिकतम सहयोग देते है। पोलीबियस लिखता है "राज्य मे जो शक्ति निर्मित होती है वह इतनी असाधारण है कि सभी वर्गो मे सामयिक आवश्यकता के प्रति अपनी संपूर्ण शक्तियो का योग देने की उत्सुक स्पर्धा के कारण हर कार्य निश्चित सफलता के साथ सपन्न होता है।" कोई भी व्यक्ति यह नही चाहता कि उसकी व्यक्तिगत तत्परता के अभाव मे राज्य की कोई योजना असफल हो। इस व्यवस्था मे रोक और सतुलन के अतिरिक्त सभी वर्गो मे राजनीतिक कार्यो मे रुचि, संतोष और सहयोग का लाभ भी प्राप्त होता है। इसके कारण समाज विरोधी और अवनतशील शक्तियो का ह्रास होता है।

अध्याय ६

सिसरो

(ई०पू० १०६ से ई०पू० १४३)

[Marcus Tullius Cicero : 106 B.C. to 143 B.C.]

प्लेटो और अरस्तू ने यूनान के पतन के लक्षण को देख, उनको रोकने के उपाय खोजने का प्रयत्न किया किन्तु समय की गति को न रोक सके, न मोड़ सके। यूनान की श्रेष्ठता के दिन समाप्त हुए और नगर-राज्यो का अस्तित्व भी मिट गया। इनके स्थान पर पहले मकदूनिया और फिर रोम के समृद्धिशाली साम्राज्यो की स्थापना हुई। राजनीतिक सस्थाओ और वातावरण मे परिवर्तन होने से राजदर्शन के स्वरूप मे भी विशाल परिवर्तन हुआ। साम्राज्य की समस्याये नगर-राज्यो से भिन्न थी इसलिये उनकी विचारधारा भी भिन्न रही। रोमन लोगो को सामने मूल प्रश्न था संपूर्ण साम्राज्य को एक ही वैधानिक व्यवस्था मे बाधे रखना। विभिन्न हिस्सो के लिये एक ही विधि की खोज करना आवश्यक था। यूनानियो का दृष्टिकोण नैतिक था। अत उसमे दर्शन और आदर्श को अधिक स्थान था, रोमन लोगो का दृष्टिकोण वैधानिक था अत उसमे व्यावहारिकता को अधिक स्थान था। यही कारण है कि रोम मे प्लेटो और अरस्तू की कोटि के दार्शनिक पैदा नही हुए किन्तु दूसरी ओर वर्तमान यूरोपीय सस्थाये यूनान की अपेक्षा रोम से अधिक प्रभावित है।

फिर भी रोम यूनान के प्रभाव मे स्वतंत्र नही था। रोम और यूनान मे आवागमन बहुत अधिक था। इसके अतिरिक्त यूनानी शिक्षको से शिक्षा ग्रहण करना रोम की साधारण प्रथा थी। यूनानी दर्शन को अपनी संस्थाओ रिवाजो और विचारो से मिश्रित करके रोम की सभ्यता ने इन्हे विधिशास्त्र के नये रूप मे यूरोप को सौंपा। रोम की यही सबसे महत्वपूर्ण देन है और मेकिलनेन के विचार मे यह "व्यावहारिक दृष्टिकोण से किसी से कम महत्वपूर्ण नही है।" रोम का दार्शनिक अनुदाय यूनान की तुलना मे नगण्य है किन्तु राजदर्शन के इतिहास मे रोम का महत्व दो कारणो से माना जाता है। अपने वृहत् साम्राज्य मे भी रोम ने यूनानी दर्शन को जीवित रखा और आनेवाली पीढियो को सौंपा। दूसरा कारण यह है कि रोम ने ही राजनीति को वैधानिक और राजनीतिक

आधार दिया। यूनानियो के लिये राजनीति का आधार नीतिशास्त्र था। उन्होने कभी वैधानिक दृष्टिकोण से संस्थाओं और समस्याओ का विवेचन नही किया। आधुनिक यूरोप ने अधिकाश संस्थाये और विधि-व्यवस्था रोम से ग्रहण की है। राज्य की आधुनिक कल्पना यूनानी की अपेक्षा रोमन कल्पना के अधिक निकट है। इसीलिये मेक्सी कहते है, "रोमन राजदार्शनिक राज्य सिद्धातो के निर्माता नही थे वल्कि प्रचारक और प्रसारक थे।... रोमन राजदर्शन का प्रभाव उसके मौलिक अनुदाय की मात्रा मे नही नापा जा सकता वल्कि शैक्षणिक शक्ति के अनुपात मे।" आधुनिक यूरोपीय सभ्यता का प्रत्यक्ष संपर्क यूनानी सभ्यता से नही रहा और न आरंभिक वर्षो मे यूनानी साहित्य पूर्ण रूप मे प्राप्त हो सका। यूनानी दर्शन का यह ज्ञान यूरोप को रोमन इतिहासकारो और साहित्यकारो से हुआ।

सिसरो रोमन युग का प्रतिनिधि विचारक है। रोमन दर्शन की सभी विशेषतायें उसके दर्शन मे स्पष्ट हो जाती है। उसका महत्व साहित्यिक राजनीतिक और वक्ता के नाते अधिक है दार्शनिक के नाते नही। उसके विचारो मे मौलिक दार्शनिकता बहुत कम पाई जाती है। सिसरो यूनानी दर्शन से वहुत अधिक प्रभावित था और उसने अपनी पुस्तको के लिये प्लेटो के ग्रन्थो के नाम ही चुने। उसकी दो प्रधान पुस्तके है डि रिपब्लिक (De Republic) और डि लेजिवस (De Legibus)। इन पुस्तको मे प्लेटो की संवाद प्रणाली (Dialogue Method) को भी अपनाया गया है। परन्तु दोनो के विचारो मे तीव्र भिन्नता है जिसका प्रधान कारण यही है कि रोम को प्राचीन यूनानी दर्शन का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से नही था वल्कि वे लोग स्टाइक और एपीक्यूरियन विचारो को ही यूनानी दर्शन मानते थे। सिसरो ने इन विचारो को अपनी आकर्षक शैली के द्वारा अमरत्व प्रदान कर दिया। सेबाइन के शब्दो मे, "एक विचार जो सिसरो के लेखो का हिस्सा बन गया पढनेवाले वर्ग के लिये भविष्य मे हमेशा के लिये सुरक्षित हो गया।'

राज्य और विधि के सवध मे सिसरो के विचार अत्यत महत्वपूर्ण है। राज्य जनता की सपत्ति है और जनता शब्द का प्रयोग संगठन के रूप मे ही किया गया है। "जनता का अर्थ मनुष्यो का किसी भी प्रकार एकत्रित हो जाना नही है वरन् वहुसख्यक लोगों का ऐसा संगठन जिसमे विधि के प्रति सामान्य स्वीकृति और हितो का सामाञ्जस्य हो।" इन शब्दो मे सिसरो ने राज्य के वैधानिक स्वरूप को प्रस्तुत किया है। राज्य मे दो चीजो का होना आवश्यक है--सामान्य हितो की भावना और एक ही विधि व्यवस्था। अरस्तू भी राज्य को ईट-पत्थर के ढेर से कुछ अधिक मानता है किन्तु अरस्तू के लिये यह अतिरिक्त लक्षण राज्य का सार्वजनिक उद्देश्य है, विधि व्यवस्था नही।

सिसरो को विशेष श्रेय इसलिये दिया जा सकता है कि उसने विधि के साथ-साथ सामान्य हितों को भी स्थान दिया है। यह व्यवहार और आदर्श का मिश्रण है; यूनानी नैतिकता और रोमन वैधानिकता का मिश्रण है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से राज्य में एक विधि का पालन आवश्यक है। कानून के बिना राज्य संभव नहीं, साथ ही आदर्श यह चाहता है कि राज्य व्यक्ति के लिये हितकारी हो। इस परिभाषा में एक तीसरा तत्व भी शामिल है कि राज्य मनुष्यों का स्वाभाविक संगठन है। राज्य के रूप में संगठित होने का कारण लोगों की निर्बलता, भय या स्वार्थ की भावना नहीं है बल्कि एक ऐसी स्वाभाविक प्रेरणा है जो हमें एक दूसरे के साथ मिलकर रहने के लिये बाध्य करती है। अन्य विचारों की तरह अरस्तू का यह विचार भी सिसरो को स्टोइक दार्शनिकों के माध्यम से मिला। सिसरो की इस परिभाषा में संविदा का भी आभास मिलता है किन्तु यह निश्चित है कि 'सामान्य स्वीकृति' का अर्थ सामाजिक संविदा से कदापि नहीं है।

प्रत्येक संगठन के पीछे एक योजना, एक पद्धति होती है। यह योजना राज्य की विधि व्यवस्था है। हितों का सामञ्जस्य मानव स्वभाव और राज्य की उपादेयता का द्योतक है। हितों का सामञ्जस्य अन्य कई संगठनों में भी पाया जाता है किन्तु वे राज्य से भिन्न हैं क्योंकि विधि की स्वीकृति उनमें नहीं है। यही राजनीतिक संगठन की विशेष योजना है। राज्यों को जनता संपत्ति कहने का अर्थ यह नहीं है कि सिसरो प्रजातन्त्रवादी था। यह आभास अवश्य मिलता है कि जनता ही राजसत्ता का उद्गम स्थल है, स्वयं संप्रभु नहीं है। शासन एक यंत्र है जो इस स्रोत से अपने अधिकार प्राप्त करता है किन्तु ये अधिकार पूर्ण या संप्रभु होते हैं। सिसरो ने न तो जनता के प्रति उत्तरदायित्व का ही उल्लेख किया है न लॉक की तरह शासन को प्रन्यास ही माना है। जनता की संपत्ति कहने का उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि शासक को प्रजा के लिये कार्य करना चाहिये। राज्य माध्यम है, साध्य नहीं। अरस्तू के वर्गीकरण को स्वीकार किया गया है। राज्य की योजना एक व्यक्ति, कुछ व्यक्ति या समूह के द्वारा कार्यान्वित हो सकती है। सिसरो ने एक व्यक्ति के शासन को राजतंत्र (Kingdom) और समूह के शासन को जनशासन (Popular Rule) कहा है। इनमें से किसी भी राज्य को शुद्ध या पूर्ण राज्य नहीं कहा जा सकता। तीनों वर्गों में अपने-अपने अवगुण पाये जाते हैं। परन्तु जब तक यह संगठन राज्य की मौलिक योजना (विधि की स्वीकृति) पर बना है शासन व्यवस्था सहनीय है। अरस्तू जिस लक्षण को राज्य की शुद्धता का आधार मानता है सिसरो उसे केवल सहनीयता का ही आधार मानता है। राजतंत्र में प्रजा को बहुत कम अधिकार होते हैं और यह राजकीय परिषदों या सभाओं में हिस्सा नहीं ले सकती। कुलीनतंत्र में भी राजनीतिक स्वतंत्रता केवल अल्पमत की धरोहर बनकर रह जाती है।

सामान्य वर्ग को राज्य के कार्यो और पदो के वितरण में कोई हिस्सा नही मिलता। प्रजातंत्र का तो आधार ही गलत है। प्रजातत्र कितना भी उदार और न्याय सगत क्यो न हो, उसे अच्छा नही कहा जा सकता। यह सामानता पर आधारित है जो एक अनुचित सिद्धांत है, क्योकि वह मनुष्यो की भिन्नता और वर्गो को मानने के लिये तैयार नही है। इन तीन वर्गो मे राजतत्र ही अधिक अच्छा है। सिसरो भी मिश्रित राज्य के सिद्धात को स्वीकार करता है और तीनो श्रेणियो के मिश्रण को उचित मानता है। मिश्रित राज्य का सबसे बडा गुण उसका स्थायित्व ही है। मिश्रित राज्य रोमन परम्परा के अनुकूल भी था। अत्याचारतत्र को सबसे अधिक निदनीय बतलाता है। राजतंत्र और अत्याचारतत्र का अतर दर्शाते हुए सिसरो कहता है राजा उस शासक को कहते है जो अभिभावक की तरह प्रजा की भलाई का ध्यान रख कर कार्य करता है और शासितो को सुरक्षित रखता है। इस प्रकार का शासन सामान्य रूप मे अच्छा होता है किन्तु इसके विकृत होने की सभावना सबसे निकृष्ट व्यवस्था है क्योकि "अत्याचारी राजा से अधिक पतित कोई अन्य प्राणी नहीं है। अत्याचारी का शरीर तो मनुष्य का होता है परन्तु उसमे जानवरो मे भी अधिक बुराइया और कमजोरिया रहती है। मनुष्य का स्वभाव दूसरो मे मिलकर रहना है और जो व्यक्ति अपने समान दूसरे व्यक्तियो पर अत्याचार करे वह मनुष्य कहलाने लायक नही है। और अत्याचारतत्र राज्य कहलाने के लायक नही है। जहा एक मनुष्य सब लोगो पर अन्याय करता हो, जहा न तो विधि के बंधन है, न स्वीकृत, न संगठन उसे राज्य किस अर्थ मे कहा जा सकता है? कुलीनतत्र और प्रजातत्र मे भी विधि की अवहेलना होने पर उन्हे राज्य नही कहा जा सकता। शासन के तीनो प्रकारो मे यह आवश्यक है कि वे विधि के अनुरूप और वैधानिकता के रक्षक हो। जनता के शासन मे जहा उनकी शक्ति सर्वोच्च हो, उन पर विधि की कोई बंधन न हो और वे अपनी इच्छानुसार कानून बना सकते हो, वह बहुमत की तानाशाही के अलावा कुछ नही। बहुमत का अत्याचारी शासन भी उतना ही भयानक और हानिकारक है जितना अत्याचारतंत्र। यदि जनता के शासन पर कोई बधन, कोई सीमा, कोई वैधानिक नियत्रण नही तो न्याय की आशा नही की जा सकती। राज्य के लिये एक अटूट और अनिवार्य विधि व्यवस्था का होना आवश्यक है। यह विधि ही सर्वश्रेष्ठ होनी चाहिये और प्रत्येक मानव अधिकारी इससे सीमित होना चाहिये। स्पष्टरूप मे सिसरो विधि-प्रधान शासन का ही समर्थन करता है। व्यक्ति का विधि से ऊपर हो जाना अन्याय का द्योतक है। शासन, चाहे वह एक व्यक्ति का हो या जनता का, असीम और निरंकुश नही हो सकता। सिसरो एक ऐसी विधि की कल्पना करता है जो शासन से, संप्रभु से, श्रेष्ठ है, उनकी शक्ति से परे है और उनको सीमित करती है। आधुनिक शब्दावली मे यह संवैधानिक विधि

(Constitutional Law) है और सिसरो का शासन संवैधानिक शासन (Constitutional Government) है। प्लेटो के 'लॉज' से विधि-प्रधान शासन की जो व्यवस्था शुरू हुई थी, वह सिसरो के दर्शन मे पूर्णरूप से स्पष्ट होती है।

पोलीबियस के माध्यम से सिसरो ने दो यूनानी विचार ग्रहण किये—राज्यो का परिवर्तन और मिश्रित संविधान। किन्तु इन दोनो सिद्धातो को न तो सिसरो ने आगे बढाया न वह इनके साथ न्याय कर सका। परिवर्तन के चक्रवाही सिद्धांत का उल्लेख वहुत संक्षेप मे हुआ है और उसकी तार्किक व्याख्या करने की कोशिश नही की गई। इसी प्रकार मिश्रित सविधान का भी गुणगान किया गया है और रोम को मिश्रित राज्य माना गया है किन्तु यह मिश्रण किस प्रकार का था या किस प्रकार का होना चाहिये, यह स्पष्टीकरण कभी नही दिया गया। अपने सभी प्रयत्नों के वावजूद भी सिसरो हमे कोई निश्चित राजनीतिक सिद्धात नही दे सका क्योकि सेवाइन के शब्दो मे, "उसमे नये सिद्धात तक पहुँचने की मौलिकता का अभाव था।" वह रोम के भौतिक वातावरण और यूनान के दार्शनिक प्रभाव के बीच भ्रमित आत्मा की तरह भटकता रहा।

सिसरो का प्रत्यक्ष संवध राज्य के सिद्धात से नही था और उसका मूल अनुदाय विधि का सिद्धात है। विधि राज्य का आधार है और अच्छे और बुरे राज्य के अंतर का मापदड भी। विधि सम्वन्धी विचार 'डि लेजिवस' मे स्पष्ट किये गये है। यद्यपि विधि की संक्षिप्त परिभाषा 'डि रिपब्लिका' मे दी गई है, "प्रकृति के अनुरूप उचित विवेक ही वास्तविक विधि है, सव व्यक्तियो मे प्राप्य स्थिर, शास्वत (विवेक) जो अपने आदेश के द्वारा कर्त्तव्य पूर्ति का आह्वान करता है और निपेध के द्वारा कपट को रोकता है।" सिसरो की यह परिभापा मानवीय या राजकीय विधि की नही है जिसे मनुष्य वनाता है वल्कि प्राकृतिक विधि की है जो विवेक के स्वाभाविक लक्षण का परिणाम है जिसे दैवी विधि कहा जा सकता है। यह प्राकृतिक विधि के स्टाइक सिद्धात का वर्णन है। सिसरो कहता है कि सामान्य रूप से हम राज्य के आदेश को ही विधि मानने लगे है किन्तु एक वुद्धिमान व्यक्ति के लिये विधि की यह परिभाषा उचित नही है। वह एक ऐसे नियम की खोज करना चाहता है जो राज्य के लिखित नियमो से ऊपर है और जिसकी स्थापना इनसे युगो पूर्व हुई थी, जो राज्य से पहले है और परे भी। मनुष्य का विवेक स्वयं ही उचित और अनुचित का अन्तर स्थापित कर लेता है। विवेक मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। अतः उचित-अनुचित का यह अंतर राज्य से पहले से है। यही प्राकृतिक विधि है। सिसरो कहता है कि मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो विवेक मे ईश्वर का हिस्सेदार है। विवेक सबसे महान् गुण है जो ईश्वर

और मनुष्य मे समान रूप से पाया जाता है। सिसरो ईश्वर की कल्पना विवेक के रूप मे ही करता है। विवेक का दूसरा अर्थ है—स्वनियंत्रण, अनुशासन या बन्धन। यह ईश्वर के इस विशाल निर्माण मे स्पष्ट है। विश्व में हर वस्तु, हर क्रिया नियमित है। प्रकृति जगत के नियम स्पष्ट और निश्चित है और कोई भी क्रिया इन नियमों का खंडन नही करती। यह ईश्वरीय विधान है। जब व्यक्ति ईश्वर के विवेक मे हिस्सेदार है तो दैवी विधि मे भी नियन्त्रित होना चाहिये। इसी विधान को सिसरो दैवी विधि या प्राकृतिक विधि कहता है। इस विधि की विशेषताये इस प्रकार बतलाई गई है। यह विधि शास्वत है, स्थायी है, एक ऐसी विधि जिस पर समय और काल का कोई प्रभाव नही पड़ता। यह हर स्थान पर और हर काल मे एक ही रूप मे रहती है। ईश्वर का रूप नही बदलता, विवेक का निर्णय नही बदलता। अत. प्राकृतिक विधि भी नही बदलती है। यह सभव नही कि प्राकृतिक विधि रोम मे कुछ हो, एथन्स मे कुछ और, आज कुछ हो, कल कुछ और। इसका अस्तित्व हर राज्य मे हर समय रहता है, चाहे हम उसका अनुभव करें या नही। यही विधि राज्य और राजकीय विधि का आधार है। यह राज्य की शक्ति से बाहर है, कोई भी राजा, सीनेट या जनसभा इसे बदलने का दुस्साहस नही कर सकती। यह विधि सर्वव्यापी है। हर व्यक्ति पर समान रूप से लागू होती है, राजा और प्रजा सभी इस विधि से शासित है। इस विधि का उल्लंघन ईश्वर के आदेश का उल्लंघन है, एक अधार्मिक कार्य है। यह विधि स्वाभाविक या प्राकृतिक है। इसे प्राप्त करने के लिये हमे न तो विधि सहिताओ का सहारा लेना पडता है, न वैधायिनी शक्ति के आदेश की प्रतीक्षा करनी पडती है। अज्ञानी पुरुष ही इसे इस प्रकार खोजते है। यह विधि मनुष्य के स्वभाव मे पाई जाती है, मनुष्य की आत्मा का स्वाभाविक गुण है। विधि की यह कल्पना स्टाइक दर्शन से प्रभावित है। सर्वप्रथम स्टाइको ने ही प्राकृतिक और सर्वव्यापी विधि का वर्णन किया जो राज्य की सीमा से परे है। सिसरो ने इस सिद्धात को स्पष्ट किया और अन्य कई विचारो को स्पष्ट करने के लिये इस सिद्धात का सहारा लिया। विधि की इस व्याख्या ने सिसरो को विश्व-राज्य की कल्पना प्रदान की। 'विधि के प्रति सामान्य सहमति' से ही राज्य बनता है किन्तु प्राकृतिक विधि के प्रति सपूर्ण विश्व की सामान्य सहमति स्वाभाविक है इसलिये हम सब और ईश्वर भी एक ही राज्य के सदस्य है। विश्व-राज्य की कल्पना आकर्षक अवश्य है किन्तु सैद्धांतिक रूप से क्रमबद्ध नही है। यदि यह विचार सत्य होते तो हमे अलग-अलग राज्यो की आवश्यकता क्यो पड़ती, राज्यो के बीच कलह और युद्ध क्यो होते है? सिसरो के इस विचार को यदि केवल आदर्श मान ले तो प्लेटो का पक्ष कुछ मजबूत हो जाता है। सिसरो के साथ इतना

स्वीकार किया जा सकता है कि सभी मनुष्य मूल रूप से समान है और यदि विश्व-राज्य की स्थापना की जा सके तो मानव जाति को अनेक चिंताओ से मुक्ति मिल जायगी। रोम जैसे विस्तृत साम्राज्य मे रहने के कारण विश्व-राज्य की कल्पना मे विश्वास करना स्वाभाविक है किन्तु इस ओर बढने के लिए कोई ठोस उपाय सिसरो ने नही बतलाया। यह सिद्धात हमे केवल मानव समानता की ओर ही ले जाता है। विश्वव्यापी विधि का सिद्धात रोम को राजनीतिक आवश्यकता थी। साम्राज्य के विभिन्न हिस्सो मे अलग-अलग प्रचलित विधि को बदलकर सपूर्ण साम्राज्य मे एक सामान्य विधि व्यवस्था लागू करना अत्यन्त आवश्यक था। यहा पर सिसरो और अरस्तू के दृष्टिकोणों में एक महत्वपूर्ण अतर दर्शाना आवश्यक हो जाता है। सिसरो का तर्क राज्य की समान सदस्यता से व्यक्ति समानता की ओर ले जाती है किन्तु अरस्तू का तर्क इसके बिल्कुल विपरीत है। अरस्तू व्यक्ति को असमानता को स्वाभाविक मानकर चलता है और सीमित नागरिकता का समर्थन करता है। प्रकृति ने मनुष्य को असमान बनाया है इसलिये सभी राज्य बनने के योग्य नही है। यह बात भी स्मरणीय है कि अरस्तू ने विवेक को सभी मनुष्यो का स्वाभाविक गुण नही माना अन्यथा दासप्रथा का समर्थन करने की आवश्यकता न होती।

सिसरो यह मानता है कि मनुष्य राज्य मे आने से पहले अनियमित जीवन व्यतीत नही करता था बल्कि उसका व्यवहार विवेक की आतरिक शक्ति से नियत्रित था। राज्य मे मनुष्य 'प्राकृतिक विधि' की भावना को लेकर प्रवेश करता है। राज्य का निर्माण इस प्राकृतिक विधि के लिये ही होता है। विधायक, शासक और न्यायाधीश सभी इस विधि को लागू करने के लिये बाध्य है। विधायक इस व्यवस्था के विरुद्ध कोई नियम नही बना सकता और न्यायाधीश के अधिकारो का स्रोत भी यही प्राकृतिक विधि है। न्यायाधीश स्वय विधि से बाध्य है और अपनी इच्छा से कोई निर्णय नही दे सकता। न्यायाधीश उन्ही कार्यो को उचित और न्याय-सगत ठहरा सकता है जो इस विधि के अनुकूल है। न्यायाधीश के हाथ बधे होते है और वह उसी प्रकार प्राकृतिक नियम के नियत्रण मे रहता है जैसे हम न्यायाधीश के नियत्रण मे रहते है। "न्यायाधीश बोलता हुआ कानून है और कानून शात न्यायाधीश।" सिसरो का एकमात्र तात्पर्य यही है कि राज्य का सपूर्ण कार्य इस प्राकृतिक विधि के अनुकूल ही होना चाहिये।

विधि की यह व्याख्या हमे अधिकारो की ओर ले जाती है। यद्यपि सिसरो ने प्राकृतिक विधि को जितना स्पष्ट करने का प्रयत्न किया उतना प्राकृतिक अधिकारो के लिये नही किन्तु अधिकारो को विधि से अलग नही किया जा सकता। विधि स्वयं अधिकार की स्थापना करती है तथा उसे स्पष्ट और ठोस स्वरूप प्रदान करती है। विधि

की व्याख्या मे सिसरो सबसे पहला प्राकृतिक अधिकार समानता को स्वीकार कर लेता है। सामान्य विधि मे बंधे होने के कारण सबके अधिकार समान है और मानव समानता एक स्वाभाविक निष्कर्ष है। सिसरो वास्तव मे अनेक आधुनिक सिद्धातो का स्रोत है; वह हमे समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के द्वार पर ले आता है। प्रकृति ने मनुष्य को समान ही नही बनाया बल्कि उन्हे बन्धुत्व के बंधन मे बाध दिया है। सभी मनुष्य ईश्वर से समानता के कारण आपस मे संबधित है। यह वर्णन भारतीय दर्शन से समानता रखता है। मानव उत्पत्ति का वर्णन करते हुए सिसरो यह मानता है कि मनुष्य जाति का निर्माण ईश्वर ने किया और उसमे सभी भौतिक तत्व शामिल करने के बाद एक अपना तत्व भी शामिल कर दिया जिसे हम आत्मा कहते है। सिसरो यह दर्शाता है कि सद्गुणी जीवन मनुष्य और ईश्वर मे समान रूप से पाया जाता है। "सद्गुण, वास्तव मे सर्वोच्च शिखर तक विकसित और पूर्ण प्रकृति के अतिरिक्त कुछ नही है, इसलिये मानव और ईश्वर मे समानना है। इस सत्य के नाते, और कौन सा नाता अधिक घनिष्ट या स्पष्ट हो सकता था।" सिसरो समानता और बंधुत्व के अंतर को स्पष्ट नही कर पाता। इसी प्रकार समानता के नैतिक और वैधानिक स्वरूप का अतर भी स्पष्ट नही कर पाया। प्राकृतिक विधि की कल्पना पर आधारित समानता नैतिक अधिक है, वैधानिक कम। प्राकृतिक अधिकार राज्य मे पूर्व होने के नाते मानव स्वतंत्रता के भी समर्थक है। मनुष्य राज्य मे कुछ (वैधानिक) मान्यताये और कुछ अधिकार लेकर आता है और इन क्षेत्रो मे वह राज्य के नियत्रण से स्वतंत्र है। यह प्राकृतिक अधिकारो की कल्पना है जिसे आगे चलकर जान लॉक ने स्पष्ट किया। मनुष्य का नैतिक अस्तित्व ही राज्य से पहले है इसलिये वह और उसके अधिकार राज्य से स्वतत्र है। सिसरो के इन विचारो का प्रभाव केवल आनेवाले समय मे ही नही बल्कि वर्तमान युग तक रहा। ईसाई धर्म की मानव समानता और आधुनिक व्यक्तिवाद का स्रोत इसी सिद्धात मे है। 'डि लेजिबस' मे सिसरो ने इस प्राकृतिक विधि के आधार पर एक नागरिक और संवैधानिक विधिसहिता की रचना करने का प्रयत्न किया है यद्यपि सिसरो की यह प्राकृतिक विधि रोमन विधि व्यवस्था से भिन्न नही है केवल उसमे कुछ परिवर्तन कर दिये गये है। प्रोफेसर डनिग का कहना है, "सिसरो की तीन पुस्तके जो हमारे सामने है, रोम की धार्मिक और राजनीतिक सस्थाओ पर टिप्पणी मे अधिक कुछ नही है।" फिर भी सिसरो के विचारो से दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष हमे प्राप्त होते हैं। पहला विचार है राज्य का वैधानिक स्वरूप जिसे हम आज तक मानते आ रहे है। विधि के बिना राज्य की कल्पना अपूर्ण है। दूसरा विचार है प्राकृतिक विधि जो राज्य की शक्ति मे परे है और ऊपर भी। यह सीमित शासन और नागरिक अधिकारो का आधार आनेवाली सदियो मे बना रहा। राज्य ही

एकमात्र विधि निर्माता नही है और नैतिक जीवन के लिये हम राज्य पर अवलंबित नही हैं। राज्य के अभाव मे जीवन अव्यवस्थित, अनियमित और अराजक नही होगा। इसलिये हर कीमत पर, अपना सब कुछ समर्पित करके भी राज्य को स्वीकार करने की आवश्यकता नही है।

सिसरो के विचार मौलिक नही है वल्कि स्टाइक विचारो को रोमन संस्थाओं के साथ मिलाने का ही प्रयत्न किया गया है। फिर भी राजदर्शन के इतिहास में उसका महत्व किसी भी दार्शनिक से कम नही है और उसका प्रभाव स्थायी रहा है। संपूर्ण मध्ययुग मे सिसरो की रचनायें चिंतन का स्रोत वनी रही। समानता और वधुत्व की भावना ईसाई धर्म मे शामिल हो जाने से मध्ययुग मे संपूर्ण यूरोप मे फैल गई। यह वात उल्लेखनीय है कि 'डि रिपव्लिक' १२वी शताव्दी से १६वी शताव्दी तक अप्राप्य रही लेकिन फिर भी मध्ययुग की रचनाओ मे सिसरो के सभी महत्वपूर्ण विचार शामिल हो गये थे और इस ग्रन्थ के अनेक अंश शामिल कर लिये गये थे। इसलिये इस काल मे भी सिसरो का प्रभाव वना रहा। सिसरो के माध्यम से ही हमे प्राचीन यूनानी विचार प्राप्त हुए। सिसरो का महत्व मेक्सी ने इन शव्दो मे दर्शाया है, "उसके (सिसरो के) विचार दूसरो से लिये गये है, लेकिन उसने उन्हें अमरत्व दिया, जो इन विचारो के सृष्टिकर्ता न दे सके थे, क्योकि उसने स्थायी साहित्य की रचना की, और एक वार कोई विचार सिसरो की रचना मे शामिल हो जाने के वाद मनुष्य जाति की शास्त्रीय अभिव्यक्ति का अग वन गया।" सिसरो के सिद्धांत मे तीन निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं – राज्य जनता की शक्ति पर आधारित है, विधि के अनुसार संचालित होना चाहिये और नैतिक आधार पर न्यायसंगत कहा जा सकता है। यद्यपि सिसरो प्रजातंत्र का समर्थक नही फिर भी यह मानता है कि हर प्रकार का राज्य अपनी शक्ति जनता से ग्रहण करता है। क्रमिक विकास मे यह विचार जनस्वीकृति और प्रजातन्त्र का समर्थक वन गया। विधि के महत्व ने राजसत्ता को सीमित करने मे महत्वपूर्ण योग दिया। विधि निर्माता होते हुए भी शासक स्वयं एक विधि से सीमित है। प्राकृतिक विधि का यह महत्व राज्य को एक नैतिक और विवेकशील आधार प्रदान करता है क्योकि प्राकृतिक विधि-विवेक की उत्पत्ति है।

रोमन विचारो का वर्णन करते हुए सेनेका (Seneca) का उल्लेख करना भी आवश्यक हो जाता है। ईसा पूर्व ४ मे उसका जन्म हुआ और ६३ ईस्वी मे देहान्त हो गया। पोलीवियस और सिसरो ने रोम के जिस संविधान की प्रशंसा की थी उस मिश्रित शासन का पतन सेनेका ने देखा। रोम का गणतन्त्र सिसरो के जीवन-काल मे ही भ्रष्ट हो चुका था, किन्तु फिर भी सिसरो को यह विश्वास था कि रोम की प्रतिभा गणतन्त्र

के माध्यम से ही पुनः प्राप्त की जा सकती है। किन्तु कुछ समय के बाद रोम में एकतंत्र की स्थापना हो गई। सिसरो गणतंत्र के अंतिम दिनो का विचारक है और सेनेका राजतंत्र के प्रारम्भिक वर्षो का। यद्यपि सेनेका भी स्टाइक विचारो से प्रभावित है और रोमन गणतत्र के युग को स्वर्णयुग मानता है किन्तु सिसरो की तरह इस बात की आशा नही करता कि गणतंत्र पुनः स्थापित करके वह प्रतिभा पुन· प्राप्त की जा सकती है। सेनेका रोम के सम्राट नीरो (Nero) के दरबार मे मंत्री था इसलिये वह रोम की प्रत्येक कमजोरी को अच्छी तरह जानता था। रोमन नागरिकों का चरित्र इतना गिर चुका था, धृणा, भ्रष्टाचार और अनाचार इतना अधिक बढ गया था कि नीरो जैसे अत्याचारी शासक के विरोध की आशा भी जनता से नही की जाती थी। रोम के निवासी नीरो के अत्याचारो को चुपचाप सहन कर रहे थे। जनसाधारण की राजनीतिक क्षमता और शासन की योग्यता से लोगो की श्रद्धा उठ चुकी थी। गणतंत्र की पुन स्थापना की बात कोई नही सोचता था। सेबाइन कहते है कि उनके सामने "प्रश्न यह नही था कि निरंकुश शासन (Despotism) होना चाहिये या नही बल्कि यह कि निरकुश शासक (despot) कौन होना चाहिये ?" ऐसे वातावरण मे राजनीतिक चितन के विकास की कोई आशा नही की जा सकती। राजनीति के माध्यम से उन्नति करने मे लोगो को विश्वास नही रह गया था और सक्रिय राजनीति मे कोई आकर्पण व गौरव नही रह गया था। कुशल और ईमानदार राजनीतिज्ञ चाहते हुए भी सामाजिक कमजोरियो को दूर नही कर सकता था क्योंकि न तो शासक उसके साथ था, न प्रजा अपनी बुराइयो को त्यागने के लिये तैयार थी। सेनेका के जीवन की यही विवशता थी, चाहते हुए भी वह कोई सुधार नही कर पा रहा था। इन परिस्थितियो मे भी ज्ञानी व्यक्ति सामाजिक समस्याओ से मुँह मोडकर निष्क्रिय तो नही बैठ सकता, न अरण्य योग (Retirement to jungle) ही ग्रहण किया जा सकता है। सेनेका ने बुद्धिजीवियो को राजनीति की अपेक्षा सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र मे ही सुधार कार्य करने का परामर्श दिया। स्टाइक दर्शन मे और सिसरो की रचनाओ मे दो पृथक विधियो और व्यवस्थाओ का उल्लेख हो चुका था—नागरिक राज्य (Civil State) जिसकी भौगोलिक सीमाये निश्चित हैं और विश्व-राज्य जो असीम है। समस्त मानव जाति और ईश्वर इस विश्व-राज्य के सदस्य है। सेनेका ने विद्यमान राज्य से विक्षुब्ध होकर इस ईश्वरीय राज्य का ही सहारा लिया। यह कोई काल्पनिक व्यवस्था नही है बल्कि सेनेका इस आधार पर राज्य और समाज का अतर करता है और सामाजिक व नैतिक जीवन मे सुधार करने का परामर्श देता है। प्राचीन व्यवस्था का वर्णन करते हुए सेनेका लिखता है, "प्राचीन स्वर्णयुग मे शासन बुद्धिमान व्यक्तियो के हाथ मे था। वे अपनी शक्ति को नियंत्रित रखते थे। और

शक्तिहीन को शक्तिशाली से सुरक्षित रखते थे ।......इनके लिये शासन एक सेवा थी, राजसत्ता का उपयोग नही । कोई शासक अपने अधिकारो का उपभोग उनके विरुद्ध नही करना चाहता था जिनसे (प्रजा) उन्हे ये अधिकार हुए थे ।" इस प्रकार के समाज मे स्वाभाविक रूप से राजनीतिक और सामाजिक उत्तरदायित्व एक दूसरे के पूरक थे । किन्तु जहाँ शासक ही भ्रष्ट हो जावे, समाज के रक्षक ही समाज के भक्षक बन जावे, वहाँ राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रो का पृथक्करण ही लाभदायक है । जो मनुष्य समाज का पथ-प्रदर्शन करता है वह शासक से महान् है क्योकि समाज का क्षेत्र राज्य से अधिक व्यापक और अधिक महत्वपूर्ण है । इस विचार मे एक महत्वपूर्ण संदेश छिपा हुआ है कि मनुष्य की सेवा ही ईश्वर की सबसे बड़ी आराधना है । यही विचार आगे चलकर ईसाई धर्म मे शामिल हो गया । सेनेका के विचारो और ईसाई धर्म के आधारो के बीच इस समानता के कारण ही सेबाइन ने सेनेका का अध्ययन चर्च के धर्मगुरुओं के साथ किया है ।

सेनेका ने मानव-स्वभाव का जो चित्रण किया है वह आश्चर्यजनक रूप से रूसो के वर्णन से मिलता है । मानव इतिहास का स्वर्णिम युग पूर्व-राजनीतिक अवस्था है । राज्य की स्थापना से पूर्व मनुष्य का जीवन मधुर, आकर्षक और शान्त था । जीवन के इस आकर्षण का कारण बौद्धिक राजनीतिक पूर्णता नही थी बल्कि बालसुलभ अज्ञान का आनन्द । मनुष्य सुखी इसलिये था कि उसे ऐश्वर्य व सभ्यता की अनावश्यक स्थिति का ज्ञान नही था, जीवन अत्यन्त सरल था और सुख आसानी से प्राप्त हो जाता था । सभ्यता के विकास से आवश्यकताये जितनी बढती जाती है सुख उतना ही कठिन होता जाता है । इस आनन्दमय अवस्था का कारण सपत्ति और लालच का अभाव है । मनुष्य मे जब तक ईर्ष्या, घृणा, स्वार्थ और अन्य बुराइया नही थी शासन की जरूरत ही नही थी किन्तु सपत्ति के साथ लालच, स्पर्धा और अनेक अवगुणो का उदय हुआ और कानून तथा राज्य की आवश्यकता हुई । यूनानियो के लिये राज्य नैतिकता का प्रतीक और पूर्णता का माध्यम था किन्तु सेनेका के लिये बुराइयों का प्रतीक है । मनुष्य की इन कमजोरियो पर रोक लगाने के लिये ही राज्य मे बल की आवश्यकता होती है । नागरिकता और नैतिकता का विभाजन शुरू हो गया किन्तु राजनीति को स्वतत्र अस्तित्व प्रदान करने के लिये नही बल्कि उसे शीघ्र ही धर्म के नये बंधन मे बाध देने के लिये । सेनेका के इन विचारो का मूल आधार उसका निराशावाद था । स्वयं ईमानदार और परमार्थी होते हुए भी सेनेका मंत्री बनकर नीरो जैसे स्वार्थी, भ्रष्ट व अत्याचारी शासक को न सीमित कर सका, न राज-नीतिक अव्यवस्था मे सुधार कर सका । नीरो की मनमानी और नागरिकों की विवशता

से हताश होकर सेनेका यह भी भूल गया कि यह अव्यवस्था, यह पतन सामयिक है ; उन्नति करना और अपने आचरण को सुधारते रहना मनुष्य का स्थायी स्वभाव है ।

सेनेका रोम की परम्परा से बिल्कुल अलग है। उसके विचारों मे न तो प्राकृतिक विधि का महत्व है, न प्राकृतिक अधिकारो का। पूर्वराजनीतिक अवस्था मे सपत्ति के अस्तित्व को न मानना भी रोम की दार्शनिक परम्परा के विपरीत है। किन्तु नीरो, जो वादशाह अपनी राजधानी को जलता हुआ देखकर भी सगीत मे मग्न रहे उसके मंत्री मे राज्य की परम्पराओ के प्रति क्या सम्मान रह सकता है ? जहा शासक ही भक्षक वन जाये विधि का गुणगान किसे अच्छा लगेगा ? सेनेका के विचार पलायनवाद के स्पष्ट प्रमाण है। राजनीति, राज्य-विधि सब से आस्था उठ जाने के वाद सेनेका ने मानव सुख का नया मार्ग खोजना चाहा। राज्य से विलग होकर भी हम अपने सुख, अपने विकास और नैतिक सुधार के लिये कार्य कर सकते है। मूल रूप से सेनेका नैतिक-सुधारक है, राजनीति का दार्शनिक नही, फिर भी उसके विचार आनेवाले युग की झाकी प्रस्तुत करने है जहा मनुष्य के कल्याण की खोज राज्य के क्षेत्र से वाहर की गई। भ्रष्ट राज्य की शक्ति का क्रमश पतन होता गया, राज्य का महत्व कम होता गया और सदियो तक राज्य धार्मिक सगठन के अधीन वना रहा और शासक धर्म-गुरुओ के हाथ की कठपुतली वने रहे। राज्य को अपनी शक्ति पुन प्राप्त करने के लिये संघर्ष करना पड़ा। चर्च ने मनुष्य को कल्याण का मार्ग दर्शाया और उन्हे दूसरे जीवन मे मुक्ति प्राप्त करने का साधन प्रदान किया। राजनीति दर्शन के इतिहास मे सेनेका का उल्लेख इसलिये महत्वपूर्ण हो जाता है कि उसके विना उस परिवर्तन को नही समझा जा सकता जो रोमन युग से मध्य युग मे हुआ। सेनेका का दर्शन राजदर्शन के इतिहास मे अधकारपूर्ण युग के आने की चेतावनी है।

रोम के महत्व का सही मूल्याकन रोम के विधिशास्त्रियो के अध्ययन के विना नही किया जा सकता है। वर्तमान युग को रोम की मूल देन विधि है, राजदर्शन नही। रोम के विधिशास्त्री सही अर्थ मे दार्शनिक नही थे। उनका क्षेत्र विधियो का सकलन और व्याख्या करना था किन्तु इस व्याख्या मे अनेक राजनीतिक विचारो का स्पष्टीकरण हुआ और राज्य का नया स्वरूप निर्मित हुआ। नैतिक सस्था के स्थान पर राज्य वैधानिक संस्था वन गया। राज्य के इस वैधानिक स्वरूप से ही हम परिचित है और रोमन विधिशास्त्र (Jurisprudence) पर ही आधुनिक यूरोप की विधि और न्याय व्यवस्था निर्मित है। सेबाइन का विचार है कि रोम के विधिशास्त्रियो के प्रभाव से "विधि-युक्त तर्क – व्यक्ति के अधिकार और शासको के न्यायसगत अधिकार के रूप मे तर्क – राजनीतिक सिद्धांत की सर्वस्वीकृत प्रणाली वन गई।" इन विधिशास्त्रियो की

रचनाये ५३३ ईस्वी में सम्राट जस्टीनियन ने संकलित कराई थीं यद्यपि इनका निर्माण ईसा के वाद दूसरी और तीसरी शताब्दी मे कुछ विद्वान विधिशास्त्रियों के द्वारा किया गया था। यह विधियाँ किसी शासक द्वारा निर्देशित या निर्मित नहीं थी।

रोमन राज्य के आरंभिक दिनों में धर्म ही विधि का स्रोत था किन्तु जैसे-जैसे रोमन साम्राज्य का विस्तार होता गया, नई जातियां और नये धर्म राज्य मे शामिल होते गये, विधि को अधिक व्यापक आधार की आवश्यकता हुई जिसे ये नये वर्ग भी स्वीकार कर सकें। गेयस (Gaius), मारसियन (Marcian) तथा अन्य कई विधिशास्त्रियो ने यह आधार निर्धारित किये किन्तु वे सिसरो के विचारो से इतने अधिक प्रभावित थे कि इनके विचारो मे अधिकतर सिसरो के विचारो की पुनरावृत्ति पाई जाती है। अनेक धर्मसप्रदायो को एक ही कानून के अतर्गत लाने के लिये धर्म के स्थान पर विवेक को विधि का आधार मानना आवश्यक हो गया। विभिन्न मान्यताओ को एक सत्ता के अतर्गत लाने के लिये सिसरो और स्टाइक विचारधारा का सहारा लिया गया जिन्होने विश्ववन्धुत्व का प्रचार किया था। विवेक सपूर्ण मानव समूह क: सामान्य लक्षण है। मनुष्यो का धर्म चाहे जो भी हो विवेक के आदेश सवके लिये सम ़न होते है इसलिये एक व्यापक समाज मे एकता का आधार विवेक ही हो सकता है।

रोमन विधिशास्त्रियो ने सामान्य रूप से तीन प्रकार की विधियो का उल्लेख किया है। सवसे पहले नागरिक विधि (Jus Civil) है, जो शासक या संप्रभु के द्वारा वनाई जाती है और किसी विशेप राज्य की सीमा मे ही प्रचलित होती है। दूसरी अंतर्राष्ट्रीय विधि (Jus Gentium) और तीसरी प्राकृतिक विधि है (Jus Naturale)। सिसरो ने अतिम दो वर्गो को समरूप माना है, जो प्राकृतिक है वह सर्वव्यापी है, शास्वत है, देश और काल मे परिवर्तित नही होती। यही विधि समस्त राष्ट्रो मे समान रूप से प्रचलित है। वाद मे आनेवाले विधिशास्त्रियो ने इन दोनो मे अतर स्थापित किया यद्यपि यह अंतर पूर्णरूप से स्पष्ट नही हो सका है। दो अलग नामो के प्रयोग के वारे मे जार्ज सेवाइन का यह यह विचार है कि आरभिक अवस्था मे 'अतर्राष्ट्रीय विधि' शब्द विधिशास्त्रियो के साथ अधिक लोकप्रिय था और 'प्राकृतिक विधि' का प्रयोग दार्शनिको के साथ। इन दोनो का अर्थ ऐसे नियमो से था जो राजकीय सीमा को तोड़कर संपूर्ण मानवजाति पर समान रूप से लागू होते है। इन दोनो वर्गो का अतर ईसा के वाद तीसरी शताब्दी मे अल्पियन (Ulpian) के साथ शुरू होता है। अतर करने का मूल आधार नैतिक और सामाजिक व्यवस्था की आलोचना थी। प्राय. सभी रोमन राज्यो मे दास प्रथा प्रचलित थी और न्यायसगत भी मानी जाती थी जवकि विवेक के आधार पर इसे उचित नही दर्शाया जा सकता था। इसका अर्थ यही हुआ कि जो

नियम सभी जातियो मे प्रचलित है वह हमेशा विवेकशील नही होता, जो विवेकशील नही है वह प्राकृतिक विधि नही कही जा सकती। अंतर्राष्ट्रीय विधि भी अनुचित और विवेकहीन हो सकती है इसलिये दोनों के बीच अंतर किया गया। अंतर्राष्ट्रीय विधि वह नियम है जो सभी राज्यो मे समान रूप से पाये जाते है और प्राकृतिक विधि वह जो विवेक के आधार पर होना चाहिये। किसी राज्य मे प्राकृतिक विधि का प्रचलित होना आवश्यक नही है, यह वास्तव मे एक नैतिक व्यवस्था है। सभी नियमो से श्रेष्ठ एक विवेकशील, शास्वत और सर्वव्यापी विधि है जो अन्य नियमों का स्रोत भी है। राज्य की विधि को हम इसी विधि के अधिक से अधिक अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते है। यह विचार निश्चित और स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया गया कि यदि राज्य की कोई विधि प्राकृतिक विधि के अनुकूल नही है तो वह अनुचित है और उसमे परिवर्तन कर देना चाहिये। विवेकशील आधार पर इन विधिशास्त्रियो ने प्राकृतिक विधि की एक सूची तैयार करने का प्रयास किया। इस सम्प्रदाय मे यह विश्वास प्रचलित रहा कि नागरिक विधि का स्रोत प्राकृतिक विधि है और शासक के अधिकार प्राकृतिक विधि से सीमित हैं। सिसरो की तरह ये विधिशास्त्री भी यह मानते थे कि राजा की शक्ति जनता से प्राप्त की गई है और राज्य जनता की सपत्ति है किन्तु अत्याचारी शासन के प्रतिकार का उल्लेख इन विचारो मे नही पाया जाता।

रोमन युग मे राज्य का इतिहास एक नये अध्याय मे प्रवेश करता है। राज्य का अस्तित्व यूनानी युग मे नैतिक जीवन के कारण था और राजनीतिक शक्ति नैतिकता से सीमित थी। नगर-राज्य के सरल जीवन मे नैतिक भावना अधिक शक्तिशाली थी किन्तु रोम के विशाल साम्राज्य मे यह सभव नही था। नगर के जीवन मे व्यक्तिगत संपर्क के कारण सामाजिक व्यवस्था और नैतिक भावना अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। यूनानियो के लिये राज्य शासक नही, निर्देशक था। रोम के विशाल साम्राज्य मे व्यक्तिगत सपर्क का महत्व कम हो गया, एक ही राज्य मे अनेक धर्म और सामाजिक व्यवस्थाये शामिल हो गई जिनके नैतिक नियम और विश्वास भी अलग-अलग थे। सपूर्ण साम्राज्य मे केवल एक ही शक्ति उभयनिष्ठ थी—राजनीति शक्ति। इसलिये नैतिक और सामाजिक बंधनों की अपेक्षा राजनीतिक बन्धनो का महत्व बढ गया। राज्य का आधार बदल गया। राज्य विधि पर आधारित है और विधि से ही सीमित है। शासक विधि निर्माता होते हुये भी स्वयं एक श्रेष्ठ विधि से सीमित है इसलिए प्राकृतिक विधि के सिद्धात को स्वीकार करना और स्पष्ट करना आवश्यक था। रोमन विचारको ने दो विधि व्यवस्थाओ की आवश्यकता महसूस की। एक ऐसी विधि जो संपूर्ण साम्राज्य मे स्वीकृत हो सके, साम्राज्य के सभी निवासियो की मान्यताओ के अनुकूल हो और

दूसरी ऐसी विधि जो विधि निर्माता को भी सीमित कर सके। इसके अतिरिक्त दोनो विधियो में सामञ्जस्य भी आवश्यक है। इन सभी समस्याओ का हल यूनानी दर्शन मे प्राप्त हुआ। स्टाइक विचारको ने प्राकृतिक विधि और विश्वबंधुत्व का उल्लेख किया था जिसका आधार विवेक था और इनमे भी पहले प्लेटो और अरस्तू यह स्वीकार कर चुके थे कि 'विधि शुद्ध विवेक है।' रोमन विधिशास्त्रियो ने इस प्राकृतिक विधि को रोमन विधि मे मिश्रित करने का प्रयत्न किया। रोमन विचारकों के सामने अनेक ऐसे प्रश्न उपस्थित थे जिनका यूनानी जीवन मे कोई अस्तित्व नही था। निश्चित विधि, व्यक्तिगत अधिकार, सप्रभुता, संवैधानिक विधि और सामाजिक समझौते के विचार रोमन युग की महत्वपूर्ण देन हैं। एक ओर रोमन विचारको ने राज्य को विधिनिर्माता बनाया जो स्वरूप उसे यूनानी युग मे कभी प्राप्त नही था, विधि को निश्चित स्वरूप और ठोस आधार प्रदान किया। दूसरी ओर व्यक्तिगत अधिकार और सीमित शासन का विचार भी ग्रहण किया। प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त ने यह विचार प्रदान किया कि राज्य एकमात्र विधि दाता नही है और मनुष्य शान्त और व्यवस्थित जीवन के लिए राज्य पर पूर्ण से निर्भर नही है। मनुष्य मे विवेक है जो उसे विधि प्रदान करता है और विधि दैवी है। राज्य से पहले भी मनुष्य को यह विधि प्राप्त थी और पूर्वराजनीतिक अवस्था मे जीवन अनियमित, अव्यवस्थित और अराजक नही था इसलिये राज्य को बनाये रखने के लिये अपने सारे हितो और अधिकारो का समर्पण करना आवश्यक नही है। हॉब्स ने जिन आधारो पर निरकुश एकतत्र का समर्थन किया उनके खंडन की पूर्ण सामग्री रोमन विधिशास्त्र मे उपस्थित है। यद्यपि रोमन विचारको ने स्पष्ट रूप से सामाजिक सविदा को स्वीकार नही किया फिर भी वे यह मानते है कि मनुष्य राज्य मे कुछ विधिया लेकर प्रवेश करता है। अत राज्य की शक्ति का सीमित होना और कुछ मूल अधिकारो की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। इन सभी विचारो का समकालीन प्रभाव जो भी रहा हो, वर्तमान युग इन विचारो से अत्यधिक प्रभावित है। वर्तमान युग मे राज्य के जिस निगमात्मक (Corporate) स्वरूप को स्वीकार किया जाता है वह रोमन विधिशास्त्र की ही देन है। रोमन विधि मे राज्य के व्यक्ति पर और व्यक्ति के राज्य के विरुद्ध अधिकारो का वैधानिक स्पष्टीकरण किया गया। गैटिल के शब्दों मे, रोमन विधि मे "राज्य एक वैधिक व्यक्ति (Legal Person) है जिसकी सत्ता की निश्चित सीमाये हैं, और हर नागरिक एक विधिक व्यक्ति है जिसके अपने अधिकार है जिनकी रचा अन्य व्यक्तियो और सरकार के अवैध आक्रमण से की जानी चाहिये।"

निश्चित विधि (Positive Law) भी रोम की एक महत्वपूर्ण विधि है। यूनानी ग्रन्थो मे न तो निश्चित विधि का उल्लेख मिलता है, न यूनान के नगर-राज्य विधि निर्माता कहे जा सकते है। जीवन का दृष्टिकोण नैतिक था और अधिकाश लोग नैतिक नियमो का पालन स्वभावत: करते थे क्योकि यह सद्गुणी जीवन का मार्ग था। प्लेटो की 'लॉज' मे अवश्य विधि प्रधान राज्य का उल्लेख मिलता है किन्तु न तो विधि को निश्चित किया गया है न शासक को विधि निर्माण का कार्य ही सौपा गया। रोमन सभ्यता के आरम्भिक दिनो मे भी विधि का आधार धर्म और परम्पराओ को माना जाता था किन्तु ईसा से ४५० वर्ष पूर्व ही प्रचलित विधियो को सकलित करने का पहला प्रयास किया गया। सभी विधियो को वारह अभिलेखो (Twelve Tables) मे सकलित कर दिया गया और इसके साथ ही निश्चित विधि (Positive Law) का युग आरभ होता है। यद्यपि इन अभिलेखो मे केवल परम्परागत नियमो को ही शामिल किया गया था किन्तु निश्चित, स्पष्ट और सहित (codified) विधि का यह आरम्भ माना जा सकता है। इन विधियो का उल्लघन राज्य के द्वारा दडंनीय वन गया और राज्य को इन विधियो की व्याख्या का अधिकार प्रदान किया गया। इस प्रकार राज्य विधि का संरक्षक बन गया और कालातर मे निर्माता भी बन गया। निश्चित विधि का निर्माण हुआ और उसका निर्माता सप्रभु वन गया। आधुनिक युग को रोम की यही सवसे महत्वपूर्ण देन है। यूरोप ने अपने विधि सिद्धात और सप्रभुता तथा राजनीति सस्थाओ के आधार रोम मे ही प्राप्त किये और सपूर्ण विश्व को प्रदान कर दिये। यद्यपि रोम की अपेक्षा यूनान मे दार्शनिक प्रतिभा अधिक थी किन्तु वर्तमान सस्थायें और मान्यताये यूनान की अपेक्षा रोम के अधिक निकट है। यूनानी नगर-राज्यो की अपेक्षा रोमन साम्राज्य की सस्थाये और विचार विशाल और बहुजातीय राज्य के लिये अधिक उपयोगी है। यूनान के जीवन और दर्शन मे असमानता बौद्धिक श्रेष्ठता की भावना अधिक महत्वपूर्ण थी, रोम ने समानता और वधुत्व का प्रचार किया जो आधुनिक राज्यो के अनुकूल है इसीलिये गैटिल ने लिखा है कि यूनान के बाद 'आधुनिक लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रीय राज्यों के विकास से पहले रोम का कार्य आवश्यक था।"

—:o:—

अध्याय ७

पोपतंत्र का उदय

(Rise of Popacy)

रोमन साम्राज्य के विघटन और रोमन प्रतिभा के अवसान के बाद यूरोप में एक नया युग प्रारंभ होता है जिसमें ईसाई धर्म और संस्थाओं का अनुदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। नीरो के शासन काल में जनता सम्राट के कुशासनों से त्रस्त थी, सेनेका और रोम के विचारक जनकल्याण की ओर राजनीति से हटकर अन्यत्र सोचने की सलाह दे रहे थे और दूसरी ओर रोम में ईसाई धर्म का प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था। रोमन धर्म कई ईश्वरों में विश्वास करता था और हर काम के लिये एक अलग देवता पूजते थे। ईसाई धर्म एकेश्वरवाद का समर्थक था, मानव समानता का प्रचारक था और रोम की त्रस्त जनता को स्वर्ग का स्वप्न दिखला रहा था। ईसा के समर्थकों पर जितने अत्याचार किये गये, ईसाई धर्म का प्रचार उतना ही अधिक हुआ। महात्मा ईसा के विचारों के प्रचार से रोम की धार्मिक भावनाओं में इतना परिवर्तन हुआ किन्तु संस्थाओं पर ट्यूटन बर्बर विनाश का प्रभाव हुआ। फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि रोमन सभ्यता का अंत हो गया। जैसा कि सेबाइन ने लिखा है, वास्तव में "रोमन और ईसाई विचारों और संस्थाओं का मिश्रण इस प्रकार हुआ कि पाश्चात्य विश्व की सामाजिक और राजनीतिक गति को नई राह मिली।

ईसाई धर्म के विस्तार के इतिहास से हमारा प्रत्यक्ष संबंध नहीं है और न यहां विस्तार पूर्वक उसका अध्ययन ही किया जा सकता है। फिर भी राजदर्शन या राजनीतिक संस्थाओं का इतिहास ईसाई धर्म के उल्लेख के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। जैसा जार्ज सबाइन ने लिखा है, "राज्य से स्वतंत्र, मानव के धार्मिक हितों का नियंत्रण करने वाली संस्था के रूप में ईसाई चर्च का उद्भव राजनीति और राजदर्शन के लिये पाश्चात्य यूरोप के इतिहास में सबसे क्रांतिकारी घटना कहा जा सकता है।' ईसाई धर्म ने जिन सिद्धांतों का समर्थन किया वे पूर्ण रूप से नये नहीं थे बल्कि रोमन और स्टाइक विचारों की ही देन थे। स्टाइक लोगों की तरह ईसाई प्रचारक भी प्राकृतिक विधि, विश्व-राज्य, मानव समानता और विश्व-बंधुत्व का समर्थन करते हैं। नवीन इच्छा पत्र (New Testament) में ही ईसाई धर्म के तीन आधारभूत सिद्धांतों का उल्लेख

मिलता है । सर्वप्रथम रोमन प्राकृतिक विधि का प्रभाव हमे मिलता है । मानव आचरण के कुछ ऐसे नियम है जो मनुष्य अपनी अतरात्मा या अपने विवेक मे ही प्राप्त करता है । सत पाल ने गैर-यहूदियो का वर्णन करते हुए कहा कि वे स्वभाव मे ही विधि द्वारा निर्देशित है । समानता और विश्व-बधुत्व के स्टाइक विचारो का प्रभाव भी स्पष्ट रूप मे मिलता है । ईसाई धर्म यह मानता है कि ईसाई धर्म को मानने वाले सभी लोग एक ही पिता की सतान है इसलिये एक समान है । ईसाई धर्म का तीसरा सिद्धात है राज्य की दैवी उत्पत्ति । विधि का पालन केवल राजनीतिक, नैतिक या सामाजिक कर्त्तव्य नही है बल्कि धार्मिक कर्त्तव्य है ।

आरभिक वर्षो में ईसाई धर्म राजनीति से अलग था और सत्ता मे उसका कोई विरोध नही था । क्राइस्ट ने स्वय कहा था, "वह चीजे जो सीजर की है सीजर को सौंप दो, और जो ईश्वर की है ईश्वर को सौंप दो ।" महात्मा ईसा ने शासक के विरुद्ध किसी भी षडयत्र मे शामिल होने मे इन्कार कर दिया था । सत पाल ने भी कहा कि दुनिया मे जो शक्तिया है सब ईश्वर की दी हुई है, अत राजा की शक्ति का विरोध भी अधर्म है और दैवी प्रकोप का शिकार होगा । राजनीतिक शक्ति मानव स्वभाव की बुराइयों को रोकने के लिए है इसलिये जो बुरा कार्य नही करते उन्हे राज्य मे भयभीत होने की आवश्यकता नही है । सत पाल ने स्पष्ट रूप मे राजा को "ईश्वर का मंत्री कहा जिसे बुराइया रोकने की शक्ति दी गई है ।" यह विचार रोमन सिद्धात का विरोधी है । रोमन लोग राज्य को जनता की शक्ति से उत्पन्न मानते थे जबकि ईसाई धर्म ने इस शक्ति का स्रोत ईश्वर को माना । यूरोप मे ईसाई धर्म ही दैवी उत्पत्ति के सिद्धात और राजा के ईश्वरीय अधिकारों का प्रणेता है । ईसा के बाद ५४ से ३२३ के बीच ईसाई धर्म एक धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन बन गया । ईसाई धर्म का मुक्ति सदेश रोमन साम्राज्य की गरीब और आक्रान्त जनता को आकर्षित करने मे सफल हुआ । रोमन शासक सीजर के प्रति पूर्ण निष्ठा चाहते थे और ईसाई धर्म ईश्वर को सर्वोच्च शक्ति मानता था । इस प्रकार रोमन शासकों ने ईसाइयो के धार्मिक विश्वास को राजद्रोह और ईसाइयो ने रोमन शासको की राजनिष्ठा को अनीश्वरवाद और अधर्म मानना शुरू कर दिया । ईसाई धर्म के प्रचारकों ने यद्यपि राज्य की अवज्ञा का प्रचार कभी नही किया फिर भी जनता की निष्ठा को विभक्त अवश्य कर दिया । सीजर को उसका हिस्सा देने के लिये तो तैयार थे किन्तु ईश्वर का हिस्सा भी चाहते थे और ईश्वर राजा के ऊपर है, इस भावना को रोम के सम्राट सहन नही कर सकते थे ।

रोमन और स्टाइक सिद्धातो का समर्थन ईसाई धर्म को प्राप्त हुआ । दोहरी विधि व्यवस्था के आधार पर प्रत्येक मनुष्य दो राज्यो का सदस्य है । यह रोमन सिद्धान

व्यावहारिक रूप मे परिणित किया जाने लगा और दैवी विधि के अनुरूप दैवी राज्य का उल्लेख किया जाने लगा। धीरे-धीरे दैवी राज्य का स्थान चर्च ने ही ले लिया। जैसे जैसे चर्च का संगठन मजबूत होना गया और ईसाई धर्म की लोकप्रियता बढ़ती गई एक नया प्रश्न सामने आता गया। चर्च और राज्य के संबंधो को संतुलित और निर्धारित करने की आवश्यकता महसूस होने लगी। चर्च की लोकप्रियता के विस्तार का अर्थ था राज्य के प्रति निष्ठा का विभाजन। मानवीय शक्ति की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति का पालन अधिक आवश्यक है। राज्य केवल इस जीवन पर अधिपत्य रखता है परन्तु धर्म आने वाले जीवन पर भी। धार्मिक कार्य मे मानवीय शक्ति का हस्तक्षेप अपेक्षित नही था इसलिये चर्च ने धार्मिक क्षेत्र मे स्वतंत्रता की कामना की। यह राज्य की शक्ति को सीमित करने का और एक निश्चित क्षेत्र मे राज्य मे स्वतंत्रता मागने का पहला प्रयास था और आगे चलकर चर्च ने यह स्वतन्त्रता प्राप्त भी कर ली। राज्य की शक्ति को इस प्रकार सीमित करने का यह प्रयास अत्यत महत्वपूर्ण है। सेवाइन के विचार से तो 'यदि नैतिक और धर्मिक सस्थाओं की कल्पना राज्य और वैधानिक बधनो से स्वतंत्र और परे न की गई होती, तो इस बात की कल्पना करना कठिन है कि यूरोपीय राजदर्शन मे स्वतन्त्रता वह हिस्सा ले सकती है जो उसने लिया।''

रोम का साम्राज्य विच्छिन्न होने से अनेक छोटे और कमजोर राज्यो की स्थापना हुई। ऐश्वर्य, भ्रष्टाचार और आपसी कलह मे साम्राज्य की शक्ति कमजोर पड़ती जा रही थी और राजसत्ता समाज मे स्थाई व्यवस्था बनाये रखने मे कठिनाई महसूस कर रही थी। दूसरी ओर चर्च मे विश्वास और धर्मगुरुओ के आदेशो के पालन की भावना बढ रही थी। राजसत्ता का आदर और कानून का पालन ईसाई धर्म ने आरम्भ से ही लोगो को सिखाया। इसीलिये कमजोर शासक जो स्वयं जनता से आज्ञा पालन प्राप्त नही कर सकते थे चर्च पर निर्भर होते गये। चर्च को राज्य का समर्थन और स्वीकृति ३१३ ईस्वी मे प्राप्त हुआ। सम्राट कान्सटेन्टाइन (Constantine) ने स्वयं ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। रोम का पहला सम्राट ईसाई धर्म मे शामिल हुआ। ३८० ईस्वी मे सम्राट थियोडोसियस ने ईसाई धर्म को राज्य का एकमात्र धर्म घोषित कर दिया। सम्राट के ईसाई बन जाने के बाद यह आवश्यक हो गया कि वह चर्च की रक्षा करे और धार्मिक सिद्धातो व कार्यो में हस्तक्षेप न करे। यह भी आवश्यक हो गया कि धार्मिक विश्वासो की जो टीका धर्मगुरु करे उन्हे राजा स्वीकार करे। एक छोटे से क्षेत्र मे ही सही सम्राट की निरंकुश शक्ति भी दूसरे से आदेश ग्रहण करने लगी। एक ही समाज मे दो पृथक शक्तियो का निर्माण हुआ—राज्य और चर्च। राज्य का कार्यक्षेत्र भौतिक जीवन से संबन्धित था और चर्च का क्षेत्र आध्यात्मिक जीवन

था। यद्यपि दोनो संस्थाएँ एक दूसरे पर निर्भर थी किन्तु वे अपने क्षेत्र मे एक दूसरे का हस्तक्षेप नही चाहती थी। ऐसी स्थिति मे दोनो शक्तियों का टकराना स्वाभाविक था और आनेवाले वर्षो का इतिहास चर्च और राज्य के सघर्ष का इतिहास बन गया।

चर्च के शक्तिशाली बनने का एक महत्वपूर्ण कारण था धार्मिक शक्तियो का रोम की चर्च के अंतर्गत केन्द्रित हो जाना। अनेक कारणो से रोम नगर की चर्च और पोप का महत्व बढता गया और क्रमशः यूरोप मे चर्च एक निश्चित संगठन के रूप में स्थापित हो गई। रोम की चर्च की स्थापना स्वय सत पीटर ने की थी; अतः उसका महत्व अन्य किसी चर्च की अपेक्षा अधिक माना जाता था। इसके अतिरिक्त रोम साम्राज्य शक्ति का केन्द्र था और धार्मिक मामलो मे सम्राट चर्च की सलाह जब भी चाहता था रोम नगर की चर्च और पोप से सपर्क स्थापित करना अधिक सरल था। राजधानी की चर्च होने के नाते रोम की चर्च साम्राज्य के धार्मिक सगठन का केन्द्र बन गई और अन्य सस्थाओ का निर्देशन करने लगी। साम्राज्य के विघटन के समय रोम का पोप ही एक ऐसा अधिकारी था जिसके आदेशो का पालन व्यापक रूप से किया जाता था और जो अराजकता को रोकने मे समर्थ था। साम्राज्य की शक्ति के ह्रास के अनुपात मे ही चर्च की शक्ति बढती गई। ४७६ ईस्वी मे रोम का राजनीतिक साम्राज्य समाप्त हो गया किन्तु धार्मिक साम्राज्य की स्थापना पहले ही हो चुकी थी। इस समय तक रोम के पोप शासक समान शक्ति प्राप्त कर चुके थे और पाश्चात्य यूरोप के चर्च सगठन पर पोप का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। रोम के पोप का चुनाव ईसाई धर्मगुरुओ की एक समिति के द्वारा किया जाने लगा था और वह एक शासक की भाति सभी चर्च संस्थाओ को आदेश देने लगा था। सभी धर्मावलबियो के लिये वह ईश्वर का आदेश प्रदान करता था और ईश्वरीय विधि की व्याख्या करता था। ईसाई लोग राजा के आदेशो की अवहेलना कर सकते थे किन्तु पोप के आदेशो की नही। जो शक्तिया सम्राट के हाथ से निकलती गई उनका बड़ा हिस्सा रोम के पोप को प्राप्त होता गया। कुछ समय के बाद यूरोप मे पोपतंत्र की स्थापना हो गई। पोप शासक से अधिक शक्तिशाली बन गये और केवल धार्मिक ही नही बल्कि राजनीतिक शक्ति का भी प्रयोग करने लगे। रोमन चर्च की शक्ति के और भी अनेक कारण थे। कान्सटेन्टाइन के ईसाई बन जाने के बाद पादरी लोगो की प्रतिष्ठा बढ गई और प्रत्येक नगर मे पादरी श्रेणियाँ बन गई जिनमे बिशप (Bishop) श्रेष्ठ था। रोम का बिशप धार्मिक मामलो मे सम्राट का स्थायी सलाहकार था अत. अन्य नगरो के बिशप की तुलना मे वह अधिक श्रेष्ठ बन गया और पोप कहलाया जाने लगा। पश्चिमी यूरोप के नगरो मे चर्च की स्थापना रोमन चर्च के तत्वावधान मे हुई थी और उन्हे रोमन चर्च से आर्थिक सहायता भी प्राप्त थी ; इसलिये

वे स्वाभाविक रूप से रोमन चर्च के अधीन थी। निकटवर्ती बर्बर जातियों में ईसाई धर्म का प्रचार रोम के प्रचारकों ने किया। अतः सभी बातों के लिये रोम इन प्रचारकों का केन्द्र था। जब संपूर्ण ईसाई सघटनों का एकीकरण हुआ तो चर्च भी राज्य के समानान्तर संघटन बन गया और शक्तियो की क्रमिक श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गई। सम्राट ने धार्मिक मामलो मे रोम के पोप को अपील सुनने का अंतिम अधिकार प्रदान कर दिया जिसके कारण वह चर्च का प्रधान ही नही बन गया बल्कि अपने आप को धार्मिक संगठन का शासक समझने लगा। सम्राट ने रोम को छोड़कर कुस्तुनतुनिया (Constantinople) को अपनी राजधानी बना लिया जिसके परिणाम स्वरूप रोम के पोप को साम्राज्य के पश्चिमी हिस्से मे कार्य करने की अधिक स्वतंत्रता मिल गई। सातवी शताब्दी मे पूर्व की ओर से साम्राज्य पर आक्रमण होने लगे जिसके कारण सम्राट सुरक्षा मे अधिक व्यस्त हो गया और पश्चिमी प्रान्तो के शासन की ओर ध्यान देने का अवसर उसे नही मिलता था। इन प्रान्तो मे रोम का पोप ही राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करने लगा। साम्राज्य का विभाजन हो जाने से चर्च मे भी दो शक्तियां हो गई। कुस्तुनतुनिया का पोप चर्च का सर्वोच्च अधिकारी बनना चाहता था। पूर्वीय प्रदेशों मे उसका समर्थन अधिक था किन्तु धार्मिक विश्वास रोम के पक्ष मे थे जहाँ संत पाल और संत पीटर ने धर्म का प्रचार किया था। पश्चिम की बर्बर जातियो ने जब इटली और रोम पर आक्रमण किये तो सभी स्थानो पर चर्च और धार्मिक सपत्ति को कोई नुकसान नही पहुँचाया, फलस्वरूप चर्च की प्रतिष्ठा और भी बढ गई। पोपतत्र की इस स्थिति के कारण चर्च और राज्य के बीच शक्ति का विवाद शुरू हुआ। चर्च के अधिकारियो ने राज्य के कार्यक्षेत्र मे हस्तक्षेप शुरू कर दिया और शासक चर्च के कार्यो मे न तो हस्तक्षेप कर सके न पोपतत्र को सीमित करने मे ही सफल हुए। पोपतंत्र का ह्रास अंत मे अपने ही आतरिक सघर्ष से हुआ। गैटिल का यह विचार है कि यूरोप में चर्च का प्रभाव पश्चिम मे अधिक बढा क्योंकि इस क्षेत्र मे बर्बर आक्रमणो के परिणाम स्वरूप रोम की राजनीतिक संस्थाये समाप्त हो गई और समाज मे एकता और व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व चर्च पर ही आ गया। चर्च को शासन मे हस्तक्षेप करना पडा और स्वयं भी सत्ता का प्रयोग करना पड़ा। पूर्व मे राजनीतिक सस्थाओ का अंत नही हुआ, अतः वहां चर्च अधिक शक्तिशाली नही हो सकी। ईश्वरीय राज्य की कल्पना ने चर्च को राज्य के समानान्तर संगठन बनाने मे महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। रोम का विशाल साम्राज्य विघटित हो गया और विश्व-राज्य एवं विश्व-बन्धुत्व की कल्पना को साकार न कर सका किन्तु एक अन्य विधि और एक अन्य राज्य का उल्लेख रोम के प्राचीन ग्रन्थो मे मिलता है—दैवी विधि और दैवी राज्य। विश्वबन्धुत्व की कल्पना

ने चर्च के संगठन में प्रश्रय लिया और पवित्र रोमन साम्राज्य का वर्णन किया जाने लगा।

प्रारंभिक प्रचारक :—कान्सटेन्टाइन के द्वारा वैधानिक स्वीकृति मिल जाने के बाद ईसाई धर्म मे उन सिद्धातों का प्रतिष्ठान हुआ जो आगे चलकर राज्य और चर्च के द्वन्द के आधार बन गये। जब तक चर्च को राज्य की स्वीकृति प्राप्त नही थी तथा धर्म प्रचारकों पर राज्य का दमन हो रहा था, चर्च के प्रचारक अपनी सुरक्षा मे ही लीन थे। राजधर्म बन जाने के बाद और पोप की शक्ति का विकास होने के साथ-साथ शासक और धर्म के संबंधों का प्रश्न सामने आया। इन संबंधो पर आरंभिक प्रचारको के विचारों का अत्यधिक प्रभाव हुआ। इन प्रचारको मे संत अम्ब्रोज (St. Ambrose) का नाम सर्वप्रथम आता है। राजदर्शन को संत अम्ब्रोज का कोई मौलिक अनुदाय नही है किन्तु उसका महत्व केवल इसलिये है कि उसने चर्च की स्वतत्रता का प्रचार दृढतापूर्वक किया। कई अवसरो पर उसने धार्मिक मामलो मे राजकीय हस्तक्षेप का दृढतापूर्वक विरोध किया और राजा के धर्मविरोधी कार्यो की तीव्र भर्त्सना की। निरपेक्ष (Secular) मामलो में राज्य की सत्ता स्वीकार करते हुए उसने इस सिद्धात का प्रतिपादन किया कि धार्मिक मामलो मे शासक भी चर्च के अधीन है। ईसाई धर्म सैद्धांतिक रूप से अपने अनुयाइयो मे छोटे-बडे का अंतर नही मानता। ईश्वर और चर्च के लिये सभी अनुयायी समान है। अम्ब्रोज ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि धार्मिक मासलो मे 'राजा भी चर्च के अधीन है, उसके ऊपर नही।' चर्च को अनुशासन का जो अधिकार साधारण अनुयाइयो पर है वह सम्राट पर भी लागू होता है। व्यक्तिगत व्यवहार की नैतिकता का निर्णय चर्च ही कर सकती है। सम्राट वेलेन्टीनियन को एक पत्र अम्ब्रोज ने लिखा कि धार्मिक मामलो मे "विशप (Bishop) सम्राट के कार्यो का निर्णय करेंगे, सम्राट धर्माधिकारियो का नही।" एक अन्य अवसर पर एक उत्सव के लिये सम्राट को चर्च भवन देने से इन्कार करते हुए उसने कहा कि राजप्रासादो पर सम्राट का अधिकार है, चर्च पर विशप का। सम्राट थियोडोशियस को एक ऐसा आदेश वापिस लेने के लिये वाध्य किया जो विशप की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल था। सत अम्ब्रोज के विचारो मे कुछ निश्चित सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ। चर्च और राज्य दो समानान्तर संगठन है जो क्रमश- मानव जीवन के धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र पर अधिकार रखते है। इन शक्तियो को आपस मे एक दूसरे के कार्यो मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये। धार्मिक मामलो मे सम्राट भी चर्च के अधीन है और सम्राट पर भी अनुशासन के वे सभी नियम लागू होते है जो साधारण धर्मावलंबियों पर। प्रजा को सम्राट की आज्ञा का पालन करने के लिये कहा गया, संपत्ति पर राजा के अधिकार स्वीकार किये गये किन्तु चर्च की

संपत्ति पर नही। सम्राट का विरोध शक्ति के द्वारा नही; बल्कि धार्मिक आग्रह के द्वारा किया जाना चाहिये। राजा की गलतियो का सहारा लेकर उसके विरुद्ध क्राति भड़काना न्यायसंगत नही है। यह निश्चित है कि अम्ब्रोज का उद्देश्य राजसत्ता मे प्रतिस्पर्धा करना नही था और न वह राज्य के समानान्तर धार्मिक सत्ता की स्थापना करना चाहता था किन्तु फिर भी आनेवाले वर्षो में चर्च के समर्थकों ने चर्च की सत्ता के लिये और राज्य सत्ता को सीमित करने के लिये इन्ही तर्कों का सहारा लिया। संत अम्ब्रोज ने जिस दृढ़ता मे अपने विचारो को कार्यान्वित किया उससे चर्च की शक्ति को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

आरंभिक प्रचारको मे संत आगस्टाइन (St. Augustine) सबसे प्रतिभाशाली और महत्वपूर्ण माने जाते है। सत आगस्टाइन का जन्म ३५४ ईस्वी मे रोमन साम्राज्य के उत्तरी अफ्रीकी प्रदेश में हुआ था। उसके पिता रोमन धर्म के समर्थक थे और माता ईसाई थी। आगस्टाइन पर माता की ईसाई श्रद्धा का कोई प्रभाव नही हुआ और आरम्भिक वर्षो मे वह ईसाई धर्म का समर्थक नही था। उसके पिता ने उसे उच्चशिक्षा दी और शिक्षा समाप्त करने के बाद उसने अध्यापन का कार्य शुरू किया। जीवन से असंतुष्ट होकर ३८३ मे वह रोम आ गया। वहां भी उसे बौद्धिक शांति नही मिली और वह अलंकार-शास्त्र (Rhetoric) के शिक्षक के रूप मे मिलान चला गया जहाँ उसका संपर्क अम्ब्रोज से हुआ और उसके अशांत मस्तिष्क को अम्ब्रोज के सदेशों में शांति मिली और ३८७ ईस्वी मे उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। संत आगस्टाइन ने अपनी स्वीकारोक्ति (Confessions) मे स्वीकार किया है कि ईसाई बनने से पहले उसका जीवन अत्यन्त भ्रष्ट और अशांत था।

संत आगस्टाइन की लेखनी से अनेक रचनाओ का निर्माण हुआ और उसने प्राचीन ज्ञान को मध्ययुग को प्रदान करके अमर बना दिया। ईसाई धर्म के आजतक के विकास मे सत आगस्टाइन का प्रभाव पाया जाता है। जार्ज सेबाइन ने लिखा है कि, "उसकी रचनाये ऐसी खदान हैं जिसमे आनेवाले कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट लेखकों ने बहुमूल्य रत्न प्राप्त किये। उसकी सबसे प्रभावशाली रचना 'ईश्वर का नगर' (City of God) है। यह कहा जाता है कि इसी पुस्तक ने पवित्र रोमन साम्राज्य की नीव डाली और राज्य पर चर्च का आधिपत्य स्थापित किया। पुस्तक की रचना का मूल उद्देश्य केवल ईसाई धर्म की रक्षा करना ही था धार्मिक साम्राज्य की स्थापना करना नही। ४१० ईस्वी मे अलेरिक गोथ (Aleric, the Goth) के आक्रमण से रोम का पतन हो गया। तीन दिनों तक रोम लुटता रहा और एक विशाल सभ्यता का प्रतीक ध्वस्त हो गया। अपनी सभ्यता, शक्तिऔर बुद्धि पर गर्व करनेवाले रोमन लोगों को बर्बर जातियों

के हाथ यह अपमान भी सहन करना पड़ा। कुछ लोगों ने यह प्रचार शुरू किया कि रोम के पतन का उत्तरदायित्व ईसाई धर्म के प्रचार को है। ईसाई धर्म को स्वीकार करके रोम के निवासियो ने उन गुणों को भुला दिया जो रोमन प्रतिभा, शौर्य, शक्ति और सभ्यता के आधार थे। ईसाई धर्म के नम्र प्रभाव ने साहसी रोमन जाति को कमजोर बना दिया। आगस्टाइन ने इस दोषारोपण का विरोध किया तथा ईसाइयों को राजनीतिक संबल देने के लिये यह सिद्ध करना चाहा कि रोम का पतन ईसाई धर्म की स्वीकृति के कारण नहीं हुआ। आगस्टाइन ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि आक्रमण के समय रोम सही अर्थ मे राज्य नहीं रह गया था। रोम के महान् विद्वान सिसरो की परिभाषा के आधार पर भी समकालीन रोम को राज्य नहीं कहा जा सकता था। सिसरो ने राज्य को जनता की सपत्ति माना जो सामान्य अधिकारो की स्वीकृति पर आधारित है। अधिकार वहीं संभव है जहाँ न्याय हो। रोमन समाज मे न्याय नहीं रह गया था अतः वह वास्तव मे राज्य भी नहीं रह गया था। जिस समाज मे ईश्वर को उसका उचित स्थान और अधिकार नहीं दिया जाता उसमे जनता के साथ क्या न्याय हो सकता है? आगस्टाइन लिखता है, "वह जो भूमि के खरीददार को भूमि नहीं देता और किसी अन्य व्यक्ति को दे देता है, अन्याय करता है किन्तु वह जो हमे बनानेवाले ईश्वर से स्वयं को अलग रखता है तथा बुरी भावनाओ का पालन करता है, न्याय करता है।" यह न्याय नहीं है और जहाँ न्याय नहीं, वहाँ राज्य नहीं। रोम पहले ही पतित था और उसकी रक्षा का श्रेय ईसाई धर्म को है। सिसरो की परिभाषा किसी ऐसे राज्य मे लागू नहीं हो सकती जो ईसाई धर्म का तिरस्कार करता है। आगस्टाइन के सभी निष्कर्ष इस विश्वास पर आधारित है कि ईसाई धर्म को मानना ही ईश्वर की सही भक्ति है। आगस्टाइन कहता है कि रोम का पतन ईश्वर की योजना के अनुसार ही हुआ। मनुष्य के हृदय मे ईश्वरीय नगर का निर्माण करने के लिये ही ईश्वर ने रोम का ध्वंस किया। सपूर्ण मानव इतिहास ईश्वर की कृति है और उसकी योजना मे चलता है।

ईसाई धर्म मे निहित दो राज्यो के सिद्धात का स्पष्टीकरण आगस्टाइन ने किया तथा उसे निश्चित दर्शन का रूप प्रदान किया। हर मनुष्य दो नगरो का सदस्य है, जहाँ वह जन्म लेता है वह पार्थिव नगर और ईश्वरीय राज्य। आगस्टाइन का यह अर्थ नहीं है कि ईश्वरीय नगर इस दुनियाँ से बाहर किसी स्वर्ग मे या इस जीवन के बाद की अवस्था मे है। यह अतर भौतिक और अभौतिक नगर का नहीं है। ईश्वरीय नगर इसी दुनिया मे भौतिक राज्य के साथ ही स्थापित है। यह दोनो संस्थाये मनुष्य के दो कार्यक्षेत्रो का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन दोनो शक्तियो मे सघर्ष होता रहता है और इस सघर्ष मे धर्म राज्य की विजय सुनिश्चित है क्योकि भौतिक राज्य अस्थाई है और

ईश्वरीय राज्य स्थाई। मानव मस्तिष्क को सच्ची शांति ईश्वरीय नगर मे ही मिल सकती है। भौतिक नगर शैतान का निवास है और पतनोन्मुखी प्रवृत्तियो का प्रतीक है। यह राज्य लालच, विस्तारवाद और युद्ध की भावना पर आधारित है। इसलिये इनका पतन स्वाभाविक है। रोम का पतन भी इसी बात का प्रतीक है; इसका दोष ईसाई धर्म को देना सर्वथा अनुचित और मूर्खतापूर्ण है, क्योकि भौतिक राज्यो के पतन से ही ईश्वरीय नगर का निर्माण होता है। आगस्टाइन के विचारो मे ईश्वरीय नगर का स्वरूप पूर्णरूप से स्पष्ट नही है। भौतिक राज्य और ईश्वरीय राज्य की मानव संस्थाओ से समानता स्थापित करना संभव नही। ऐसा आभास अवश्य मिलता है कि पार्थिव नगर मानव राज्य के अनुरूप है किन्तु यह कहना उचित नही है कि राज्य शैतान का या शैतानी शक्ति का प्रतीक है। संत पाल का प्रसिद्ध उपदेश इस संदर्भ मे याद रखना होगा, "जितनी भी शक्तिया है ईश्वर की दी हुई है।" इसी प्रकार कुछ लोगो ने ईश्वरीय नगर का अर्थ चर्च से लगाया किन्तु यह भी उचित नही है। आगस्टाइन यह मानता है कि दोनों नगर एक दूसरे मे इतने अधिक घुले हुए है कि वे अंतिम निर्णय के समय ही अलग किये जा सकते हैं। यही मान लेना अधिक उचित दिखाई देता है कि दोनो नगर मनुष्य के हृदय में स्थापित है। मानव स्वभाव की निम्न प्रवृत्तियाँ पार्थिव नगर है और आध्यात्मिक गुण ईश्वरीय नगर। भौतिक गुणो पर आध्यात्मिक गुणों की विजय अंतिम रूप से निश्चित है। रोम मे आध्यात्मिक गुणो की अपेक्षा भौतिक गुणों को अधिक महत्व दिया जाने लगा था इसीलिये रोम का पतन हुआ ताकि लोग आध्यात्मिक गुणो के महत्व को समझ सकें। ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेने से रोम का पतन नही हुआ बल्कि धर्म और ईश्वर को भूल जाने के कारण। यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि इन दोनो नगरों का आभास आगस्टाइन को अपने ही जीवन से हुआ। जैसा कि उसने 'कन्फेशन्स' (Confessions) मे लिखा है कि आरंभिक जीवन मे उसने अनेक पाप किये और उसका मन हमेशा अशात बना रहा तथा उसे मानसिक शाति ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने के बाद ही मिली जैसे कि उसका मन ईश्वरीय नगर में पहुँच गया हो। अप्रत्यक्ष रूप से यह निष्कर्ष अवश्य निकाला गया कि पार्थिव जगत राज्य के और ईश्वरीय नगर चर्च के अनुरूप है क्योंकि राज्य, बल और हिंसा पर आधारित है तो चर्च आध्यात्मिक गुणो पर। चर्च एक सगठित सस्था तो है ही मानव आत्मा की मुक्ति भी चर्च के माध्यम से ही संभव है इसलिये यदि चर्च ईश्वरीय नगर नही तो उसके निकटस्थ अवश्य है।

चर्च धार्मिक संस्था होने के नाते सद्गुणों का प्रतीक है। दैवी विधान चर्च मे ही व्यक्त होता है और चर्च के माध्यम से ही व्यक्ति को प्राप्त होता है। दैवी विधि

का निर्वाचन चर्च के ही द्वारा हो सकता है। मानव आत्मा की मुक्ति चर्च के माध्यम से ही संभव है इसलिये जीवन के सभी हित चर्च के हितों पर निर्भर है। यह भी निश्चित है कि आध्यात्मिक विकास में राज्य या अन्य कोई भौतिक संस्था सहायता नही दे सकती। इन सभी बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि आगस्टाइन चर्च को राज्य से श्रेष्ठ सत्ताधारी दर्शाना चाहता है किन्तु न तो उसका यह उद्देश्य था न निष्कर्ष ही। उसने केवल यह दर्शाना चाहा कि अच्छा राज्य एक ईसाई राज्य ही हो सकता है जिससे इसाइयत को राजकीय धर्म स्वीकार कर लिया गया हो और सभी नागरिक तथा शासक ईसाई हो। ऐसे राज्य मे धार्मिक एकरूपता के कारण दृढ संगठन होगा, मानव श्रद्धा सुरक्षित होगी और व्यक्ति के जीवन मे भौतिक हितों की अपेक्षा आध्यात्मिक हितो को अधिक महत्व दिया जायगा।

अपनी धार्मिक मान्यताओ के आधार पर आगस्टाइन कहता है कि मानव प्रजाति मे प्रभु और दास, श्रष्ट और निम्न का अतर पाप के कारण है। ईश्वर ने मनुष्य को केवल विवेकहीन जगत का स्वामी बनाया, ईश्वर की "यह इच्छा नही थी कि उसकी विवेकशील कृति जो उसी की प्रतिमा है, विवेकहीन जगत के अलावा अन्य किसी वस्तु पर प्रभुत्व कर सके।" इस विचार के आधार पर मनुष्य के द्वारा मनुष्य का दास बनाया जाना सर्वथा अनुचित है और शासन भी न्यायसगत नही किन्तु पाप के दंड स्वरूप मनुष्य को मनुष्य का गुलाम बनना पडा। वासना का दास होने की अपेक्षा मनुष्य का गुलाम बनना अधिक अच्छा है। प्रभु सासारिक बातो मे भले ही दास और परिवार के सदस्यो मे अंतर करे परन्तु ईश्वरीय भक्ति का मार्ग वह सब को समान रूप से बतलाता है और यह चाहता है कि दास भी ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त कर सके। परिवार का जो सदस्य दैवी विधान के विरुद्ध आचरण करता है उसे दड देने का अधिकार प्रधान को होता है क्योंकि उन्हे आध्यात्मिक पतन से बचाना उसका कर्त्तव्य है। इस प्रकार परिवार राज-नीतिक सगठन का प्रारभिक रूप है, "पारिवारिक आज्ञाकारिता का सुव्यवस्थित साम-ञ्जस्य और पारिवारिक शासन का सबंध नागरिक आज्ञाकारिता के व्यवस्थित सामञ्जस्य और नागरिक शासन से होता है।" आगस्टाइन के ये विचार अरस्तू से प्रभावित हैं। स्टाइक, रोमन और ईसाई धर्म मे समानता के सिद्धात को त्यागकर वह अरस्तू के तर्को से दासता और शासन का समर्थन करता है। अरस्तू के विचारो को ईसाई धर्म ने विश्वासो का परिधान पहिनाने का प्रयत्न किया गया है। आगस्टाइन राज्य की नई परिभाषा प्रस्तुत करता है, "राज्य विवेकशील प्राणियो का समूह है जो अपने प्रेम (श्रद्धा) के पात्र के प्रति सामान्य सहमति से बना है।" यह परिभाषा यूनानी और रोमन परिपाटी से संबंध विच्छेद कर लेती है। राज्य का आधार न तो सामान्य हितो की भावना है, न सामान्य

विधि के प्रति सहमति वल्कि सामान्य श्रद्धा। राज्य का नैतिक और वैधानिक स्वरूप समाप्त हो गया और धार्मिक स्वरूप शुरू हुआ। यद्यपि आगस्टाइन इस बात को स्वीकार कर लेता है कि श्रद्धा का पात्र कोई भी हो सकता है किन्तु राज्य की श्रेष्ठता या निकृष्टता का निर्णय इस पात्र के लक्षणो के आधार पर ही किया जायगा। ईसाई राज्य की तुलना मे अन्य सभी राज्य निकृष्ट है क्योंकि ईसाई राज्य मे श्रद्धा अधिक दृढ़ होती है और श्रद्धा का पात्र अधिक श्रेष्ठ होता है।

आगस्टाइन का उद्देश्य एक ऐसे समाज की कल्पना करता था जिसमें आत्मा और परमात्मा का साम्य अधिकतम मात्रा में हो सके, भौतिक और आध्यात्मिक गुणों में सामञ्जस्य स्थापित हो सके। इस सामञ्जस्य से ही मानव मन को शाश्वत शाति मिलेगी और समाज मे न्याय व नैतिकता की स्थापना होगी। राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रो का अंतर समाप्त हो जायगा और यह दोनो शक्तिया एक दूसरे मे विलीन हो जायंगी। ईश्वर की सत्ता के प्रभाव मे चर्च और राज्य का विरोध समाप्त हो जायगा। विद्यमान समाज में इन दोनो संस्थाओ के संबंध इस आदर्श तक नही पहुँच पाते हैं इसलिये धार्मिक आचरण पर चर्च का नियंत्रण होना स्वाभाविक है और इन कार्यो के लिये चर्च राज्य के अधीन नही वल्कि ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। यद्यपि आगस्टाइन इस बात को स्वीकार करता है कि राजनीतिक और धर्म-निरपेक्ष क्षेत्र मे चर्च राज्य के आदेश मानने के लिये बाध्य है फिर भी चर्च अधिक शक्तिशाली हो जाती है और जैसा मरे (R. H. Murray) ने लिखा है, "आगस्टाइन ने पृथ्वी पर दैवी राज्य का नया आदर्श चित्रित किया, जिसमे साम्राज्य का स्थान चर्च के अंतर्गत है और चर्च इसके माध्यम से संपूर्ण विश्व पर शासन करेगी।"

आगस्टाइन का महत्व विचारो की मौलिकता के कारण नही वल्कि विचारों के प्रभाव के कारण अधिक है। सपूर्ण मध्ययुग की विचारधारा 'दैवी नगर' से प्रभावित रही। इस ग्रन्थ का सहारा चर्च और राज्य दोनो शक्तियो के समर्थकों ने लिया। शार्लमेन (Charlemagne) और ओटो महान् (Otto, the Great) जैसे शासक भी आगस्टाइन से प्रभावित थे। चर्च के समर्थको को तो राज्य को सीमित रखने के लिये सबसे बड़ा आधार मिल गया। आगस्टाइन स्वय राज्य और चर्च के विवाद मे नही पडता, वह केवल यह दर्शाना चाहता है कि ईसाई धर्म को स्वीकार किये बिना राज्य मे न्याय की स्थापना नही हो सकती। प्लेटो और सिसरो की न्याय की परिभाषा बदल दी गई और सबको उचित हिस्सा देना ही न्याय मान लिया गया, जिस व्याख्या को प्लेटो बहुत पहले ठुकरा चुका था।

भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का अंतर ईसाई धर्म में आरंभ से ही स्वीकृत रहा है। क्राइस्ट ने स्वयं सीजर और ईश्वर को उनका उचित हिस्सा देने की बात कही थी किन्तु आगस्टाइन ने इस विचार को एक निश्चित सिद्धांत का रूप प्रदान किया। यह उचित हिस्सा देना ही न्याय का आधार है और जो राज्य यह हिस्सा ईश्वर को प्रदान नही कर सकता उस राज्य मे न्याय नही है। न्यायहीन राज्य डाकुओ का संगठन है। आगस्टाइन सिकन्दर महान् और एक डाकू के संवाद का वर्णन करता है जिसमें डाकू सिकन्दर को अपने ही समान दर्शाता है जिसका उद्देश्य एक विशाल सेना की सहायता से संपूर्ण पृथ्वी को जीतना है। धर्म की प्रधानता केवल न्याय के लिये नही बल्कि मानसिक शाति के लिये भी आवश्यक है। मानव स्वभाव का विवेचन करते हुए आगस्टाइन कहता है कि मनुष्य का जीवन संघर्षमय है और मनुष्य इस संघर्ष से मुक्ति या शाति चाहता है। व्यक्ति परिवार मे और परिवार राज्य मे यह शाति खोजता है। आगस्टाइन यहा तक कहता है कि अंतर्राष्ट्रीय युद्ध भी शाति की कामना के द्योतक है और युद्ध करने वाला केवल अपनी शर्त पर शाति चाहता है, "हर व्यक्ति युद्ध के द्वारा शाति चाहता है, शांति के माध्यम से युद्ध कोई नही चाहता।" पार्थिव नगर की शाति अस्थायी है; स्थायी शाति दैवी नगर मे ही मिल सकती है। मानव मस्तिष्क स्थायी शाति ईश्वरीय श्रद्धा में खोजता है। बुद्धि पथ भ्रष्ट हो सकती है और व्यक्ति अपना मार्ग भूल सकता है। इसलिये बुद्धि को श्रद्धा के आलम्बन की आवश्यकता होती है। स्थायी शाति शाश्वत नियम (Eternal Law) के श्रद्धालु पालन मे ही निहित है। हर व्यक्ति और शासक इसी उत्तरदायित्व से बंधा है, किन्तु जहाँ पार्थिव राज्य का शासक शक्ति के माध्यम से शासन करता है, दैवी राज्य का शासक कर्त्तव्य भावना, दया और क्षमा के माध्यम से मार्ग दर्शाता है। इनमे दूसरा विकल्प ही श्रेष्ठ है।

प्रारंभिक प्रचारको मे तीसरा नाम पोप ग्रेगरी महान् (Gregory, the Great) का आता है। ग्रेगरी का कोई महत्वपूर्ण सैद्धातिक अनुदाय नही है किन्तु अपने व्यवहार और सम्बन्धो के द्वारा उसने दो विचार आनेवाले युग को प्रदान किये। सर्वप्रथम उसने पोपतंत्र के निर्माण मे सहायता पहुँचाई। चर्च की सपत्ति और आतरिक सगठन की उचित व्यवस्था ही नही की बल्कि स्पष्ट शब्दो मे यह कहा कि रोम का विशप सर्वश्रेष्ठ है, "मैं किसी ऐसे विशप को नही जानता जो रोम के विशप के अधीन न हो। महात्मा ईसा ने सत पीटर को समस्त ससार की देखभाल का काम दिया है।" इस विचार ने चर्च को क्रमिक अधिकारी सगठन बनाने मे सहायता पहुँचाई जिसमे रोम का पोप सर्वश्रेष्ठ था। राजकीय सत्ता के आज्ञापालन का समर्थन ग्रेगरी ने शक्तिशाली शब्दो मे किया। यद्यपि सभी आरम्भिक प्रचारक धर्म-निरपेक्ष क्षेत्र मे सम्राट

की आज्ञा पालन का समर्थन करते हैं किन्तु ग्रेगरी ने अत्याचारी शासक की आज्ञाओं को भी चुपचाप मानने का उपदेश दिया। प्रजा को न तो शासक की आज्ञा की अवहेलना करनी चाहिये न उसके चरित्र, कार्य और आदेशों की आलोचना करना चाहिये। "शासक के कार्य, चाहे वे निश्चित रूप से दोषपूर्ण क्यों न हों, मुँह के द्वारा खण्डित नहीं किये जाने चाहिये। यदि भूल से जिह्वा द्वारा उसकी निन्दा हो गई तो हृदय पश्चाताप में उनके सम्मुख झुक जाना चाहिये।" ग्रेगरी ने इस प्रकार अत्याचारी शासक का भी समर्थन किया, वह प्रजा के पाप का दण्ड है जिसे प्रजा ग्रहण करने से इन्कार नहीं कर सकती। इस विचार से राजा के अधिकारों के दैवी सिद्धान्त को समर्थन मिला। शासक की आज्ञा का पालन निर्विरोध रूप से होना चाहिये। राजसत्ता के इस समर्थन का मूल कारण यह है कि इन दिनों शासक के अत्याचार का भय तो कम था और अराजकता का भय अधिक था। प्रजा और सामन्तों में अवहेलना, अवज्ञा और अराजकता की भावना बलवान हो रही थी। इस शक्ति को रोकने के लिये ही ग्रेगरी को सत्ता का यह समर्थन करना पड़ा। वह इस बात का समर्थन करता है कि शासक अनुचित और अधार्मिक कार्य भी कर सकता है यदि वह मृत्यु के बाद ईश्वरीय दंड भोगने के लिये तैयार है। चर्च को भी शासक के अधार्मिक कार्यों का निर्णय करने का अधिकार वह नहीं देता। क्योंकि पोप की शक्ति राजा से ऊपर नहीं है और राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। शासक स्वयं यह जानता है कि चर्च और धर्म के आदेशों का खंडन उसे नर्क में ले जायगा। ग्रेगरी ने स्वयं सम्राट के अनुचित आदेशों के विरुद्ध असंतोष व्यक्त किया किन्तु उनकी अवहेलना या अवज्ञा नहीं की।

अध्याय ८

अंधकार युग

(The Daık Age)

जो बौद्धिक प्रतिभा यूनान मे थी रोम मे नही रही, जो रोम मे थी मध्ययुगीन यूरोप में नही रही। इतिहास मे क्रमश बौद्धिक प्रजातियो पर शक्तिशाली प्रजातियों का आधिपत्य होता गया। बर्बर जातियों की शक्ति ने रोमन साम्राज्य का अंत कर दिया और बौद्धिक प्रतिभा का युग लुप्त हो गया। मध्ययुग मे पाचवी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक बौद्धिक विकास रुका रहा और प्रतिभा लुप्त रही इसीलिये इस युग को अंधकार युग (Dark age) कहते है। रोम की श्रेष्ठता समाप्त हो चुकी थी और बर्बर जातियो मे इतनी बौद्धिक योग्यता नही थी कि वे रोम के सिद्धातो को ग्रहण कर सकते या उनका विकास कर सकते। राज्य और राजनीतिक सस्थाओ का चिंतन समाप्त हो गया। ईसाई धर्म का प्रभाव अवश्य बना रहा, धर्म का प्रचार भी होता रहा किन्तु धर्म से केवल श्रद्धा ही बढती गई, विवेक और चिन्तन नही बढ सका। राजनीतिक जीवन का निश्चित उद्देश्य भी न रहा और सिद्धातो की आवश्यकता भी महसूस नही की गई। धर्म का प्रभाव राजनीति से अलग ही रहा। कुछ रोमन विचार स्वीकृत रहे किन्तु उनका न तो विकास हो सका न विशेष प्रभाव ही रहा क्योकि राजनीतिक सस्थाओं का स्वरूप बदल चुका था। ट्यूटन और जर्मेनिक लोगो की अपनी स्वतंत्र सस्थाये थी और इन संस्थाओ का अस्तित्व बना रहा। इन संस्थाओ के लिये रोम के विचार सहायक नही थे इसलिये उनका प्रभाव घटता गया। जर्मेनिक विधि मे रोम की विधि अवश्य सुरक्षित रही और वर्तमान युग को प्राप्त हुई। जर्मेनिक जातियो मे विधि की जातीय व्यवस्था प्रचलित थी। प्रत्येक जाति की परम्परावादी विधि उस जाति के लोगो पर लागू होती थी, इसलिये रोमन विधि का अस्तित्व उन क्षेत्रो मे बना रहा। धार्मिक विश्वासो के कारण व्यक्ति के मस्तिष्क मे श्रद्धा और अंधविश्वास का प्रभाव बढता गया और वैज्ञानिक चिन्तन की क्षमता कम होती गई। संस्थाओ और विचारो का ऐतिहासिक, आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन लुप्त हो गया। शिक्षा और ज्ञान पर पादरियो का आधिपत्य था और संपूर्ण चिन्तन धार्मिक प्रश्नो पर केन्द्रित हो गया था। जीवन मे विरोध, विवाद और स्वतंत्र चिन्तन का कोई स्थान नहीं रह

गया था इसीलिये गैटिल ने लिखा है, 'चिन्तन परम्पराओं की कठोर शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था, और विरोधी विचारों को धर्मद्रोह समझकर कुचलने का प्रयत्न किया जाता था।''

यूरोप की वर्बर जातियाँ अलग-अलग वर्गो मे बंटी हुई थी, प्रत्येक जाति का स्वतंत्र अस्तित्व था, अपनी व्यवस्था थी व अपने कानून थे। रोम और ईसाई धर्म की विश्व-राज्य की कल्पना का स्थान बना रहा किन्तु व्यावहारिक रूप मे उसे परिणित करने का न तो प्रयत्न किया गया, न विचार किया गया। वन्धुत्व और समानता का प्रचार चर्च के माध्यम से ही हो सका और चर्च ही विश्व-राज्य की कल्पना के निकट-तम संगठन था। गैटिल ने लिखा है कि "पुराने रोम की प्रतिभा सभी लोगो के मस्तिष्क को घेरे थी और साम्राज्यीय एकता का आदर्श सभी को मान्य था। सामान्यतया लोग चाहते थे कि समस्त यूरोप मे केवल एक राज्य और एक चर्च हो.....और चर्च तथा राज्य दोनों का एकीकरण करके एक ही व्यवस्था का निर्माण किया जाय।" चर्च के संगठन मे तो एकीकरण और केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बनी रही किन्तु राज-नीतिक चेत्र मे विघटनकारी शक्तियाँ काम करती रही। विभिन्न जातियाँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व वनाये रखना चाहती थी जिसके परिणाम स्वरूप राजनीतिक एकता और केन्द्रीयकरण का विकास नही हो सका। इसके विपरीत सामन्तवादी व्यवस्था का विकास हुआ जिसमे राजनीतिक शक्ति विकेन्द्रित और चेत्रीय होती गई। बर्वर जातियो के शासन मे सभ्यता का ह्रास हुआ और रोमन युग मे जिन सड़को और मार्गों का निर्माण किया गया था वे भी नष्ट हो गये। आवागमन अधिक कठिन होता गया और चेत्रीय मामलो मे शासक चेत्रीय अधिकारियो पर ही अधिक निर्भर होते गये। कालान्तर मे ये चेत्रीय अधिकारी अपने इलाके के शासक बन बैठे और सामन्तवादी व्यवस्था प्रचलित हो गई। चर्च मे विश्व-राज्य की भावना प्रचलित रही और संपूर्ण यूरोप के लिये एक ही चर्च की कल्पना की जाती रही किन्तु चर्च और राज्य के एकी-करण का भी विकास नही हो सका। पोप लियो तृतीय (Leo III) ने साम्राट शार्ल-मेन को अपने हाथो से मुकुट पहना कर पवित्र रोमन साम्राज्य की (Holy Roman Empire) की घोषणा अवश्य कर दी किन्तु यह विचार इसी घटना तक सीमित रहा और आनेवाली सदियो मे दोनो संस्थाओ मे सामञ्जस्य और सहयोग होने के बजाय विरोध और प्रतिस्पर्धा का ही विकास हुआ। सम्पूर्ण मध्ययुग पर इस प्रतिस्पर्धा क प्रभाव बना रहा और बौद्धिक प्रतिभा इसी घेरे मे सीमित रही। यह स्वीकार करना होगा कि इस अंधकार युग मे मानव बुद्धि को क्रियाशील बनाने के लिये चर्च और राज्य के संघर्ष के परिणाम स्वरूप अनेक महत्वपूर्ण विचार प्रचलित हुए जिनका प्रभाव वर्तमान

संस्थाओ और विचारो पर हुआ। जिन वर्षों मे यह सघर्ष अधिक तीक्ष्ण नही था, चिन्तन लगभग लुप्त रहा।

आवागमन के साधनो के नष्ट हो जाने से और सामन्तवाद के प्रभाव मे जीवन ग्रामीणता की ओर बढता गया। शहरो की प्रतिभा, रौनक और शहरी जीवन की प्रबुद्धता समाप्त हो गई और सरल व अज्ञानी ग्रामीण जीवन की स्थापना हुई। अधिकाश वर्बर जातिया अशिक्षित और पिछडी हुई थी। जीवन से शिक्षा और ज्ञान का महत्व ही समाप्त हो गया। ईसाई प्रचारकों ने शिक्षा और प्राचीन ग्रन्थो का प्रचार करने का प्रयत्न किया किन्तु वर्वर मस्तिष्क इनको ग्रहण करने के योग्य भी नही था आगे विस्तार करने की तो वात ही और है। डायल (Doyle) का यह मत है कि इस समय में जातिया बौद्धिक वर्णमाला सीख रही थी। इसाई धर्म के प्रचार मे भी कोई नया विचार प्रस्तुत नही हुआ न किसी नये ग्रन्थ का निर्माण हुआ, प्राचीन ग्रन्थो का अधानुकरण ही चलता रहा और इन अधविश्वासो के माध्यम से प्राचीन विचारो से किसी प्रकार जीवित रखा। वर्वर जातियो का अधिकाश समय युद्ध करने मे ही व्यतीत होता था। वौद्धिक चिन्तन के लिये न तो उनके पास समय था, न प्रेरणा। युद्ध के वातावरण मे चारो ओर मौत का भय फैला हुआ था। वर्वर जातिया जहाँ भी आक्रमण करती थी चर्च और उसकी सपत्ति मे हस्तक्षेप नही करती थी, जिसके कारण चर्च का प्रभाव वढ रहा था और मौत के भय से भागनेवाले चर्च की छाया मे शरण ले रहे थे। इस जीवन को वचाने का और अगले जीवन मे शाति प्रदान करने का एकमात्र माध्यम चर्च ही रह गया था। राज्य के अत्याचारो और दोषो से असंतुष्ट होने के वाद लोग राज्य के अस्तित्व, कार्यक्षेत्र और औचित्य के वारे मे सोचने के वजाय चर्च की शरण लेने के अभ्यस्त हो गये थे। अधविश्वास इतना अधिक वढ गया था कि लोग सक्रामक रोगो और प्राकृतिक विपत्तियो से छुटकारा पाने के लिये भी पादरी की शरण मे जाते थे। पादरी केवल धर्मगुरु ही नही था, चिकित्सक भी था और अद्भुत दैवी शक्ति रखने वाला जादूगर भी। सभी भौतिक समस्यो का हल चर्च की दीवारो मे और पादरी के हाथो मे था और व्यक्ति अपने मस्तिष्क से नही खोज सकता था। इन सभी कारणो से मध्ययुग मे कोई मौलिक दर्शन या चिन्तन नही हुआ किन्तु फिर भी इस युग मे प्राचीन विचारो का अन्त नहीं हुआ और वर्तमान युग को यह विचार प्राप्त हुए। संपूर्ण मध्ययुग मे तीन शक्तियाँ कार्य करती रही (१) यूनानी और रोमन सम्यता का प्रभाव जो अपने आप को जीवित रखने के लिये संघर्षरत था, (२) ईसाई धर्म का प्रभाव जिसने अंधकार को प्रकाशित भी रखा और प्रकाशपुंज को सीमित भी रखा (धार्मिक अंधविश्वासो के कारण ज्ञान की वृद्धि सीमित हो गई किन्तु अज्ञान के अंधकार मे

धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाश वना रहा); (३) बर्बर जातियों का प्रभाव जिन्होंने अपनी विधि व्यवस्था को जीवित रखा और वर्तमान यूरोप को प्रदान किया। विधि प्रदान शासन (Rule of Law) और व्यक्ति स्वतंत्रता इसी काल की देन है। रोमन काल में विधि क्षेत्रीय थी अर्थात् शासन का आदेश साम्राज्य की भौगोलिक सीमा के भीतर समान रूप से लागू होता था। वर्बर जातियो की विधि व्यक्ति प्रधान थी। हर व्यक्ति अपनी परम्परागत विधि से शासित था चाहे वह जहाँ भी रहे। इस व्यवस्था ने व्यक्ति को राज्य के अवैधानिक आदेशो से स्वतत्र रखा और उस व्यवस्था को जन्म दिया जिसे इंग्लैंड मे सामान्य विधि (Common Law) कहते हैं। दर्शन के क्षेत्र मे भले ही मध्ययुग का महत्व नगण्य हो किन्तु वर्तमान यूरोप की राजनीतिक संस्थाओ के विकास के दृष्टिकोण से बहुत अधिक है। सामन्तवादी व्यवस्था से संवैधानिक राजतंत्र और निर्वाचित परिषदे यूरोप को प्राप्त हुई। स्थानीय कार्यों के लिये स्थानीय परिषदे थी जो केन्द्रीय नियंत्रण मे थी। केन्द्रीय निर्देशन मे स्थानीय स्वतत्रता की प्रणाली का भी उदय हुआ। इसीलिये गैटिल का कहना है, "शासनतत्र के विकास मे इससे अधिक मूल्यवान और कोई योगदान नही है।" भविष्य मे जब इन सामन्ती क्षेत्रो का पृथक सगठन हुआ और उनमे स्वतत्र सत्ता की स्थापना हुई तो वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ। इन सब बातो के बावजूद भी इस युग मे दार्शनिक और राजनीतिक विकास रुका रहा।

चर्च और राज्य का संघर्ष—मध्ययुग की सबसे महत्वपूर्ण घटना चर्च और राज्य के बीच सत्ता का संघर्ष है। युग के अंधकार को दूर करने और कोई हुई बौद्धिक शक्तियो को जागृत और सक्रिय करने का श्रेय इसी विवाद को है। चर्च ने अपने विकास के प्रारंभिक काल मे कभी राजनीतिक सत्ता का विरोध नही किया। जब तक ईसाई धर्म राज्य से स्वीकृत नही था व उसके प्रचारको पर शासक अत्याचार करते थे, उन्होने शासको का विरोध आमन्त्रित नही करना चाहा। राज्य की शक्ति और श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया, आज्ञापालन को अनिवार्य माना गया और शासक से केवल यह आशा की गई कि वह धार्मिक मामलो मे चर्च को अपने नियमो के अनुसार कार्य करने थे। जब तक चर्च एक तिरस्कृत संस्था थी, उसका मुख्य उद्देश्य अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करना और एक सीमित क्षेत्र में स्वतंत्रता की माग करना ही था। राज्य की स्वीकृति मिलने से पहले ही ईसाई धर्म बहुत लोग स्वीकार कर चुके थे और चर्च के संगठन की नीव चुकी थी। चर्च केवल धर्म का प्रचार ही नही करती थी बल्कि अपने अनुयायियो को धर्म विरोधी कार्य करने के लिये दंड भी देती थी। कान्सटेन्टाइन ने ईसाई धर्म

को जब राजकीय स्वीकृति और संरक्षण प्रदान किया तो उसका अर्थ यह हुआ कि चर्च के संगठन और दंड देनेवाली शक्ति को भी स्वीकार कर लिया । आरंभिक वर्षो मे इन दो शक्तियो के बीच किसी प्रकार के विरोध या स्पर्धा की संभावना नही थी । राजनीतिक क्षेत्र मे शासक की सत्ता को महात्मा ईसा ने स्वय स्वीकार किया था किन्तु शासक के ईसाई बन जाने के बाद दोनों शक्तियों मे सम्बन्ध निश्चित करने के लिये अनेक नये प्रश्न आये । चर्च के अधिकारी सम्राट को चर्च और राज्य का प्रधान मानते थे किन्तु अनैतिक कार्यो के लिये आध्यात्मिक दंड देने का अधिकार नही छोड़ना चाहते थे । ऐसी परिस्थिति में दोनो शक्तियो मे अधिकारो का विवाद स्वाभाविक था । चतुर्थ शताब्दी तक इस सघर्ष का कोई निश्चित प्रमाण नही मिलता । एक अवसर पर चर्च के अधिकारियो के वाद दिलाते हुए संत आप्टेटस (St. Optatus) नें कहा कि चर्च राज्य के अन्दर है, राज्य चर्च के अन्दर नही । चर्च के अधिकारी राज्य के आदेश मानने के लिये वाध्य थे । लगभग इसी समय सन्त अम्ब्रोज ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि धार्मिक मामलो मे सम्राट भी चर्च के अधीन है । सन्त आगस्टाइन और ग्रेगरी ने राज्य के प्रति इतना विरोध प्रदर्शित नही किया किन्तु पांचवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो में पोप गेलेशियस प्रथम (Gelasuis I) ने अम्ब्रोज के सिद्धात को ही स्वीकार किया । उसने निश्चित शब्दो मे यह स्पष्ट कर दिया कि धार्मिक मामलो मे शासक कोई हस्तक्षेप नही कर सकते । ईश्वर ने शासक को राजसत्ता अवश्य प्रदान की है किन्तु इसका प्रयोग धार्मिक अधिकारियो पर नही किया जा सकता, उनके व्यवहार का निर्णय चर्च के श्रेष्ठ अधिकारी ही कर सकते है । गेलेशियस प्रथम के विचारो मे यह विश्वास स्पष्ट रूप से मिलता है कि चर्च का पृथक संगठन है और स्वयं के नियम है जिनके आधार पर ही धर्माधिकारियो के व्यवहार का निर्णय हो सकता है । पोप गेलेशियस प्रथम ने समाज मे द्वैतसत्तावाद को स्वीकार किया जिसे 'दो तलवारो का सिद्धांत' कहा जाता है । यह सिद्धात इस धार्मिक विश्वास पर प्रचलित है कि ईश्वर ने शासक और पुजारी को प्रजा पर नियत्रण रखने के लिये दो अलग-अलग तलवारे सौपी । दोनो शक्तियो का कार्यक्षेत्र अलग है ; फिर भी चर्च को अधिक् श्रेष्ठ बतलाया गया । "इस विश्व पर शासन करनेवाली दो प्रधान शक्तिया है—बिशप की पवित्र शक्ति और राजकीय शक्ति ; और इन दोनो मे बिशप का उत्तरदायित्व अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि वे उन्हे ईश्वर के सम्मुख राजा के कार्यो का भी हिसाब देना होगा ।" राज्य और चर्च दो स्वतंत्र संगठन है जो स्वाभाविक रूप से एक दूसरे पर निर्भर है किन्तु एक दूसरे के अधीन नही । ईसाई समाज मे एक ही व्यक्ति राजा और पुजारी नही हो सकता । ईसाई धर्म की स्थापना के पहले यह सम्भव था । ईसा स्वय अन्तिम व्यक्ति था जो पुजारी

भी था और शासक भी किन्तु उसने अपनी यह शक्तियाँ दो अलग अलग व्यक्तियो को प्रदान कर दी। सेवाइन ने इस विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है "मानव समुदाय दो सरकारों के अधीन एक समाज था, प्रत्येक की अपनी विधि, विधि निर्माण और प्रशासन के अंग और अपने अधिकार थे।" किन्तु दोनो शक्तियो का अस्तित्व समानातर है और एक के विना दूसरी जीवित नही रह सकती। इन आरभिक विचारो में वे सभी सिद्धात हमे मिल जाते हैं जिनके कारण चर्च और राज्य का सघर्ष चलता रहा। संघर्ष का आरम्भ कुछ इस प्रकार हुआ कि राजकीय धर्म वन जाने के वाद चर्च के पादरियो ने अपने लिये राज्य के हस्तक्षेप ने मुक्ति चाही, फिर राज्य और चर्च का द्वैतसत्तावाद प्रचलित हुआ फिर चर्च ने सम्पत्ति प्राप्त कर ली और अन्त में स्वय राज्य पर शासन करने का प्रयत्न करने लगी। आनेवाली धटनाओ ने क्रमश. राजनीतिक पक्ष को निर्वल और धार्मिक पक्ष को सवल वनाने मे सहयोग दिया।

पोपतंत्र के निर्माण से चर्च और राज्य का संघर्ष अधिक महत्वपूर्ण हो गया। पोपतत्र के विकास मे दो विचार सहायक रहे। प्रथम, चर्च मे सगठन की भावना और द्वितीय, चर्च को पृथक सस्था मानने की प्रवृत्ति। क्रमशः चर्च एक स्वतंत्र अस्तित्ववाला सगठन वन गया। जो स्वर्ग और मुक्ति दिलानेवाला एकमात्र संगठन था। भौतिक जगत मे राजनीतिक सत्ता सुख प्रदान करने मे असमर्थ थी अतः दूसरे जीवन मे सुख प्राप्त करने के लिये लोगो ने धर्म का सहारा लिया। यद्यपि चर्च और राज्य का विवाद सपूर्ण मध्ययुग मे चलता रहा फिर भी मेकिलवेन का यह विचार है कि इस संघर्ष का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा प्रारंभिक मध्ययुग मे ही है। छठवी से नवमी शताव्दी तक सम्पूर्ण यूरोप मे वर्वर जातियो के आक्रमण और पारस्परिक संघर्ष चलते रहे। रोमन साम्राज्य का पतन हुआ और चर्च का भी विभाजन हो गया। इस विभाजन के परिणाम स्वरूप पश्चिमी मे रोमन चर्च का प्रभाव वढता गया। साम्राज्य के विघटन, सामन्तवाद के पिछड़ेपन और युद्ध की अराजकता मे चर्च ही एक मात्र कल्याणकारी और संगठनकारी शक्ति थी।

चर्च और राज्य का सघर्ष ग्यारहवी शताव्दी मे पोप ग्रेगरी सप्तम (Pope Gregeory VII) और सम्राट हेनरी चतुर्थ के वीच शुरू हुआ। इस विरोध का कुछ आभास नवीं शताव्दी मे भी मिलता हे जव पोप निकोलास प्रथम ने लारेन के राजा लाथेयर (Lothaire) को धर्म से वहिष्कृत (Excommunicate) कर दिया था। किसी भी व्यक्ति को वहिष्कृत कर देना ही चर्च की सर्वश्रेष्ठ दंडनीय शक्ति थी और पोप ने इस शक्ति का प्रयोग पहली वार शासक के विरुद्ध किया; यद्यपि यह अनेक वार कहा जा चुका था कि शासक के कार्यो की नैतिकता का निर्णय

धर्माधिकारियों के द्वारा किया जा सकता है। बहिष्कार के साथ पोप ने इस बात की भी घोषणा की कि एक बहिष्कृत राजा ईसाइयो पर शासन नही कर सकता। इस विरोध मे राजा ने पोप की साथ सुलह कर ली जिसका यह निष्कर्ष निकाला गया कि राजा पर इस शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। सम्पूर्ण ईसाई चिन्तन संघर्ष की सम्भावनाओ से भरा हुआ था किन्तु अनेक कारणो से चर्च और पोप के बीच इससे पहले खुला संघर्ष नही हुआ। शार्लमेन और ओटो महान् के शासन काल मे चर्च और राज्य के सम्बन्ध सबसे मधुर माने जाते है किन्तु पवित्र रोमन साम्राज्य के इन वर्षो मे भी चर्च और राज्य के सबध स्पष्ट करने का प्रयत्न कभी नही किया गया और इसी अस्पष्टता और अनिश्चितता के कारण अन्ततोगत्वा यह संघर्ष शुरू हुआ। यह सघर्ष यद्यपि चर्च और राज्य के अधिकार क्षेत्र के बारे मे था किन्तु इस विवाद मे राजनीति के अनेक महत्वपूर्ण सिद्धातो का विश्लेषण किया जिनमे से कुछ विचारो का प्रभाव वर्तमान राजनीति पर पर भी पाया जाता है। इस समय तक दो महत्वपूर्ण तत्व चर्च और राज्य के सम्बन्धों मे प्रवेश कर चुके थे। एक ओर चर्च के पास पर्याप्त चल और अचल सम्पत्ति सञ्चित हो गयी थी और अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये चर्च के अधिकारी शासक की शक्ति को सीमित रखना चाहते थे। सामन्तवादी व्यवस्था मे राजनीतिक अधिकारी अपने धार्मिक प्रतिद्वन्दियो को सहन नही करना चाहते थे। इस कारण से शासको ने चर्च के बिशप की नियुक्ति का अधिकार स्वय ग्रहण कर लिया था किन्तु यह अधिकार चर्च के समर्थकों के लिये धार्मिक मामलो मे अनुचित हस्तक्षेप था। शासक प्रायः चरित्रहीन थे और उनके द्वारा बिशप की नियुक्ति चर्च के धार्मिक व आध्यात्मिक विकास के लिये लाभदायक नही थी। राजा चाहते थे कि बिशप उनकी इच्छा के अनुसार ही नियुक्त हो ताकि वे उनके विरोधी न रहे और चर्च के अधिकारी चाहते थे कि बिशप चर्च के अधिकारियो द्वारा ही चुने जावे जिससे उनके चरित्र और आध्यात्मिक जीवन के बारे मे कोई सन्देह न रहे। इस विवाद मे १०५२ से १११२ बीच करीब ११५ पत्र चर्च तथा राज्य के पारस्पारिक अधिकार क्षेत्र के बारे में लिखे गये। चर्च की श्रेष्ठता और राजसत्ता की अनिवार्यता के बारे मे अनेक तर्क दिये गये। सेबाइन का विचार है, "अरस्तू की मृत्यु के बाद और ग्यारही शताब्दी के बीच राजनीतिक दर्शन पर जो कुछ लिखा गया वह संभवतः (इस) विवाद के परिणाम स्वरूप उत्पन्न राजनीतिक विचारो से कम पृष्ठ लेगा।"

इस संघर्ष का आरम्भ १०७३ मे ग्रेगरी सप्तम के पोप बनने के बाद हुआ। ग्रेगरी एक शक्तिशाली और कुशल शासक था, वह अपने अधिकारो मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही चाहता था। १०७५ मे अपने एक आदेश के द्वारा ग्रेगरी सप्तम ने बिशप की नियुक्ति के सम्बन्ध मे राजा और निरपेक्ष शक्तियो का हस्तक्षेप समाप्त कर दिया।

जर्मनी के सम्राट हेनरी चतुर्थ ने इस बात से क्रुद्ध होकर पोप को पदच्युत कराने का प्रयत्न किया। हेनरी ने अपने पत्र मे लिखा कि सम्राट की नियुक्ति ईश्वर के द्वारा व्यवस्था बनाये रखने के लिये हुई है। सन पीटर का आदेश याद दिलाया गया, "ईश्वर से डरो; राजा का सम्मान करो।" ग्रेगरी ने राजा का सम्मान नहीं किया; इसलिये उस पर ईश्वर का श्राप लग गया और उसे पोप का पद त्याग देना चाहिये। इसके उत्तर मे पोप ने हेनरी को धर्म से निष्कासित कर दिया। १०८० में सम्राट ने एक नया पोप बनाने का प्रयत्न किया और ग्रेगरी सम्राट के सिंहासन के लिये किसी दूसरे व्यक्ति के अधिकार का समर्थन कर रहा था। यह विवाद इन दोनो व्यक्तियो के मृत्यु के बाद ही हल हो सका यद्यपि यह हल भी स्थायी नही था; और बाद में भी यह विवाद किसी न किसी रूप मे चलता रहा। हेनरी पचम और पशाल द्वितीय (Paschal II) के बीच एक समझौता हुआ, जिसके द्वारा चर्च के अधिकारियो ने अपनी राजनीतिक शक्तिया त्याग दी और सम्राट ने सैद्धांतिक रूप मे विशप की नियुक्ति का अधिकार त्याग दिया। यद्यपि इन नियुक्तियो को प्रभावित करने की क्षमता बनी रही।

तेरहवी शताब्दी के आरम्भिक वर्षों मे इन्नोसेन्ट तृतीय (Innocent III) ने पुनः चर्च की श्रेष्ठता को स्वीकार किया। इङ्गलैण्ड और फ्रास के शासको मे सघर्ष चल रहा था जिसे इन्नोसेन्ट ने सुलझाना चाहा। अपने अधिकार का उल्लेख करते हुए उसने कहा कि पोप को पाप का निर्णय करने का अधिकार है और इसका उपयोग किसी के भी विरुद्ध हो सकता है। "हम किसी मानवीय संविधान पर नही बल्कि ईश्वरीय विधि पर आश्रित है; हमारी शक्ति किसी मानव से नही बल्कि ईश्वर से प्रदत्त है ... ... किसी भी प्रकार के पाप (अनाचार) को सुधारना और किसी भी ईसाई को यदि वह सुधार करने से इन्कार करता है, आध्यात्मिक दण्ड देना हमारा अधिकार है।" इस व्याख्या में राजा और प्रजा सभी शामिल है। चर्च की श्रेष्ठता के इतिहास मे इन्नोसेन्ट तृतीय सबसे शक्तिशाली पोप था। उसने चर्च का अधिकार केवल आध्यात्मिक क्षेत्र मे ही नही बल्कि भौतिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे भी स्थापित किया। उसने जर्मनी की राजगद्दी के उत्तराधिकार मे हस्तक्षेप किया और फ्रांस तथा इङ्गलैण्ड के राजाओ को बहिष्कार का भय दिखला कर अपना निर्णय स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। इसकी मृत्यु के पश्चात् इन्नोसेन्ट चतुर्थ ने भी चर्च की इस सत्ता का समर्थन इसी दृढ़ता के साथ किया, "ईसा के दूत को पृथ्वी पर भौतिक बातों पर और स्वर्ग मे आध्यात्मिक बातो पर अधिकार दिया गया है।" इस जीवन मे शान्ति के द्वार और मृत्यु के पश्चात् मुक्ति के द्वार की कुन्जी चर्च के ही पास है। इसके अतिरिक्त इन्नोसेन्ट चतुर्थ ने पहली बार गैर-इसाइयो पर भी पोप का अधिकार दर्शाया। सम्पूर्ण तेरहवीं

शताब्दी मे राजनीतिक शक्ति अपनी सुरक्षा के लिये संघर्ष करती रही और चर्च का आधिपत्य श्रेष्ठ बना रहा। चर्च की इस श्रेष्ठता का सिद्धान्त सेलिसबरी के जान ने प्रस्तुत किया। दो तलवारो के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए उसने कहा, "आध्यात्मिक और भौतिक दोनो तलवारे चर्च के पास है, भौतिक का प्रयोग चच के लिये होना चाहिये और आध्यात्मिक का चर्च के द्वारा, आध्यात्मिक पुजारी के हाथ से, राजनीतिक योद्धा के हाथ से किन्तु सत्यता मे पुजारी की इच्छा और सम्राट के आदेश से।"

तेरहवी शताब्दी के अंतिम वर्षो मे चर्च की श्रेष्ठता का सिद्धान्त कमजोर पड़ने लगा और राज्य की शक्तियो मे वृद्धि होने लगी। १२९६ से १३०३ तक एक बार फिर यह द्वन्द चला पोप बोनीफेस अष्टम (Pope Boniface VIII) और फिलिप फेयर (Philip, the Fair) के बीच। इस समय तक चर्च की सपत्ति बहुत अधिक बढ गई थी और पश्चिमी यूरोप के अधिकाश शासक इस वृद्धि से असतुष्ट थे। इङ्गलैण्ड और फ्रांस मे राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण हो चुका था और राजनीतिक सत्ता का आधार अधिक दृढ हो चुका था। फ्रास के शासक फिलिप ने १२९६ में चर्च की सपत्ति पर भी कर लगाने की घोषणा की, क्योंकि 'राजा को कर लगाने का अधिकार सबकी स्वीकृति से और सबके लाभ (सुरक्षा) के लिये दिया गया था।' पोप बोनीफेस ने इस आदेश को अनुचित बतलाया और चर्च अधिकारियो से कर देने से इन्कार करने के लिये कहा। फिलिप ने इसका जो उत्तर दिया वह अत्यन्त प्रभावशाली है। उसने यह कहा कि फ्रास के राजा को अपने राज्य पर अधिकार चर्च के बनने के पहले से है। वह अपने राज्य और प्रजा की सुरक्षा के लिये उत्तरदायी है अतः राज्य मे स्थित सभी संपत्ति उसके अधीन है। राज्यो के आपसी युद्ध इस समय तक राष्ट्रीय युद्धो का रूप धारण कर चुके थे और जनता आक्रमण से सुरक्षा चाहती थी, इसलिये कर वसूल करने का अधिकार सुरक्षा के उत्तरदायित्व से सबद्ध हो गया था। फिलिप ने आगे यह भी कहा कि चर्च और उसकी संपत्ति पर केवल पुजारियो का ही अधिकार नही है, न ही क्राइस्ट ने अपना जीवन केवल पुजारियो के लिए अर्पित किया था। इसलिए चर्च के विशेषाधिकारो को मानते हुए भी, चर्च के अधिकारियो को ऐसा कार्य करने से इन्कार नही करना चाहिये, जो सबके लिये आवश्यक है। राज्य मे सुरक्षा की सबसे अधिक आवश्यकता चर्च के पुजारियो को ही है। क्योंकि वे अपनी रक्षा के लिये युद्ध नही कर सकते और दूसरे लोग स्वयं के खर्चे पर इनकी रक्षा क्यो करेगे। यदि चर्च ने कर नही दिया तो वह राज्य का अनुपयोगी और निष्क्रिय अंग बन जायगी। राष्ट्रीय भावनाओं के कारण

फ्रांस के पादरियों ने पोप का साथ नहीं दिया और बोनीफेस को इस संघर्ष में मात खानी पड़ी।

इन दोनो व्यक्तियो के बीच दूसरा संघर्ष १३०१ मे शुरू हुआ, जब कि फ्रास में पोप का एक जाली आदेश प्रस्तुत किया गया जिसमे पोप ने राजनीतिक क्षेत्र मे प्रत्यक्ष अधिकारो की माग की थी। इसके उत्तर मे राजा की तरफ से यह कहा गया, कि राजा और प्रजा हमेशा से केवल ईश्वर के अधीन ही रहे है, पोप के प्रति उनका उत्तरदायित्व नही है। पोप के हस्तक्षेप के विरुद्ध यह घटना सबसे महत्वपूर्ण मानी जाती है। इसके उत्तर मे पोप ने जो स्पष्टीकरण दिया उससे राजा के पक्ष का ही समर्थन होता है। बोनीफेस की मृत्यु के पश्चात् फिलिप ने चर्च पर केवल अपना अधिकार ही नही जमा लिया बल्कि पोप को रोम से एविग्नान (Avignon) मे बुला लिया ताकि वह उसके विरुद्ध न जा सके। ७५ वर्षों तक पोप यहीं निवास करता रहा। पोप के इस निवास काल को चर्च के इतिहास मे 'बेबीलान की दासता' (Babylonish Captivity) कहा गया है।

पोप और सम्राट का अंतिम विरोध १३२३ में शुरू हुआ और इसका कारण था जर्मनी के सिंहासन का अधिकार। जर्मनी मे सम्राट के चुनाव मे कुछ विवाद उत्पन्न हो गया जिसके कारण वहाँ की राजनीति मे अनिश्चय और अव्यवस्था का वातावरण था। समकालीन पोप जान बाइसवे (Pope John XXII) ने इस विवादग्रस्त विषय को सुलझाना चाहा। विवाद मे हस्तक्षेप करते हुए उसने यह कहा कि ऐसे अनिश्चित वातावरण मे पोप को ही अंतिम निर्णय देने का अधिकार परम्परा से प्राप्त है। 'बेबीलान की दासता' के कारण राजनीतिक स्थिति बहुत बदल चुकी थी। पोप के पद का प्रभाव तो कम हो ही गया था, अधिकांश पादरी फ्रांस के राजा के प्रभाव मे थे या फ्रेन्च जाति के थे और राष्ट्रीय भावनाओ के उदय के कारण जर्मनी के अधिकारियो ने इस हस्तक्षेप को नापसंद किया। १३३८ मे सम्राट का निर्वाचन करनेवाले मंडल ने यह निर्णय लिया कि सम्राट के चुनाव के लिये पोप की स्वीकृति लेना आवश्यक नही है। सदियों से चलने वाले संघर्ष मे सम्राट पर पोप का जो आधिपत्य हो गया था उसका अंत हो गया। पोप की इच्छा के विरुद्ध भी लेविस बवेरियन (Lewis, the Bavarian) सम्राट चुन लिया गया। उसने सेलिसबरी के जान के विचारों के आधार पर यह घोषणा की कि साम्राज्य की सत्ता ईश्वर प्रदत्त है और परम्पराओं पर आधारित है। इसके अतिरिक्त प्रचलित प्रथा के अनुसार जो भी सम्राट निर्वाचित हो जाता है उसे पोप की सहमति, समर्थन या संरक्षण प्राप्त करने की आवश्यकता नही है। राज्य की सीमा मे सम्पूर्ण सम्पत्ति पर सम्राट के एकाधिकार की भी बात कही गई।

चर्च की श्रेष्ठता के पक्ष में तर्क :—मध्ययुग के इस विवाद में राजनीतिक सिद्धांत का अभाव स्वाभाविक है। लोगों का ध्यान मूल रूप से सत्ता के संघर्ष तक ही सीमित था और जो भी विचार व्यक्त किये गये, दो मे से एक सत्ता के समर्थन के लिये थे। यद्यपि विभिन्न विवादों मे अलग-अलग तर्क प्रस्तुत किये गये, विवादों के बीच बहुत समय गुजर चुका था और विवादों के कारण भी भिन्न थे, फिर भी इन तर्कों में अत्यधिक समानता पाई जाती है। अत: सभी तर्कों का उल्लेख एक साथ करना ही अधिक उचित होगा। यह बात अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि इस युग मे ईसाई धर्म के सिद्धातों का प्रभाव बहुत गहरा रहा और इसका सबसे ठोस प्रमाण यह है कि दोनों पक्षों की ओर से प्रारंभिक प्रचारको के विचार तर्क के आधार बनाये गये। संत आगस्टाइन के सिद्धांत के बावजूद भी ईसाई धर्म मे द्वैतसत्तावाद प्रचलित रहा। लौकिक और आध्यात्मिक शक्तियो का अस्तित्व शरीर और आत्मा की तरह माना गया। ईसाई धर्म के अनुसार एक ही व्यक्ति धार्मिक और राजनीतिक सत्ता का अधिकारी नही हो सकता था क्योकि ईसा स्वय दो सत्ताए मानते है। सीजर और ईश्वर को उचित हिस्सा देने के विचार से ही दो समान शक्तियों का बोध होता है और यह समस्या प्रस्तुत होती है कि दो मे से किसका हिस्सा अधिक है। चर्च की ओर से इस सिद्धांत का प्रयोग तीन विभिन्न परिस्थितियो मे हुआ। आरंभिक काल मे जब इसाई धर्म को राज्य का विरोध सहन करना पडता था और प्रचारको पर शासक अत्याचार करते थे तो इस सिद्धात के आधार पर धर्मपिताओ ने धार्मिक स्वतत्रता की माग की। उनका उद्देश्य केवल यह था कि शासक धार्मिक प्रचार मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे, न बाधा प्रस्तुत करे। दूसरे चरण में इस सिद्धात के माध्यम से चर्च के नेतृत्व का समर्थन किया गया। क्रमश: सम्राट की शक्ति कम होती गई और चर्च का संगठन और प्रभाव बढता गया। इस परिस्थिति में शक्तिशालो पोपो ने राज्य पर नियत्रण लगाने का प्रयत्न किया। दो सत्ताओं मे हमेशा धार्मिक सत्ता को अधिक प्रधानता दी गई। द्वन्द के अतिम दिनो मे चर्च को फिर अपनी सुरक्षा के लिये प्रयास करना पडा और अपनी शक्ति व अस्तित्व को बनाये रखने के लिये ही इसका सहारा लिया गया। चर्च की स्वतंत्रता की माग के दो प्रमुख कारण थे, चर्च का सुदृढ संगठन जिसमे अधिकारियो की क्रमिक श्रेष्ठता (heirarchy) निर्धारित हो चुकी थी और पोपतंत्र का निर्माण हो चुका था। यह संगठन निश्चित रूप से राज्य के संगठन के समान बना हुआ था। पोप अन्य पादरियो को उसी प्रकार आदेश देता था जिस प्रकार शासक अपने अधिकारियो को। दूसरा कारण था पादरियो मे धार्मिक विश्वासो मे प्रगाढ श्रद्धा और उन्हें प्रचलित करने के लिये हर विरोध के बावजूद भी प्रयत्न करने की क्षमता।

नवमी शताब्दी मे इसीडोरस के प्रपत्र (Isidorian Decretals) प्रस्तुत किये गये। ये प्रपत्र जाली थे किन्तु मध्ययुग मे इन्हे सत्य ही माना गया। इस संग्रह मे अनेक पत्र शामिल थे जो ईसा के बाद की तीन शताब्दियो मे महान् चर्च अधिकारियो ने सम्राट को या अपने अधीन पादरियो को संबोधित किये थे। चर्च के पक्ष के अधिकाश तर्क इन प्रपत्रो मे ही पाये जाते है। चर्च की श्रेष्ठता का सर्वप्रथम तर्क आध्यात्मिक श्रेष्ठता पर आधारित है। शरीर की अपेक्षा आत्मा अधिक महान् है; अतः आध्यात्मिक शक्ति शारीरिक या भौतिक शक्ति से श्रेष्ठ होना ही चाहिये। पादरियो से यह कहा गया कि उनकी टोपियाँ सोने की है और राजाओ के ताज शीशे के। एक बार आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियो को पृथक मान लेने का यह स्वाभाविक परिणाम था। इसके अतिरिक्त चर्च की श्रेष्ठता स्वर्ग और भौतिक जगत की तुलना मे भी प्रमाणित की गई। राज्य का संबंध केवल इस जीवन से है किन्तु चर्च इस जीवन के बाद ईश्वर तक पहुँचाने का एकमात्र साधन है और यह जीवन क्षणिक है। मानव जीवन का उद्देश्य और इस जगत के कष्टो से मुक्ति ईश्वर के निकट पहुँचने मे ही है। धर्महीन शासन की तुलना खुले डाके से की गई। पोप ग्रेगरी न भी लिखा कि, राजाओ और शासको की शक्ति ईश्वर के अज्ञान के कारण उत्पन्न हुई और वे समान व्यक्तियो के प्रभु बन बैठे। जहाँ शासक अपनी प्रजा पर अत्याचार कर रहे थे, चर्च के अधिकारी मानव समानता की बात कर रहे थे। राज्य मे हत्या और हिंसा जैसे अपराध पलते है जबकि चर्च मनुष्य को शुद्ध और सरल जीवन का मार्ग दिखलाती है।

जीवन की नैतिक आवश्यकताओं से भी चर्च की श्रेष्ठता का ही समर्थन हुआ। सभी इसाइयो के नैतिक व्यवहार का उत्तरदायित्व चर्च पर था। यह उत्तरदायित्व राजा के आचरण की नैतिकता के प्रति भी था। पोप राजा के अनैतिक आचरण को रोकने के लिये आदेश दे सकते थे और न मानने पर उन्हे दंड भी दे सकते थे। इस विचार का समर्थन करने के लिये सम्पूर्ण मध्ययुग मे पुराने इच्छा-पत्र का सहारा लिया गया। इस इच्छा-पत्र मे दुष्ट राजाओ के विरुद्ध पैगम्बरो द्वारा ईश्वरीय दंड की इच्छा करने का प्रमाण मिलता है। नये इच्छा-पत्र से भी इस श्रेष्ठता का समर्थन किया गया। महात्मा ईसा ने संत पीटर को अपना उत्तरदायित्व सौंपते हुए अपनी भेड़ें चराने के लिये कहा, जिसका यह अर्थ लगाया गया कि सभी मनुष्यो (भेडो) पर जिनमे राजा भी शामिल है निगरानी रखने के लिये पीटर से कहा गया और पीटर ने यह अधिकार रोम की चर्च को दे दिया जिसका संस्थापक वह स्वयं था। चर्च को अपराधी इसाइयो को बहिष्कार (Excommunicate) करने का अधिकार दिया गया था और यह अधिकार शासक के विरुद्ध भी प्रयोग में लाया जा सकता था। कान्सटेन्टाइन के धर्म परिवर्तन के बाद और

संत आगस्टाइने के 'दैवी नगर' के प्रभाव में यह विचार सामान्य रूप से स्वीकृत था कि एक वहिष्कृत ईसाई किसी ईसाई समाज का शासक नही रह सकता था। साधारण ईसाई की तुलना मे राजा के लिये बहिष्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण दंड था। वास्तव मे इस युग मे अनेक प्रभाव चर्च के पक्ष मे कार्य करते रहे। रोमन विधिशास्त्र से दैवी विधि की श्रेष्ठता का सिद्धात स्वीकार किया गया। रोमन साम्राज्य या विश्व-राज्य की एकता का सिद्धांत स्वीकार किया गया और जब साम्राज्य शक्तिहीन और छिन्न-भिन्न होने लगा तो ईसाई चर्च मे ही संपूर्ण जगत (यूरोप) को एक सूत्र मे बाँध कर रखने की शक्ति रह गई। सम्राट कान्सटेन्टाइन ने जब अपनी राजधानी बदल कर बाइजेन्टियम मे बनाई तो उसका यह अर्थ लगाया गया कि साम्राज्य के पश्चिमी हिस्से का शासन पोप को सौंप दिया गया क्योकि उसका निवास इस हिस्से के केन्द्र रोम मे था। जब रोम के पोप ने सम्राट शार्लमेन को ताज पहनाया और पवित्र रोमन साम्राज्य की घोषणा की तो यह कहा जाने लगा कि सम्राट की शक्ति का स्रोत पोप ही है। अत. वह उसे वापिस भी ले सकता है। विशप और चर्च अधिकारियो की नियुक्ति पर ग्रेगरी सप्तम और हेनरी चतुर्थ के बीच जो विवाद चला, उसमे राजकीय हस्तक्षेप को रोकने के लिये ग्रेगरी ने चर्च के सगठन और शक्ति का वर्णन इस प्रकार किया जैसे वह एक स्वतत्र शासकीय सगठन हो। चर्च अधिकारियो की नियुक्तिया केवल पोप के ही द्वारा हो सकती है, पोप ही धार्मिक परिषद की बैठक बुला सकता है, पोप के आदेश किसी के द्वारा नही बदले जा सकते और धार्मिक न्यायालय मे जो मामले पेश हो उनकी कोई अपील नही हो सकती। इस व्याख्या के द्वारा सेबाइन यह दर्शाते है कि, "चर्च मे राजतन्त्र का सिद्धात लागू किया गया...... ईश्वर और दैवी विधि के अधीन पोप निरंकुश था।' अनुशासन बनाये रखने का अधिकार दोनो शक्तियो को था और दोनो मे सघर्ष होना स्वाभाविक था। चर्च की श्रेष्ठता केवल एक अधिकार से अपने आप प्रमाणित हो गई—राजा को भी बहिष्कृत करने का अधिकार ; क्योकि राजा स्वय ईसाई होने के नाते धार्मिक अनुशासन मे है। सामान्य रूप से यह विश्वास किया जाता है कि ग्रेगरी का उद्देश्य केवल धार्मिक क्षेत्र मे स्वाधीनता प्राप्त करना था और वह लौकिक मामलो मे हस्तक्षेप नही करना चाहता था न राजा की सत्ता को कम करना चाहता था।

ईसाई धर्म मे मूल पाप (Original Sin) की कल्पना भी यदि चर्च के पक्ष मे नही तो राज्य के विरुद्ध अवश्य रही। मनुष्य पर शासन और अंकुश की आवश्यकता इस मूल पाप के कारण ही हुई। राज्य अपराध का प्रतीक है और चर्च इस अपराध और पाप से मुक्ति दिलाने का मार्ग। दोनो शक्तियो के सघर्ष मे चर्च का समर्थन

ही उचित होगा क्योंकि राज्य के समर्थन का अर्थ होगा मूल पाप के परिणाम को बनाये रखना।

तेरहवी शताब्दी में चर्च की सर्वोच्चता का सिद्धान्त पहली बार प्रयोग में लाया गया और यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि राजा के अधिकार चर्च ने प्रदत्त है। इस विचार का उल्लेख पहली बार ११२३ में आग्सवर्ग के होनोरियस (Honorius of Augsburg) की रचनाओ मे मिलता है। यहूदी इतिहास के आधार पर उसने यह दर्शाया कि राजा की उत्पत्ति पुजारियो के द्वारा हुई है। कान्सटेन्टाइन के धर्मपरिवर्तन का भी सहारा लिया गया। इस परिवर्तन के बाद से राजाओ की शक्ति का स्रोत चर्च को ही माना गया। सेलिसबरी के जान ने इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया कि राजा को शासन करने का अधिकार नही है बल्कि उसके पास शक्तियाँ न्यायसंगत उपयोग के लिये ही है। इन्नोसेन्ट तृतीय और चतुर्थ ने तेरहवी शताब्दी मे इन्ही तर्कों के आधार पर शासको पर अपना आधिपत्य जमाया। इस सिद्धांत की अंतिम व्याख्या एजीडियस कोलोना (Egidius Colonna) के द्वारा हुई जिसका वर्णन सेबाइन ने इन शब्दो मे किया है, "कोई भी सपत्ति प्राप्त करने या उपयोग करने का अधिकार, और राजकीय सत्ता का प्रयोग उस समय तक न्यायसंगत नही है जब तक कि इनका अधिकारी ईश्वर के अधीन नही है, और वह ईश्वर के अधीन उस समय तक नहीं हो सकता जब तक वह चर्च के अधीन न हो।

लौकिक सत्ता के पक्ष में तर्क—चर्च के तर्कों के अनुरुप लौकिक तर्कों को भी विभिन्न उद्देश्यो और परिस्थितियो के अनुसार तीन वर्गों मे बांटा जा सकता है। सबसे पहले जो तर्क दिये गये, उनका उद्देश्य चर्च की शक्ति को सीमित रखना था, दूसरे हिस्से मे राज्य पर चर्च के आधिपत्य को रोकने के तर्क दिये गये और अंत मे चर्च पर राज्य की श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयास किया गया। लौकिक सत्ता के समर्थको की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होंने वही तर्क और उदाहरण प्रस्तुत किये, जिनके द्वारा चर्च की श्रेष्ठता का समर्थन किया जाता था। दोनो पक्षो के तार्किक आधार एक ही थे, उनके निष्कर्ष भिन्न थे। यह प्रवाह ग्रेगरी सप्तम और हेनरी चतुर्थ के बीच ही शुरू हुआ। राजनीतिक पक्ष की ओर ने पुजारियो और पादरियो के तर्कों का खंडन करना अधार्मिक हो सकता था और शासक प्रजा का समर्थन खो सकते थे। अतः केवल यही प्रयत्न किया गया कि धार्मिक तर्कों को स्वीकार किया जाय किन्तु उनके निष्कर्ष अस्वीकृत कर लिये जायँ। ईसाई धर्म के सिद्धांतो मे दो विभिन्न अर्थ निकालने की क्षमता निहित थी और इसी का लाभ उठाया गया।

हेनरी चतुर्थ ने दो तलवारो का सिद्धात स्वीकार करते हुए यह कहा कि पोप को राजा पर कोई अधिकार नहीं हो सकता। सभी शक्तिया 'ईश्वर प्रदत्त' है ; अतः राजा भी ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, पोप के प्रति नही। भूतकालीन पादरियो द्वारा स्वीकृत परिपाटी का उल्लेख करते हुए हेनरी ने कहा कि, राजा के व्यवहार पर चर्च का अधिकार केवल उसी समय आता है जब वह धर्मविरोधी या धर्मभ्रष्ट हो जाय। ग्रेगरी महान् ने भी राजसत्ता के शांतिपूर्ण पालन का समर्थन किया था। किन्तु ग्रेगरी सप्तम ने राजा के कार्यो मे बाधा प्रस्तुत की थी और स्वयं उसके अधिकार (बिशप की नियुक्ति) प्राप्त करने का प्रयास किया था। हेनरी ने कहा कि ग्रेगरी सप्तम स्वयं धार्मिक और लौकिक दोनों शक्तियां ग्रहण कर रहा है, जो दो तलवारों के सिद्धांत के विरुद्ध है। धार्मिक सिद्धांत यह कहता है कि दोनो शक्तिया दो पृथक हाथों मे रहना चाहिये। धार्मिक संगठन के साथ संघर्ष होते हुए भी यह नही कहा जा सकता था कि राज्य का नैतिक उद्देश्य नहीं है। अगण्य अपराधो से जीवन को सुरक्षित बनाने का श्रेय राज्य को ही था। चर्च मुक्ति का मार्ग दर्शक होते हुए भी अपराध रोकने वाला शासक तो नही बन सकती थी। राजसत्ता के पक्ष मे यह तर्क अत्यत महत्वपूर्ण था और इसका उल्लेख हर संघर्प मे किया गया।

राजसत्ता का महत्वपूर्ण समर्थन विधि-शास्त्र के पुनर्जीवन मे पाया जाता है और सेबाइन मानते है कि, "विधिवेत्ता लौकिक सत्ता के सबसे योग्य और सबसे प्रभावशाली रक्षक थे।" यूरोप मे जब विधि-शास्त्र के अध्ययन का महत्व ज्ञात हुआ और ग्यारहवी शताब्दी मे इटली मे जस्टीनियन की विधि-संहिता का पुनरुद्धार हुआ। विधि के अध्ययन का प्रभाव फ्रांस और रोम मे भी हुआ और फ्रास मे फिलिप की ओर से वैधानिक तर्क प्रस्तुत किये गये। पोप और चर्च को राजा के अधिकार छीनने या सीमित करने का कोई अधिकार नही है। शासन का अधिकार संपत्ति के अधिकार के समान माना गया क्योंकि दोनो उत्तराधिकार से प्राप्त होते है। चर्च न संपत्ति छीन सकती है न सिहासन। पैतृक अधिकार का समर्थन रोमन विधि और दैवी विधि दोनो से होता है। यद्यपि रोम के राजतत्र निर्वाचित थे किन्तु इस युग मे पैतृक राजतंत्र और दैवी अधिकार के सिद्धातो की नीव पड़ी। राष्ट्रीय भावनाओं के विकास ने भी राजनीतिक सत्ता का समर्थन किया। सुरक्षा, एकता और राष्ट्रीय गौरव बनाये रखने के लिये शक्तिशाली राजा की आवश्यकता थी। अतः निरंकुश संप्रभु की कल्पना की गई और शासक को चर्च के प्रभाव से मुक्त कर दिया गया। फ्रास मे फिलिप के विवाद मे चर्च को हार खानी पडी क्योकि विवाद का संबंध राष्ट्रीय भावुकता से था। चर्च अपनी संपत्ति पर राजा को कर लगाने का अधिकार नही देना चाहती थी किन्तु राजा ने यह तर्क दिया कि कर लगाने का अधिकार न

केवल चर्च की बल्कि संपूर्ण राष्ट्र की सुरक्षा के लिये आवश्यक है। विश्व-एकता की भावना टूट चुकी थी और यूरोप के अनेक छोटे-छोटे राज्य आपस में संघर्परत थे। पोप इन विवादो मे पक्षपात करता था; जिसके परिणाम स्वरूप विरोधी पक्ष को आलोचना और विरोध करने का अवसर मिल जाता था। 'बेबीलान की दासता' से फ्रास के बाहर पोप की स्थिति बहुत कमजोर हो गई और उसे फ्रांस के राजा की कठपुतली कहा जाने लगा। लगभग इसी समय यह विचार भी प्रचलित हुआ कि पोप की शक्ति धार्मिक मामलों मे भी सीमित होनी चाहिये। अन्य व्यक्तियों की तरह पोप भी गलत निर्णय ले सकता था और अत्याचार कर सकता था। इस सभावना को रोकने के लिये उसके अधिकारों को सीमित रखना आवश्यक था। नियंत्रण का यह अधिकार राजा ने स्वयं नही मागा बल्कि एक धार्मिक परिषद को देना चाहा, फिर भी इस प्रचार से पोप की निरंकुश शक्ति का विरोध हुआ और राजा की तुलना मे उसकी शक्ति कमजोर पड गई। चर्च के अंदर ही पोप की स्थिति इतनी डावाडोल हो गई थी कि राजसत्ता पर प्रभाव डालने का समय उसके पास नही रहा। रोमन विधि की पुनरावृत्ति से यह सिद्धांत अधिक शक्तिशाली हो गया कि राजा ही विधि का सरक्षक और पालन करने वाला है तथा राजा की शक्तियां प्रजा से प्राप्त हुई है। न राजसत्ता ईश्वर या चर्च से उत्पन्न है न उन पर निर्भर हीं। इस विवाद का अंत राष्ट्रीय संप्रभुता के उदय और चर्च की अराजकता के रूप में हुआ तथा चर्च को पुनर्जीवन देने के लिये विराट धर्म-सुधार-आन्दोलन आवश्यक हो गया।

मध्ययुगीन दर्शन—यद्यपि अधिकाश बौद्धिक और तार्किक शक्ति राज्य और चर्च की स्पर्धा मे ही नष्ट हुई किन्तु फिर भी मध्ययुग के उत्तरार्ध मे अनेक विद्वतापूर्ण और सैद्धातिक रचनाये प्रस्तुत की गई। ११५६ मे सेलिसबरी के जान ने पालीक्रेटिकस (Policraticus) नामक ग्रन्थ की रचना की। यूनानी दर्शन की पुनरावृत्ति के पहले मध्ययुग की यह महानतम रचना है जिसमे प्रत्यक्ष रूप से शुद्ध राजनीतिक विचारो का अध्ययन किया गया है। राजतंत्र और अत्याचारतत्र मे भिन्नता स्थापित करते हुए उसने बतलाया कि राजा अपनी प्रजा पर विधि के अनुसार शासन करता है, और स्वय विधि का पालन करता है; वह प्रजा का सेवक है। जान अत्याचारी शासक के वध का समर्थन भी करता है। राज्य और चर्च के बीच जान ने चर्च की श्रेष्ठता का ही समर्थन किया क्योकि आत्मा शरीर से श्रेष्ठ है। विधि ईश्वरीय न्याय की व्याख्या है और राजा सामान्य हितो के लिये इस विधि को लागू करनेवाला अधिकारी। वह लोगो को दड देता है और उनके प्राण भी ले सकता है फिर भी वह हत्या के अपराध से मुक्त है। अच्छे शासक मे दया और दंड दोनो का सामञ्जस्य आवश्यक है। दन्ड देने मे मन्द और पुरस्कार

देने भी शीघ्रगामी होना चाहिये तथा जब भी वह कठोरतापूर्वक कार्य करने के लिये बाध्य हो उसे स्वयं दुखी होना चाहिये। जान ने राज्य की सावयव एकता का वर्णन उस समय किया जब कि यूरोप के लोगो को अरस्तू के पालिटिक्स का ज्ञान ही नही था। जान के इस ग्रन्थ में राजा के दैवी स्वरूप का भी प्रमाण मिलता है। राजा का विरोध नही किया जाना चाहिये क्योंकि वह पृथ्वी पर ईश्वरीय शक्ति के समान है। स्वतंत्रता और सद्गुण को संबधित बदलते हुए उसने कहा कि व्यक्ति की स्वतंत्रता उसके सद्गुणो के अनुपात मे होना चाहिये। शासक चाहिये कि वह सद्गुणी व्यक्तियों की स्वतंत्रता सीमित न करे।

मध्ययुग का सबसे प्रज्वलित प्रदीप सत टामस एक्वीनास (St Thomas Acquinas) है जिसे मध्ययुग का अरस्तू भी कहा जाता है। सत एक्वीनास मध्ययुग में विद्वत्तावाद (Scholasticism) का प्रतीक है। मध्ययुग के अतिम चरण मे ईसाई सिद्धातों को वैज्ञानिक या तार्किक आधार प्रदान करने का प्रयास शुरू हुआ। धार्मिक विश्वासों को विवेक से सम्मिलित किया जाने लगा और इसी प्रयास को विद्वत्तावाद कहा जाता है। तेरहवी शताब्दी के आरभिक वर्षो मे यूरोप को यूनानी ग्रन्थ पुनः प्राप्त हुए और उनका अध्ययन भी शुरू हुआ। अरस्तू के प्रभाव मे चिन्तन प्रणाली और तर्क पद्धति मे व्यापक परिवर्तन हो गया। आरभ मे चर्च के अधिकारियो ने यूनानी ग्रन्थों को अधार्मिक समझा और १२१० में पेरिस विश्वविद्यालय मे अरस्तू का अध्ययन अवैध घोषित कर दिया गया किन्तु शीघ्र ही अरस्तू के विचार कैथालिक सिद्धातो के आधार बन गये।

संत टामस का जन्म १२२७ मे नेपिल्स (Naples) के एक संभ्रात परिवार मे हुआ था। टामस की शिक्षा उसके चाचा के नियत्रण मे हुई जो मान्ट केसीनो के एबाट (Abbot of Monte Cassino) थे। उसकी शिक्षा नेपिल्स, पेरिस और कोलोन में विद्वान शिक्षको के द्वारा हुई। अपने माता-पिता की इच्छा के अनुसार किसी श्रेष्ठ पद पर कार्य करने का विचार उसे स्वीकृत नही हुआ और उसने सादगी और निर्धनता से प्रभावित डोमिनिक (Dominican) सम्प्रदाय को अंगीकार कर लिया। उसका अधिकाश जीवन विद्या केन्द्रो मे ही बीता जहाँ उसने अध्यापन कार्य किया, अपने ग्रन्थो की रचना की तथा धार्मिक उपदेश भी दिये। संत टामस की रचनाओ का महत्व विचारों की मौलिकता के कारण नही है बल्कि विभिन्न विचारो का उचित समन्वय करने के कारण है। सबसे महत्वपूर्ण समन्वय है—विवेक और श्रद्धा का समन्वय। इन दोनो क्षमताओं मे कोई स्वाभाविक विरोध नही है बल्कि ज्ञान की पूर्णता के लिये दोनों

आवश्यक है। धार्मिक विश्वासों का समर्थन करते हुए और उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये उसने यह बतलाया कि ज्ञान प्राप्ति का आरंभ दर्शन और विज्ञान के विवेकशील अध्ययन से होता है किन्तु उसकी पूर्णता विश्वास प्रधान धर्म मे ही है।

संत टामस के राजनीतिक विचार अधिकांशतः 'De Regimine Principume' (राजाओ का शासन), Summa Theologia (धर्मशास्त्र) और अरस्तू की राजनीति पर टिप्पणी मे मिलते है। सामाजिक और राजनीतिक जीवन की स्वाभाविकता मे अरस्तू के विश्वास की पुनरावृत्ति की गई। मनुष्य समाज से अलग नही रह सकता और समाज के लिये शासन और विधि की आवश्यकता है। अरस्तू का प्राकृतिक शासन का सिद्धात स्वीकार किया गया। समाज का भी एक उद्देश्य या ध्येय है, जिसके लिये सभी लोग संगठित होते है। अपने कार्य की महत्ता के आधार पर छोटे और बड़े का अंतर स्वाभाविक हो जाता है। मानव की स्वाभाविक आवश्यकताएं समाज के सदस्यो से अलग-अलग कार्यो की अपेक्षा करती है। कृषक, निर्माता, व्यापारी, पुजारी सब का कार्य निश्चित है। इस व्यवस्था मे यह आवश्यक है कि श्रेष्ठ वर्ग निम्न वर्ग पर शासन करे जिस प्रकार आत्मा शरीर पर शासन करती है। अरस्तू की तरह टामस भी राज्य को 'विभिन्नता मे एकता' (Unity in diversity) मानता है। हर मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताएँ अलग होती है किन्तु उनकी कुछ सामान्य आवश्यकताएं भी होती है। इन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये एक सामान्य शक्ति जरूरी है अन्यथा समाज में सगठन नही रह सकता। 'व्यक्तिगत बातो मे मनुष्यो मे मतभेद होता है किन्तु सामूहिक बातो मे एकता। इस एकता को बनाये रखने के लिये सर्वमान्य शासन की आवश्यकता होती है।' इस व्याख्या मे एक्वीनास यह भी स्वीकार कर लेता है कि शासक अपने लिये नही बल्कि संपूर्ण समाज के लिये कार्य करता है। इसी आधार पर शासन के शुद्ध और भ्रष्ट स्वरूपो का अतर किया जाता है। शुद्ध और विकृत शासन का उल्लेख एक्वीनास इन शब्दो मे करता है, "जनसमूह पर शासन करने का एक सही तरीका होता है और एक गलत। कोई भी वस्तु यदि अपने सही लक्ष्य पर लाई जाती है तो वह सही रूप से निर्देशित हुई, यदि गलत लक्ष्य पर आई तो गलत रूप से।" शासन के विकृत होने का आधार शासक की स्वार्थपरायणता ही है। इसका समर्थन धार्मिक आधारो पर भी किया गया ; जो चरवाहे स्वय का उदर पोषण करने लगते है वे ईश्वर के कोप का भाजन बनेंगे। अरस्तू के वर्गीकरण को मौलिक नामो के साथ स्वीकार किया गया है। एकतंत्र सबसे अधिक प्राकृतिक शासन प्रणाली है क्योकि प्रकृति मे एक का शासन ही पाया जाता है जैसे कि शरीर के इन विभिन्न अगो पर शासन करनेवाली आत्मा केवल एक ही होती है, इस विश्व का निर्माता ईश्वर भी एक है। संत टामस यह भी स्वीकार करता

है कि जो प्राकृतिक है वही सर्वश्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त राजतंत्र के पक्ष में एक व्यावहारिक तर्क भी प्रस्तुत किया गया है। राज्य की श्रेष्ठता और प्रजा के संतोष का आधार एकता है और अधिकतम एकता एक व्यक्ति के शासन मे ही मिल सकती है। जहाँ अनेक शासक है उनके आपसी मतभेद राज्य की एकता के लिये घातक हो सकते है। सत टामस राज्य पर चर्च के नियत्रण को भी स्वीकार करते है। राजनीतिक मामलो मे कार्य करने का अधिकार शासक को है किन्तु उसे हमेशा चर्च के नियत्रण में रहना चाहिये क्योकि राज्य का उद्देश्य है सुखी जीवन की स्थापना। वास्तविक आनन्द का बोध दैवी विधि मे ही होता है, अतः शासक इसी दैवी विधि का पालन करे। हम अपने जीवन मे इस जगत के सुखो की तुलना मे स्वर्ग के सुखो को अधिक महत्व देते है अन जीवन मे राज्य की अपेक्षा चर्च का स्थान श्रेष्ठ है। जन-समूह के सुख के लिये उसने तीन बाते आवश्यक मानी—शातिपूर्ण सगठन, श्रेष्ठ कार्य और पर्याप्त सामग्री। श्रेष्ठ कार्य करना ही हमारे जीवन का ध्येय है और सपूर्ण जनसमूह को इस मार्ग पर ले जाने के लिये यह आवश्यक है कि वह समूह शाति-पूर्णरूप से सगठित हो। शरीर के सभी अवयवो मे यदि शातिपूर्ण सगठन न होगा तो वह शरीर नैतिक विकास मे सहायक न हो सकेगा। अत मे श्रेष्ठ कार्य के लिये उचित सामग्री की आवश्यकता है और यह शासक का उत्तरदायित्व है कि वह इन साधनो को उपलब्ध करे। शासक को तीन बातो का ध्यान रखना चाहिये जो सामान्य सुख के लिये हानिकारक है। पहला कारण प्राकृतिक है; मनुष्य न तो अमर है न उसकी शक्तिया स्थायी रहती है। आज के कुशल अधिकारी कल कमजोर हो सकते है या मृत्यु के कारण उनका स्थान रिक्त हो सकता है। इन दोनो परिस्थितियो मे राजा को उन अधिकारियो के स्थान पर उचित व्यक्तियो की नियुक्ति करनी चाहिये। सामाजिक भलाई मे दूसरी बाधा सदस्यो के पथभ्रष्ट होने से आती है। समाज के सदस्य या तो अपना लक्ष्य प्राप्त करने के योग्य नही रह जाते या वे शातिप्रिय एकता के ही विरोधी हो जाते है। इस दोष पर रोक लगाने के लिये यह आवश्यक है कि राजा अपने आदेश और विधि के द्वारा नागरिको को अन्याय, हिसा व अनैतिकता से दूर रखे और सद्गुण की ओर बढने की प्रेरणा दे। ईश्वर की तरह राजा भी विधि का पालन करनेवाले को पुरस्कार दे और विरोध करने वाले को दंड। तीसरा सकट बाहरी शक्तियो के आक्रमण से है और प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रधान उत्तरदायित्व है। राजा अपनी प्रजा का पालन पिता की तरह करता है। "प्रत्येक गलत बात को वह सही करता है, जो कमी हो उसे पूरा करता है और हर संभव सुधार के द्वारा पूर्णता प्राप्त करने की कोशिश करता है।" जो शासक इन बातो का विरोध करता है वह अत्याचारी है।

संत टामस अत्याचारी का विरोध करने का अधिकार तो देता है किन्तु सेलिसबरी के जान की तरह न तो अत्याचारी की हत्या को उचित मानता है, न विद्रोह का समर्थन करता है। उसने अच्छे शासन को विधि द्वारा सीमित माना किन्तु यह कही स्पष्ट नही किया कि विधि के नियंत्रण का क्या अर्थ है और यह दर्शाया कि शासकीय अधिकारो का स्रोत क्या है ?

एक्वीनास के विधि सबधी विचार अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है। विधि की व्याख्या धार्मिक दृष्टिकोण से की गई है, विधि का निर्माण किसी मानवीय शक्ति के द्वारा नही होता बल्कि हर कानून एक विशाल ईश्वरीय योजना का नियम है। रोमन विचारो का ईसाई धर्म के विश्वासो के साथ समन्वय किया गया। वह विधि के चार प्रकार मानता है, शाश्वत विधि जिसका अर्थ शुद्ध ईश्वरीय विवेक से है। प्राकृतिक विधि जिसके द्वारा संपूर्ण जगत शासित होता हे, जड और चेतन पशु और मानव सब इसके अधीन है। दैवी विधि ईश्वरीय विवेक का वह स्वरूप है जो हमे धार्मिक ग्रन्थो व संस्थाओ के माध्यम मे प्राप्त होता है। अतिम वर्ग मानवीय विधि है जिसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही है। प्राकृतिक विधि को मानव विवेक के द्वारा विशेष परिस्थितियो के अनुकूल बनाने का प्रयत्न ही मानवीय विधि है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सत टामस की योजना मे मानवीय विधि का केवल एक ही वर्ग है और उसका भी कोई स्वतत्र अस्तित्व नही है। इस व्याख्या से शासक के विधि-निर्माण के अधिकार का भी समर्थन नही होता। विशेष परिस्थितियो मे मानव विवेक के माध्यम से प्राकृतिक विधि का निर्वाचन करना ही शासक का उत्तरदायित्व है। अतिम रूप से सभी विधियाँ शाश्वत विधि या ईश्वरीय विवेक का एक हिस्सा है। मानवीय विधि की कमी की पूर्ति दैवी विधि के द्वारा होती है क्योकि श्रद्धा विवेक की पूरक है।

मानवीय विधि को विवेक पर आधारित मानने वाले रोमन सिद्धात को भी संत टामस स्वीकार करता है तथा इस प्रचलित विश्वास का खडन करता है कि विधि का विवेक से कोई सम्बन्ध नही है। विधि का मूल कार्य है—आदेश देना और निषेध करना जिनकी उत्पत्ति मनुष्य के विवेक मे होती है। यह आवश्यक है कि विधि का निर्माण करते हुए शासक केवल विवेक से ही कार्य ले। शासक का प्रत्येक आदेश विवेकशील होना चाहिये। विधि का दूसरा गुण उसके क्रियान्वित करने के तरीके और उसके परिणाम मे है। यदि शासक के आदेश मे यह गुण नही पाये जाते तो उन्हें सही रूप मे विधि नही कहा जा सकता। विधि के चार स्वरूपो मे कोई विशेष भिन्नता नही है बल्कि सभी स्वरूप शाश्वत विधि के ही विभिन्न प्रकार हैं। सेबाइन भी कहते है, "विधि के चार

प्रकार विवेक के चार स्वरूप है; विश्वव्यापी सत्य के चार विभिन्न स्तरों पर व्यक्त होते हुए भी एक ही विवेक है।"

विधि हमेशा सामान्य हितो की पूर्ति के लिये ही कार्य करती है। विवेक का हर आदेश किसी उद्देश्य के लिये होता है। मानव जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्त करना है और समाज मे सब का सुख। इस तर्क के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विधि का उद्देश्य किसी विशेष हित की पूर्ति नही बल्कि संपूर्ण समूह के हितो की पूर्ति करना है। राजनीतिक संगठन की सावयव प्रकृति को स्वीकार करते हुए एक्वीनास कहता है कि संगठन की पूर्णता इस बात में निहित है कि प्रत्येक अंग संपूर्ण शरीर के हित मे अधिक से अधिक योग देता है। राज्य की पूर्णता इसी मे निहित है कि हम अपने व्यक्तित्व को समष्टि मे विलीन कर दे और स्वयं विधि-निर्माता भी इसी आधार पर निर्णय ले। इसीडोर (Isidore) का यह कथन प्रस्तुत किया है, "विधि किसी के व्यक्तिगत लाभ के लिये नही बनी बल्कि सभी नागरिको के सामूहिक लाभ के लिये बनी है।" मानवीय विधि को छोडकर अन्य तीन विधियो की व्याख्या से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। पहली तीन श्रेणियो मे मानव शक्ति का कोई योग नही है बल्कि यह ईश्वरीय विवेक का परिणाम है। इन विधियो का उद्देश्य ईश्वर (विधि निर्माता) को लाभ पहुँचाना नही है बल्कि वस्तु (Object) को व्यवस्थित रखना है। इसी प्रकार मानवीय विधि भी विधायक के लाभ के लिये नही बल्कि समस्त नागरिको के लाभ के लिये है। विवेक की प्रकृति है उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य करना, विवेक कभी इस पथ से भ्रष्ट नही होता और सामूहिक जीवन व्यतीत करने वाले का विवेक अपना नही बल्कि सबका विकास चाहता है; अतः विवेक ही विधि है।

इसके उपरात एक्वीनास इस प्रश्न पर विचार करता है कि विधि का निर्माण किसके विवेक मे होता है? विधि की उत्पत्ति हर व्यक्ति के विवेक मे नही होती बल्कि या तो संपूर्ण समूह के विवेक मे होती है या उस समूह के लिये कार्य करनेवाले शासक के विवेक मे। विधि का सबंध सामान्य हितों से है अतः उसका बोध उसी विवेक को हो सकता है जिसका प्रत्यक्ष संबंध सामान्य हितो से हो। एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को सद्गुण के मार्ग पर चलने के लिये बाध्य नही कर सकता। वह केवल उसकी निन्दा और आलोचना ही कर सकता है किन्तु समूह या उसका प्रतिनिधि दड के भय से भी सद्गुण के लिये बाध्य कर सकता है। प्राकृतिक विधि और राजनीतिक विधि का अंतर स्पष्ट करते हुए एक्वीनास यह स्पष्ट कर देता है कि राज्य मे सभी विधिया सप्रभु के द्वारा घोषित की जानी चाहिये। मानवीय विधि प्राकृतिक विधि के अनुकूल अवश्य होती है और प्राकृतिक विधि का न तो निर्माण होता है न उसकी घोषणा होनी है किन्तु मानवीय विधि

की घोषणा होना आवश्यक है। कानून का पालन आवश्यक है और पालन के लिये उसकी स्पष्ट घोषणा होना आवश्यक है। जब तक हर व्यक्ति को विधि लागू होने की सूचना नहीं मिल जाती उससे विधि पालन की आशा भी नहीं की जा सकती। संत टामस ने विधि की परिभाषा इन शब्दों मे प्रस्तुत की है, "जिस व्यक्ति को समुदाय के पालन का भार सौंपा गया है उसके द्वारा घोषित और सामान्य हितों के लिये विवेक का आदेश।" विधि के संबंध मे सत टामस ने चार बातें स्वीकार की, विधि विवेक की कृति है, सामान्य हितो के लिये, संपूर्ण समूह या उसके शासन द्वारा प्रदत्त और स्पष्ट शब्दों में घोषित।

राजनीति दर्शन मे संत टामस का महत्व रोमन प्राकृतिक विधि के सिद्धात में संशोधन करने के कारण माना जाता है। उसके लिये प्राकृतिक विधि स्थिर, कठोर और अपरिवर्तनशील नियम नही है बल्कि कुछ ऐसे विवेकशील सिद्धांत जिनमे बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप परिवर्तित होने की क्षमता है। इस परिवर्तनशीलता के कारण वह विधि गत्यात्मक समाज (Dynamic Society) के अनुकूल बनी रहती है। दूसरा संशोधन यह किया गया कि मानवीय विधि प्राकृतिक विधि की विवेकशील व्याख्या है; किन्तु यह व्याख्या हर मनुष्य का विवेक नही कर सकता बल्कि संपूर्ण समूह का विवेक या जो संपूर्ण समूह के लिये कार्य कर रहा है, उसका (शासक का) विवेक ही यह व्याख्या कर सकता है। अंत मे यह भी आवश्यक माना गया कि विधि को घोषणा होनी चाहिये। रोमन सिद्धात में जो अव्यावहारिकता और भावसूक्ष्मता आ गई थी संत टामस ने उसे दूर करने का प्रयत्न किया। साथ ही प्राकृतिक विधि के माध्यम से शासक की शक्तियों को भी सीमित रखने का प्रयत्न किया। विधि निर्माण और घोषणा में अंतर है। शासक केवल विधि की घोषणा करता है, उसका निर्माण नही करता। सामान्य हितो का पालक होने के नाते वह प्राकृतिक विधि की सही व्याख्या कर सकता है, इसलिये वह स्वयं विधि से ऊपर नही है बल्कि उसी विधि से सीमित है जिसकी वह घोषणा करता है। किन्तु शासक इस विधि का पालन स्वेच्छा से करता है, वह दंड विधान से मुक्त है। समाज में विधि के पीछे दंडनीय शक्ति का होना आवश्यक है किन्तु शासक स्वयं इस शक्ति के प्रभाव से मुक्त रहता है किन्तु वह विधि के निर्देश मानने के लिये स्वतः बाध्य है। मानवीय विधि के वह दो स्वरूप मानता है—अंतर्राष्ट्रीय विधि और नागरिक विधि। इनकी व्याख्या वही है जो रोमन सिद्धांत मे पाई जाती है।

दैवी विधि (Divine Law) मानवीय विधि की पूरक है। विवेक ज्ञान का संपूर्ण मार्ग नहीं है बल्कि विवेक से ऊपर श्रद्धा का स्थान है। दैवी विधि ईश्वर के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक संस्थाओं और अधिकारियों को प्रदान की गई है। यहूदी

धर्म मे यह विश्वास प्रचलित है कि ईश्वर ने यहूदियो को एक विधि-संहिता प्रस्तुत की थी। ईसाई धर्म ग्रन्थो मे भी आचार-व्यवहार के अनेक नियमो का उल्लेख हुआ है जिनसे इस बात का समर्थन होता है कि कुछ विधिया मनुष्य को ईश्वर से प्राप्त होती है। इन विधियो का पालन न केवल प्रजा के द्वारा वल्कि शासको के द्वारा भी होना चाहिये और इस अर्थ मे शासक हमेशा चर्च के अधीन है। सत टामस चर्च की श्रेष्ठता को अवश्य स्वीकार करता है किन्तु गैर-ईसाई राज्यो की निंदा नही करता। प्राकृतिक विधि ईसाई और दूसरे धर्म वालो को समान रूप से प्राप्त है और शासक की आज्ञा का पालन होना चाहिये चाहे वह ईसाई हो या नही। साथ ही किसी अधार्मिक राजा को पदमुक्त करना भी चर्च के अधिकार मे नही है यद्यपि धार्मिक मान्यताओ का विरोध एक वड़ा अपराध है। संत टामस के यह विचार चर्च और राज्य के विवाद मे अन्य संतो के विचारो से अधिक उदार है, और सेवाइन का ऐसा विश्वास है कि राजसत्ता के प्रति यह उदारता अरस्तू के प्रभाव के कारण है। उसने ईसाई समाज की धारणा को स्वीकार अवश्य किया किन्तु उतनी सकीर्णता और कठोरता से नही। उसका उद्देश्य किसी पक्ष का समर्थन या विरोध करना नही था वल्कि वह तो प्रचलित सामाजिक व्यवस्था की वैज्ञानिक व्याख्या करना चाहता है और उसे इस ध्येय मे अपूर्व सफलता मिली। सेवाइन भी स्वीकार करते है, "इस अर्थ मे टामस का दर्शन उन नैतिक और धार्मिक मान्यताओ को सर्वाधिक परिपक्वता के साथ व्यक्त करता है जिन पर मध्ययुगीन संस्कृति आधारित थी।

एक्वीनास के वाद मध्ययुग का दूसरा प्रतिभाशाली विचारक कवि दाते (Dante) है जो दूसरे पक्ष का समर्थक है। १३१० के करीव दाँते की प्रमुख पुस्तक 'डिमोनार्किया' (De Monarchia) लिखी गई जिसका उद्देश्य सम्राट का गौरव और महिमा स्थापित करना था। धार्मिक हस्तक्षेप से राज्य की सुरक्षा करना ही उसका ध्येय था। संत टामस की तरह दाते भी अरस्तू से प्रभावित था। दाते ने अपने जीवन मे पोप और शासको के वीच अनेक विरोध देखे। अत. शान्ति के लिये वह एक ही मार्ग सही मानता था कि सपूर्ण समूह एक शक्तिशाली सम्राट के अधीन सगठित हो जाय। समकालीन राजनीति मे यह स्पष्ट हो चुका था कि पोप अपने महत्व को वनाये रखने के लिये छोटे राज्यो के सघर्ष को वनाये रखना चाहता था। इन सघर्षो से वचने के लिये सभी राज्यो का एक सशक्त साम्राज्य के रूप मे वध जाना आवश्यक था। अरस्तू की तरह दाते भी इसी मान्यता से आरम्भ करता है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। अतः मानव जीवन का एक निश्चित नैतिक उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति के लिये अंतर्राष्ट्रीय शांति

आवश्यक है। प्रत्येक संगठन मे एक निर्देशन शक्ति आवश्यक होती है और निर्देशक की पूर्णता संगठन की एकता से निश्चित होती है। ईश्वर संपूर्ण जगत का शासक है और प्राकृतिक एकता ईश्वर की पूर्णता का प्रमाण है। अतः शासक की पूर्णता के लिये भी प्रजा का संगठित होना आवश्यक है। सम्राट की शक्ति जितनी व्यापक होगी उसमें उतनी ही पूर्णता होगी। साम्राज्य की श्रेष्ठता का आधार सामान्य हितो की पूर्ति है। दांते यह मानता है कि विश्व-राज्य की स्थापना केवल रोमन जाति ही कर सकी क्योकि रोमन लोगों ने साम्राज्य का निर्माण अपने लाभ के लिये नही बल्कि प्रजा की भलाई के लिये किया था। रोमन साम्राज्य के उदाहरण से इस बात का भी प्रमाण लिया गया कि सफल शासन केवल राजतंत्रात्मक ही हो सकता है। जिस प्रकार विश्व की एकता एक ईश्वर मे निहित है उसी प्रकार राज्य मे भी एक ही शासक होना चाहिये। डिमोनार्क्रिया का सबसे महत्वपूर्ण अंग सम्राट को पोप के प्रभाव से स्वतंत्रता दिलाने से संबंध रखता है। शक्तिशाली शासक स्वयं किसी व्यक्ति से प्रभावित नही होना चाहिये। दांते ने केवल राजसत्ता की स्वतंत्रता का ही समर्थन नही किया बल्कि धार्मिक मामलो मे भी पोप की निरंकुशता का विरोध किया। पोप को धार्मिक आदेश देने का भी अधिकार नही है। यह आदेश सबको धर्म ग्रन्थो से मिलते है और पोप के निर्णय धार्मिक परिषद के द्वारा बदले जा सकते है। धार्मिक ग्रन्थों के ही आधार पर दांते ने यह दर्शाया कि राजनीतिक क्षेत्र मे पोप को कोई अधिकार नही हो सकते। दो तलवारो के सिद्धात से यह निष्कर्ष निकाला गया कि सम्राट के अधिकार सीधे ईश्वर से प्राप्त है, पोप से नही। कान्सटेन्टाइन के दानपत्र का विरोध इस वैधानिक आधार पर किया गया कि सम्राट अपने अधिकार हस्तातंरित नही कर सकता। राजसत्ता को अदेय मान लिया गया। शार्लमेन के अभिषेक से भी यह सिद्ध नही होता कि सम्राट के अधिकार पोप से प्राप्त किये गये, क्योकि जो अधिकार पोप के पास नही थे, वे अधिकार पोप सम्राट को प्रदान भी नही कर सकता। धर्म ग्रन्थ स्पष्ट रूप से यह कहते है कि ईश्वर ने दो अलग शक्तियो का निर्माण किया। राजसत्ता का स्रोत ईश्वर है और शासक केवल ईश्वर ही के प्रति उत्तरदायी है। इस कारण से दांते को राजा के दैवी अधिकारो के समर्थकों मे महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

—:o:—

अध्याय ६

परिषदीय आन्दोलन

(The Conciliar Movement)

शताब्दियो के चौदहवे परिवर्तन पर चर्च के एकाधिकार और धार्मिक सत्ता के सिद्धात का तीव्र विरोध किया गया। मध्ययुग मे धार्मिक सत्ता के दो लक्षण स्वीकार कर लिये गये थे। चर्च मे पोप की शक्ति श्रेष्ठ है, वह धार्मिक सम्राट था, और राज्य पर चर्च का नियंत्रण स्वाभाविक है। इनमे से दूसरे विचार का विरोध और खडन पहले शुरू हुआ। फ्रांस मे पोप बोनीफेस की पराजय, तथा 'बेवीलान की दासता' के परिणाम स्वरूप पोप की सत्ता को वडी चोट पहुँची। एविगनान पहुँचने के बाद पोप स्वयं फ्रेंच राजा के प्रभाव मे आ गया और अन्य देशो के शासको व प्रजा को उसमे विश्वास नही रह गया। यह संदेह, अविश्वास और विरोध मे उस समय परिणित हो गया जब फ्रास के राजा के उकसाने पर पोप जान वाइसवे ने जर्मनी की राजगद्दी के उत्तराधिकार के वारे मे हस्तक्षेप करना चाहा। इसी समय पोप जान ने फ्रासिस्कन सघ के दरिद्रता के सिद्धात का भी विरोध किया जिसके कारण अनेक धार्मिक लेखक और पादरी भी पोप की निरंकुश सत्ता के विरोधी हो गये। क्रमश. यह विचार दृढ़ होता गया कि धार्मिक मामलो मे अतिम निर्णय का अधिकार अकेले पोप को नही बल्कि एक धार्मिक परिषद को होना चाहिये, किन्तु इस प्रभावशाली आन्दोलन का अध्ययन करने से पहले उन विचारको का अध्ययन कर लेना भी आवश्यक होगा जिन्होने इस आन्दोलन की पृष्ठ-भूमि तैयार की।

इनमे सबसे महत्वपूर्ण विचारक पेडुआ निवासी मार्सिलियो (Marsiglio of Padua) था। मार्सिलियो का जन्म १२७४ ई० मे इटली मे हुआ था और वह फ्रासिस्कन सघ का सदस्य था। अत. दरिद्रता के सिद्धात के कारण वह पोप जान का विरोधी बन गया। मार्सिलियो ने चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त की थी किन्तु वह एक पादरी था। उसने पेरिस के विश्वविद्यालय मे शिक्षा पाई और कुछ समय तक इस विश्वविद्यालय का रेक्टर (Rector) भी रहा। उस पर विद्वत्तावाद और अरस्तू का प्रभाव होना स्वाभाविक था। पोप की सत्ता का विरोध दाते ने शुरू किया और मार्सिलियो ने इस सिद्धात का विकास किया। पेरिस विश्वविद्यालय मे ही उसका संपर्क ओकम के विलियम (William

of Occam) से हुआ। दोनो के विचारो मे महत्वपूर्ण समानता पाई जाती है। मार्सिलियो की महत्वपूर्ण पुस्तक 'डिफेन्सर पेसिस' (Defensor Pacis) १३२४ मे पूरी हुई; इस पुस्तक का प्रभाव तत्काल तो अधिक नही हुआ किन्तु परिषदीय आन्दोलन के समय और उसके बाद इस ग्रन्थ का महत्व स्वीकार किया गया। इस पुस्तक को मध्य-युग का महानतम और सबसे अधिक मौलिक ग्रन्थ कहा गया है। मार्सिलियो का उद्देश्य चर्च की व्यवस्था का विरोध करना था। साम्राज्य से उसे न तो कोई लगाव था और न वह जर्मन था कि राष्ट्रीय भावनाओ मे प्रेरित होकर रक्षा करता। चर्च के अधिकारियो ने लौकिक क्षेत्र मे जो अधिकार प्राप्त कर लिये थे, वे अनुचित थे और इन्हीं शक्तियो का विरोध मार्सिलियो करना चाहता था और इस उद्देश्य के लिये उसने अरस्तू तथा विद्वत्तावाद का सहारा लिया। उसके विचार मे अरस्तू ने क्रांति के कारणों का जो उल्लेख किया उनमे एक नये कारण की वृद्धि मध्ययुग मे हो गई, यह कारण है पोप का हस्तक्षेप। मेक्यावेली से करीब २०० वर्ष पहले मार्सिलियो ने इस बात को स्वीकार किया कि पोप इटली व यूरोप के छोटे राज्यों मे पारस्परिक संघर्ष को प्रोत्साहन दे रहे हैं ताकि उनका प्रभाव बना रहे।

'डिफेन्सर पेसिस' (Defensor Pacis) के रचयिता के संबंध मे कुछ मतभेद है। कुछ लोगों का विश्वास है कि इस पुस्तक की रचना मार्सिलियो ने जान्डुन के जान (John of Jondun) के सहयोग से की, जब कि दूसरा वर्ग यह मानता है कि इस ग्रन्थ की रचना मार्सिलियो के द्वारा ही हुई। यह ग्रन्थ दो हिस्सो मे है। पहले हिस्से मे अरस्तू के अनेक सिद्धांतो का स्पष्टीकरण किया गया है। यह हिस्सा दूसरे खंड की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि तैयार करता है और दूसरा हिस्सा धार्मिक संघ और अधिकारियों के लौकिक कार्यो और अधिकारों की आलोचना है।

एक्वीनास की तरह मार्सिलियो भी अरस्तू के अनेक विचारो को स्वीकार करता है और उनके आधार पर मध्ययुगीन व्यवस्था की आलोचना करता है। राज्य एक पूर्ण समुदाय है जिसका उद्देश्य अच्छे जीवन की व्यवस्था करना है। अरस्तू के इस निष्कर्ष से मार्सिलियो ने सबसे पहला निष्कर्ष यह निकाला, "सभी मनुष्य, यदि वे विवेकहीन नही हैं और भ्रष्टबुद्धि नही हैं, स्वभावतः पूर्ण और संतोषप्रद जीवन के लिये प्रयत्न करते हैं।" अच्छे जीवन के दो रूप होते हैं—इस विश्व मे और अगले जीवन में। दार्शनिक यह नही बतला सकता कि मृत्यु के बाद अच्छा जीवन क्या है? किन्तु केवल यह दर्शा सकता है कि इस जीवन को अच्छा, सुखी और उन्नतिशील कैसे बनाया जा सकता है। दार्शनिकों ने एक मत से इस बात का समर्थन किया है कि इस जीवन का सुख राजनीतिक बंधनों में ही है। प्रकृति ने मनुष्य को रक्षा और जीवन की वे

प्राकृतिक शक्तियां नही सौंपी जो अन्य प्राणियो को दी है। अतः उसे अनेक कलाओं और विज्ञानों की आवश्यकता होती है और इनके लिये सामूहिक जीवन जरूरी है। इसके साथ-साथ मनुष्यो मे विरोध और द्वन्द भी स्वाभाविक रूप से रहता है जिसे नियन्त्रित करने के लिये न्याय और शासन की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त जीवन मे निरतर विकास के लिये भी राज्य के निर्देशन की आवश्यकता होती है। जीवन का दूसरा क्षेत्र धार्मिक सस्थाओं की आवश्यकता स्थापित करता है। धर्म इस जीवन मे भी उपयोगी है और अगले जीवन के लिये भी। इन सभी कारणो से राज्य मे विभिन्न कार्य करने वाले अनेक वर्गो का निर्माण हो जाता है और राज्य की एकता मे विविधता वनी रहती है। समाज के विभिन्न वर्गो मे पुजारियो का स्थान विशेष महत्व का है। मार्सिलियो के मस्तिष्क मे मध्ययुगीन सघर्प का विचार था और वह धार्मिक हस्तक्षेप व नियंत्रण से राजनीति को मुक्त कराना चाहता था। धर्मगुरुओ को राजनीति से सवध नही रखना चाहिये वल्कि केवल उन वातो की शिक्षा देनी चाहिये जो धर्मग्रन्थो मे वताई गई है। सामाजिक दृष्टिकोण से धर्माधिकारी भी एक सामाजिक सावयव के एक अग है और राज्य को उन पर भी उतना ही नियंत्रण रखना चाहिये जितना अन्य सामाजिक वर्गो पर होता है। यह वात अवश्य है कि धार्मिक सिद्धातो की व्याख्या राज्य के अधिकारियो के द्वारा नही वल्कि धार्मिक अधिकारियो और पंडितो के द्वारा ही होनी चाहिये क्योकि ये सिद्धात विवेक की पहुँच के वाहर है। मार्सिलियो विवेक और श्रद्धा का स्पष्ट विभाजन करता है। दोनो की सीमाये अलग है और दोनो एक दूसरे का स्थान नही ले सकते। विवेक का सपर्क केवल इस जीवन से है और श्रद्धा का मूलत. अगले जीवन से, यद्यपि इस जीवन मे भी श्रद्धा का निश्चित स्थान है। राज्य विवेक का प्रतीक है और चर्च श्रद्धा का। लौकिक जगत की सभी वातो मे चर्च राज्य के अधीन है।

विधि का अध्ययन करते हुए मार्सिलियो दैवी और मानवीय विधि मे अंतर करता है। दैवी विधि ईश्वर के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रदान की जाती है। इस विधि के निर्माण मे मनुष्य का कोई हाथ नही होता। इस व्याख्या मे यह आभास मिलता है कि पोप के आदेशो मे दैवी विधि व्यक्त नही होती वल्कि हर धर्म भीरु व्यक्ति को अपने अंत.करण मे इसकी अनुभूति होती है। यह विधि इस जीवन मे अनेक कार्य करने का आदेश और कुछ कार्य न करने का निपेध हमे देती है किन्तु इसके पालन का पुरस्कार और अवहेलना का दड अगले जीवन मे ही मिलता है। इस कारण से दैवी विधि वास्तव मे विधि नही है क्योकि उसके पीछे कोई वाध्य करने वाली शक्ति (Coercive force)

नही है, दंड का भय नही है। इसीलिये पोप के आदेश मे कोई शक्ति नही है और वह शासक को नियंत्रित नही कर सकता।

विधि का दूसरा स्वरूप मानवीय विधि है। इसका निर्माण सपूर्ण नागरिक समुदाय के द्वारा होता है या उस व्यक्ति के द्वारा जिसे यह अधिकार नागरिक समुदाय प्रदान कर दे। यह विधि मनुष्य को आदेश और निषेध प्रदान करती है, जिसका उद्देश्य इस जीवन मे शाति और संतोष प्राप्त करना है तथा जिसकी अवहेलना करने वाले को दंड दिया जा सकता है। मानव विधि का मूल गुण दंड देने वाली या बाध्य करने वाली शक्ति है। इस व्याख्या मे विधि के दो लक्षण स्पष्ट होते है—आदेश और शक्ति। प्रत्येक मानवीय विधि एक निश्चित शक्ति (राजसत्ता) का आदेश है और उसके पीछे आज्ञापालन प्राप्त करने की शक्ति है। यह विचार सत टामस के विचारो से भिन्न है, जिसने मानवीय विधि को दैवी विधि से सबद्ध माना था और इसका कारण विवेक और श्रद्धा का पृथक्करण ही है। एक निश्चित शक्ति का आदेश होते हुए भी विधि का आधार विवेक ही है। विधायक अपने विवेक के द्वारा न्याय की स्थापना के लिये जो आदेश देता है वही न्याय है। इस व्याख्या मे विधि का रोमन और आधुनिक स्वरूप हमे प्राप्त होता है। रोमन सिद्धान्त की तरह विधि को विवेक से उत्पन्न माना गया तथा विधि की घोषणा को आवश्यक मानना वर्तमान विधि-शास्त्र की विशेषता है।

विधायक की परिभाषा मार्सिलियो ने इन शब्दो मे दी है, "विधायक, अथवा विधि का प्रथम और प्रधान कारण है, जन समूह या सपूर्ण नागरिक वर्ग, अथवा उनका प्रभावशाली हिस्सा, जो साधारण सभाओ मे अपनी स्वतत्र इच्छा से आदेश दे और निर्णय करे कि लोग अपने सामाजिक व्यवहार में कौन से कार्य करे और कौन न करे अन्यथा उन्हे दड दिया जायगा।" इस परिभाषा से प्रजातत्र का ही बोध होता है, और विधि का निर्माण नागरिको के प्रभावशाली हिस्से के द्वारा होना चाहिये किन्तु प्रभावशाली हिस्से का अर्थ केवल संख्या से नही है बल्कि उन मनुष्यो के सामाजिक प्रभाव से भी है। मार्सिलियो के सिद्धांत का प्रयोग प्रजातंत्र के समर्थन के लिये करना उचित न होगा। अरस्तू के विचारो और मध्ययुगीन परम्परा के अनुकूल मार्सिलियो विशेष योग्यता वाले व्यक्तियो को अधिक महत्व देना चाहता है। वह स्पष्ट शब्दो मे लिखता है, "अरस्तू का अनुसरण करते हुए मै नागरिक उसे कहता हूँ जो नागरिक समुदाय (civil community) मे अपने पद के अनुरूप विधायक या न्यायपालक का कार्य करता है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नागरिक या विधायक का अर्थ सभी सदस्यो या सपूर्ण समूह से नही है। विधायक शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए मार्सिलियो राज्य के विभिन्न

वर्गो का भी उल्लेख करता है जो अरस्तू के वर्गीकरण पर ही आधारित है। विधि निर्माण का कार्य नागरिक समूह या तो स्वयं कर सकता है या किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो को सौप सकता है। ये व्यक्ति नागरिको के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिये चुने जाते है, तथा इनके अधिकार मौलिक नही है बल्कि प्रतिनिधि के नाते प्रदत्त है। एक व्यक्ति को यह अधिकार सौंपने मे अत्याचारतत्र का, और कुछ व्यक्तियो को सौपने मे धनतंत्र का भय रहता है क्योकि यह व्यक्ति सामान्य हितो को भूलकर अपने स्वार्थो की ओर मुड सकते है। मार्सिलियो यह दर्शाने का प्रयत्न करता है कि श्रेष्ठ विधियों का निर्माण एक बड़े वर्ग (नागरिक बहुमत) के द्वारा ही हो सकता है, क्योकि कोई व्यक्ति जान बूझकर अपने प्रति अन्याय नही करना चाहेगा और उनका निर्णय सामान्य हितो के अधिक से अधिक अनुकूल होगा। वास्तविक विधायक के दो लक्षण मार्सिलियो प्रस्तुत करता है, वह श्रेष्ठ विधि का निर्माता होना चाहिये और उसके आदेशो का पालन व्यापक रूप से और तत्परता से होना चाहिये। इन दोनो लक्षणो के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि नागरिको का बहुमत ही विधायक का कार्य करे। बहुमत का निर्णय संपूर्ण समाज को अधिकतम सतोप दे सकता है क्योकि कोई भी व्यक्ति स्वेच्छा से कष्ट नही उठाना चाहता। समूह का निर्णय अधिक से अधिक शुद्ध होगा क्योकि विधेयक के अवगुण एक या कुछ व्यक्तियो को सरलता से नही दिख सकते किन्तु अनेक लोगो की दृष्टि से बच भी नही सकते है। दूसरे लक्षण का उल्लेख करते हुए यह तर्क दिया गया कि मनुष्य उस नियम का पालन अधिक अच्छी तरह करता है जिसे उसने स्वय बनाया है, यहाँ पहुँच कर विधि और राज्य की व्याख्या करीब-करीब एक समान हो जाती है। विधि के माध्यम से राज्य की और राज्य के माध्यम से विधि की व्याख्या की जा सकती है। सेवाइन के शब्दो मे दोनो का अर्थ एक ही है, "एक निगमित समुदाय (Corporate Body) जिसमे अपने सदस्यो के व्यवहार को नियन्त्रित करने की शक्ति है।" इन्ही तर्को के आधार पर यह निष्कर्ष भी निकलता है कि विधि के विस्तार, सशोधन और निर्वाचन का अधिकार भी नागरिक समूह को ही है।

शासन मे विधायक, कार्यपालक और न्यायपालक अगो का अंतर भी मार्सिलियों ने किया है। कार्यकारिणी और न्यायपालिका का निर्वाचन नागरिक समूह के द्वारा ही होता है तथा यही समूह इन अधिकारियो की आलोचना, सुधार और पदमुक्ति का भी अधिकार रखता है। इन अधिकारियो के निर्वाचन की प्रणाली मे विभिन्न राज्यों मे अन्तर हो सकता है किन्तु यह निश्चित है कि इनकी शक्ति विधायक से प्राप्त की गई है। यह भी स्पष्ट है कि इन शक्तियो के पैतृक उत्तराधिकारी की अपेक्षा निर्वाचित

प्रणाली अधिक लाभदायक है। इन कार्यों के लिये विशेष अधिकारी ही पर्याप्त हैं और संपूर्ण समूह को स्वयं यह कार्य नही करना चाहिये अन्यथा उनकी शक्तियो का व्यर्थ ह्रास होगा।

मार्सिलियो के ये राजनीतिक विचार बहुत अच्छे और आकर्षक दिखते हैं किन्तु उसके विचारो का अधिक प्रभावशाली अश धर्म से सबंध रखता है। राजतंत्र और निरंकुश शक्ति का विरोध जिस तीव्रता से राज्य मे किया गया, चर्च मे भी किया गया। मूल सत्य तो यह है कि लौकिक अर्थ मे चर्च को या पोप को विधि बनाने या लागू करने का अधिकार ही नही है। दैवी आदेश प्रत्यक्ष ईश्वर से प्राप्त किये गये है और उन्हे लौकिक अर्थ मे विधि नही कहा जा सकता। इन नियमों के उल्लंघन का दंड इस जीवन के बाद ईश्वर ही देता है। यदि इन नियमों के लिये दड देने की व्यवस्था कही पर है तो इसलिये कि राज्य ने उन्हे स्वीकार कर लिया है और यह दड पोप के द्वारा नही बल्कि राज्य के द्वारा ही दिया जा सकता है। इसी आधार पर पोप को धार्मिक बहिष्कार का भी अधिकार नही है। धार्मिक विधि का जो स्वतंत्र अस्तित्व मध्ययुग मे बन गया था मार्सिलियो उसका खडन करता है। यदि विधि दैवी है तो उसका दड मनुष्य के द्वारा नही दिया जा सकता, यदि मनुष्य द्वारा दंडनीय है तो दैवी नही है। धार्मिक अधिकारी न तो दैवी विधि बना सकते है, न उसके पालन के लिये बाध्य कर सकते हैं और न अवहेलना के लिये सजा ही दे सकते है। दैवी विधि का मूल आधार बाइबिल है और मुक्ति के लिये केवल इन्ही आदेशो का पालन करना आवश्यक है। पादरी वर्ग का उत्तरदायित्व केवल परामर्श देना, चेतावनी देना और पाप के दुष्परिणाम दर्शाना है। मार्सिलियो ने चर्च के अधिकारियों का भी विरोध किया। चर्च मे पदों का क्रमिक सगठन और पोप की सर्वोच्चता का विचार राज्य से ग्रहण किया गया है किन्तु चर्च पादरियो का सघ नही है, न ही पोप की सपत्ति है। धार्मिक क्षेत्र मे व्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन किया गया। चर्च पर पोप के निरंकुश शासन का विरोध हर दृष्टिकोण से किया गया और यही तर्क परिषदीय आन्दोलन के सैद्धांतिक आधार बने। एक पोप के विरुद्ध चर्च परिषद के अधिकारो का समर्थन भी उसने किया। जहा दैवी विधि स्पष्ट नही है उनकी व्याख्या पोप या किसी एक व्यक्ति के द्वारा नही की जा सकती। विधायक की जो परिभाषा उसने स्वीकार की उसके आधार पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि दैवी विधि का निर्वचन और स्पष्टीकरण सभी इसाइयो या सभी पुजारियो की एक सामान्य परिषद के द्वारा होना चाहिये। ऐसी परिषद का निर्णय अधिक अच्छा और शुद्ध होगा। उसने न केवल शासन में बल्कि धार्मिक संगठन मे भी सुधारो का समर्थन किया यद्यपि दोनो का सैद्धातिक

आधार एक ही था । यही कारण है कि मार्सिलियो के राजनीतिक विचारों का प्रभाव १६ वी शताब्दी के धर्मसुधार आन्दोलन और आनेवाले वर्षो पर बहुत अधिक रहा ।

धार्मिक क्षेत्र मे ओकम के विलियम (William of Occam, 1280-1347) के विचार अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है । उसके राजनीतिक विचार उतने महत्वपूर्ण नही है । विलियम का मूल उद्देश्य पोप की निरंकुश शक्ति का विरोध करना था । उसका विचार था कि चर्च को सबसे अधिक हानि पोप की निरंकुश शक्ति के कारण ही हुई है । पोप जान बाइसवे के विरुद्ध उसने फ्रांसिस्कन संघ (Franciscan Order) के पुजारियो की दरिद्रता के सिद्धात का समर्थन किया । पोप की निरंकुश सत्ता का विरोध करते हुए उसने प्रवुद्ध अल्पमत की विचारो की स्वतत्रता का समर्थन किया । पोप की निरंकुश सत्ता का विरोध करते हुए उसने प्रबुद्ध अल्पमत की विचारो की स्वतंत्रता का समर्थन किया । विलियम यह मानता था कि पोप की निरकुशता के कारण छोटे राज्यो के आपसी सघर्ष पनप रहे थे , राजाओं की शक्तियों का अतिक्रमण हो रहा था और धार्मिक विश्वास की स्वतत्रता का ह्रास हो रहा था । वह प्रत्येक क्षेत्र मे असीम अधिकार हानिकारक मानता था तथा चर्च और राज्य के द्वारा परस्पर सीमाकन पर्याप्त नहीं था । समकालीन विचारो से प्रभावित होकर उसने पोप पर सामान्य परिषद का नियत्रण लगाना ही उचित समझा । धार्मिक सिद्धातो की अतिम व्याख्या इस परिषद के द्वारा ही दी जा सकती है । विलियम वह भी स्वीकार करता है कि परिषद का निर्णय भी गलत हो सकता है किन्तु एक व्यक्ति की तुलना मे परिषद का निर्णय गलत होने की सभावना वहुत कम है । दैवी विधि का मूल स्रोत धर्मग्रन्थ ही है जिनका ज्ञान हर व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से कर सकता है । उसने एक व्यापक परिपद का उल्लेख किया है जिसमे विशप के अतिरिक्त साधारण ईसाई भी होगे । यह परिषद सभी ईसाइयो के निर्वाचित प्रतिनिधियो से वनेगी । प्रतिनिधियो के चयन के लिये उसने अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का उल्लेख किया है ; पहले विभिन्न क्षेत्रो के प्रतिनिधि चुने जावे फिर वे प्रान्तीय प्रतिनिधि चुनें जिनके द्वारा सामान्य परिषद का निर्वाचन हो । राज्य और चर्च के द्वन्द मे उसने सम्राट की स्वतत्रता का समर्थन किया और सम्राट को चर्च पर नियत्रण रखने का अधिकार दिया ।

विलियम के सिद्धात में धार्मिक विश्वास की स्वतंत्रता का यह अर्थ नही है कि मनुष्य स्वेच्छा से किसी भी धर्म को अगीकार कर सकता है । ईसाई धर्म का पालन तो अनिवार्य ही है क्योकि वही सच्चा धर्म है किन्तु धार्मिक नियमो की व्याख्या करने की स्वतंत्रता हर व्यक्ति को होनी चाहिये । धार्मिक सिद्धांत धर्मग्रन्थों में लिखित

हैं जिनकी व्याख्या व्यक्ति स्वय अपनी बुद्धि से कर सकता है। पोप की व्याख्या को ही अधिकृत मानना उचित नहीं। जान वाइसवे के अनेक निर्णय संदिग्ध थे और चर्च के समर्थकों मे भी उनका विरोध होने लगा था। पोप स्वयं धार्मिक असत्य का अपराधी वन गया था इसलिये हर व्यक्ति को अपने विश्वासो की व्याख्या स्वयं ही करना चाहिये। अन्य विद्वत्तावादियो की तरह विलियम भी विवेक की शक्ति और सत्यता मे विश्वास करता है वल्कि अपने पूर्ववर्तियों से एक कदम आगे यह भी दर्शाता है कि श्रद्धा का स्पष्टीकरण भी विवेक के ही माध्यम से होना चाहिये। धर्मग्रन्थो की व्याख्या हर व्यक्ति अपने लिये विवेक से करे। विद्वत्तावाद के तीन विभिन्न रूप इन तीन दार्शनिको मे पाये जाते हैं—सत टामस के लिये अपने विवेक श्रद्धा का अनुगामी है, मार्सिलियो के लिये दोनो का स्वतत्र अस्तित्व है और विलियम के लिये विवेक श्रद्धा का पथ प्रदर्शक वन जाता है। विलियम के विचारो का महत्व मूल रूप से इस कारण है कि उसने (धार्मिक क्षेत्र मे ही सही) सप्रभु और प्रजा के संवंधो पर संदेह व्यक्त किया और धर्म तथा विश्वास के आधार पर सप्रभु (पोप) के आदेशों का विरोध करने का अधिकार दिया।

परिषदीय आन्दोलन (Concilia1 Movement)—मार्सिलियो और विलियम के विचारो ने एक नये धार्मिक सिद्धांत की स्थापना की जो चर्च की परम्पराओ के विपरीत था। सदियो मे चर्च और ईसाइयो पर पोप का शासन चल रहा था; वह दीक्षा देता था, व्यक्ति को धार्मिक सघ मे स्वीकार करता था, राजा को मान्यता देता था और सभी ईसाइयो को मुक्ति का वह मार्ग दर्शाता था जो महात्मा ईसा और उनके सहयोगियो ने रोमन चर्च को प्रदान किया था। धार्मिक सगठन का आधार यह था कि मुक्ति की कुन्जी पोप के पास है और धर्मग्रन्थ चर्च को प्रदान किये गये हैं तथा चर्च से व्यक्ति को मिलते है। चौदहवीं शताव्दी मे इन विश्वासो का खंडन हुआ और एक नये विचार का आरंभ हुआ कि ईसाई धर्म मे विश्वास करनेवाले हर व्यक्ति का ईश्वर से सवध प्रत्यक्ष है पोप के माध्यम से नहीं। चर्च का अर्थ संपूर्ण ईसाई समूह है और दैवी व आध्यात्मिक शक्तिया ईश्वर ने संपूर्ण चर्च को दी हैं, चर्च के अधिकारियो को नहीं। धार्मिक जीवन और मोक्ष के लिये पोप की दीक्षा और आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक नहीं है वल्कि उन धार्मिक और नैतिक नियमों का पालन करना चाहिये जिनका वर्णन धर्मग्रन्थो मे किया गया है। चर्च मे क्रमिक पदो का अस्तित्व अनुचित है और धार्मिक सिद्धांत के प्रतिकूल है। वास्तविकता यह थी कि चर्च के अधिकारियो मे भ्रष्टाचार और अनाचार वहुत अधिक वढ गया था। विशाल संपत्ति की स्थापना से विशपो मे धन लोलुपता, एश्वर्य और अकर्मण्यता आ गई थी। फ्रान्सिकन संघ ने इसीलिये पुजारियों

की दरिद्रता का सिद्धात अपनाया था। पुजारियो का जीवन सरल और शुद्ध होना चाहिये। पोप ने इस सिद्धात का विरोध किया जिसके परिणाम स्वरूप अनेक धर्माधिकारियो और धर्मावलंबियो मे पोप के प्रति संदेह उत्पन्न हो गया। पोप के आदेश को आंख बन्द करके स्वीकार नही किया जा सकता था, क्योकि पोप के आदेश संदेहास्पद थे इसलिये चर्च के संगठन मे सुधार करने की आवश्यकता थी, और इस सुधार पर जो विवाद हुआ उसे सेबाइन "सार्वजनिक राजनीतिक शिक्षण का प्रथम महत्वपूर्ण आन्दोलन" कहते है। इस आन्दोलन मे, यद्यपि धार्मिक सिद्धातो की व्याख्या के लिये चर्च मे ही एक परिषद बनाने के विचार का समर्थन किया गया किन्तु फिर भी सुधारवादियों ने राजसत्ता का समर्थन प्राप्त करना चाहा। इस कारण से राजनीतिक शक्ति की श्रेष्ठता का समर्थन किया गया।

इस आन्दोलन के आरभिक सिद्धात इङ्गलैड मे जान विक्लिफ (John Wycliffe) और बोहेमिया के जान हुस (John Hus) की रचनाओ मे मिलते है। विक्लिफ आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे एक शिक्षक था किन्तु धर्मसुधार मे उसकी रुचि बहुत अधिक थी। उसका उद्देश्य किसी राजनीतिक सिद्धात की स्थापना या समर्थन करना नही था बल्कि केवल चर्च के संगठन को सुधारना था। यह दोनो सुधारक मार्सिलियो और विलियम के विद्वत्तावाद से प्रभावित थे, इसीलिये यह स्वीकार करते थे कि धार्मिक सिद्धातो की व्याख्या मनुष्य स्वय अपने लिये कर सकता है, उसे यह व्याख्या पोप या चर्च के किसी अधिकारी से प्राप्त करने की आवश्यकता नही है। पोप के स्थान पर सामान्य परिषद की व्याख्या अधिक शुद्ध हो सकती है। विक्लिफ ने राजसत्ता की श्रेष्ठता का समर्थन किया। राजा ईश्वर का दूत है, उसकी शक्तिया ईश्वर से प्राप्त की गई है; वह केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है और पोप तथा बिशप उसके आदेश मानने के लिये बाध्य है। इन सब विचारो का आधार यह था कि राजा को चर्च के संगठन मे सुधार करने का अधिकार है।

चर्च के सगठन मे सबसे अधिक अव्यवस्था (Great Schism) १३७८ से १४१७ तक रही। 'बेबीलान की दासता', जो १३०९ मे शुरू हुई थी १३७६ मे समाप्त हो गई और पोप ग्रेगरी एकादश एविग्नान से रोम आ गये। १३७८ मे ग्रेगरी एकादश की मृत्यु के बाद अर्बन षष्टम (Urban VI) नये पोप चुने गये किन्तु फ्रास के सदस्य इस चुनाव से सहमत नही हुए। ७० वर्ष की दासता मे चर्च पर फ्रेंच प्रभाव बहुत अधिक हो गया था और फ्रास के चर्च अधिकारी अपना प्रभाव बनाये रखना चाहते थे। इस चुनाव से असतुष्ट होकर फ्रेंच पादरी निर्वाचक मडल को छोडकर चले गये और उन्होने अपना एक नया पोप चुन लिया, क्लीमेन्ट सप्तम (Clement VII)। चर्च

मे एक साथ दो पोप हो गये, प्रत्येक अपने आप को ईसा का दूत और चर्च का प्रधान कहता था। ईसाई चर्च मे ऐसी अव्यवस्था का यह पहला अवसर था और साधारण ईसाई इस दुविधा में था कि किस पोप को अधिकृत माने। राजनीति सुविधा और राष्ट्रीय भावनाओ के आधार पर किसी एक पोप का समर्थन किया जाने लगा किन्तु इन सभी बातो से पोप के पद का सम्मान कम होता गया और चर्च सगठन मे सुधार करने की आवश्यकता भी महसूस की जाने लगी। दो पोप हो जाने से श्रद्धा का विभाजन तो हो ही गया था उसके टूट जाने का भी भय उत्पन्न हो गया था। सदियो से यूरोपीय जातियो को एकसूत्र में बाधने वाली शक्ति संदिग्ध हो गई थी। जब यूरोप का राजनीतिक सगठन क्षीण था तो चर्च की एकता मे ही इन जातियो की एकता बनी रही, किन्तु राष्ट्रीय भावनाओ के उदय से विश्वव्यापी समाज की कल्पना ही त्याग दी गई और इन घटनाओ मे विश्वव्यापी समाज की प्रतीक चर्च भी विभाजित होने लगी।

चर्च की इस समस्या को सुलझाने के लिये १४०९ मे धर्माधिकारियो के प्रयास से पीसा (Pisa) मे एक धार्मिक परिषद बुलाई गई। इस परिषद ने अत्यन्त आश्चर्य जनक और क्रातिकारी निर्णय लिया : दोनो पोप अपदस्थ कर दिये गये और एक नया पोप निर्वाचित किया गया। अलेक्जेन्डर पचम (Alexander V)। परिषद के सामने कोई दूसरा मार्ग नही था क्योकि दो मे से कोई भी पोप स्वेच्छा से पद छोडने के लिये तैयार नही था और किसी एक के पक्ष मे निर्णय लेने से चर्च मे स्थायी फूट का भय था। किन्तु यह उपाय भी समस्या को सुलझा नही सका बल्कि अव्यवस्था और अधिक बढ गई। दोनो पोप ने इन निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया और अब दो के स्थान पर तीन पोप हो गये। धार्मिक उलझन और भी उलझ गई। १४१४ में इस उलझन को सुलझाने के लिये फिर से धार्मिक परिषद कान्स्टेन्स (Constance) मे बुलाई गई। इस सम्मेलन मे पहली बार चर्च की एकता को बनाये रखने व सगठन के तथा अधिकारियो के दोषो को सुधारने के प्रश्नो पर विचार किया गया। परिषद में कोई नया सिद्धात प्रस्तुत नही किया गया, ईसाई समाज मे ये प्रश्न कई वर्षो से विचाराधीन थे और मार्सिलियो, विक्लिफ तथा कई छोटे लेखको ने इन प्रश्नो पर विचार व्यक्त किये थे। पोप की सत्ता धार्मिक क्षेत्र में संदिग्ध थी। अब विवाद इस बात का नही था कि पोप की शक्ति श्रेष्ठ है या शासक की, बल्कि प्रश्न यह था कि पोप को ईसाई प्रजा को आदेश देने का अधिकार है अथवा नही। पोप की शक्तियो के आधार पर ही आक्षेप किया जाने लगा था। इस परिषद मे यह सभी तर्क स्पष्ट, विस्तृत व उग्र रूप मे प्रस्तुत किये गये। परिषद ने धार्मिक सत्ता स्वयं प्राप्त करना चाही और

पोप की श्रेष्ठता को मानने से इन्कार कर दिया। परिषद ने यह निर्णय लिया "केथोलिक चर्च का प्रतिनिधित्व करने वाली एक सामान्य परिषद को क्राइस्ट से प्रत्यक्ष शक्ति प्राप्त हुई है, जिसका पालन करने के लिये हर व्यक्ति बाध्य है चाहे उसका पद या गौरव कुछ भी हो, उन सभी बातो मे जिनका सबध श्रद्धा से धार्मिक अव्यवस्था का अंत करने से तथा चर्च के प्रधान व सदस्यो मे सुधार करने से है।" चार वर्षो मे परिषद के ४५ अधिवेशन हुए जिसमे पादरियो और बिशप के अलावा अनेक शासको के प्रतिनिधियो ने भी हिस्सा लिया। १४१७ मे परिषद ने एक महत्वपूर्ण निर्णय किया कि परिषद चर्च के संगठन मे स्थायी स्थान ग्रहण कर ले, इसके सत्र हर दसवे वर्ष बुलाये जाय और परिषद पर पोप का किसी प्रकार का प्रभाव न हो, इसलिये ये सत्र अलग अलग स्थानो पर बुलाये जाय। धार्मिक अव्यवस्था को दूर करने मे भी इस परिषद को सफलता प्राप्त हुई, तीनो पोप अपदस्थ कर दिये गये और एक नये निर्वाचक मडल के द्वारा मार्टिन पंचम (Martin) नये पोप चुन लिये गये। परिषद ने यह निर्णय लिया कि किसी अधिकारी को परिषद भग करने की शक्ति नही है जब तक कि परिषद स्वय ही विघटित होने का निर्णय न ले ले। परिषद के निर्णय की अवहेलना व अवज्ञा को धार्मिक अपराध घोषित कर दिया गया। तीसरी परिषद बेसिल (Basel) मे १४३१ से १४४६ तक हुई। इस परिषद मे प्राय. वे सभी निर्णय दुहराये गये जो कान्स्टेन्स मे लिये गये थ। बेसिल की परिषद ने पोप पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया, उसे अपदस्थ करने की कोशिश की किन्तु सफल नही हो सकी। क्रमश. पोप ने पुन अपनी शक्ति प्राप्त कर ली और परिषदीय आन्दोलन समाप्त हो गया। प्रत्यक्ष रूप मे परिषदीय आन्दोलन को कोई सफलता नही मिली। पोप के चुनाव संबधी विवाद का हल अवश्य कर दिया गया किन्तु स्वय कोई अधिकार ग्रहण नही कर सकी। परिषदीय आन्दोलन का मूल उद्देश्य पोप की सत्ता को सीमित करना था जिसे प्राप्त नही किया जा सका। फिर भी यूरोप की राजनीतिक संस्थाओ के विकास मे इस आन्दोलन मे प्रचलित विचारो का प्रभाव बहुत अधिक पाया जाता है। सेबाइन के शब्दो मे यह आन्दोलन "सवैधानिक शासन और निरंकुशतावाद का पहला वृहत् विवाद था, और इसने उन विचारो का प्रतिपादन व प्रचार किया जिनका उपयोग आने वाले संघर्षो मे किया गया।" जब राजनीति मे शासक के अधिकारो को सीमित करने की समस्या आई तो इन्ही विचारो का प्रश्रय लिया गया।

परिषदीय सिद्धांत (Conciliar Theory)—परिषदीय आन्दोलन मे जिन सिद्धांतो का प्रतिपादन व समर्थन किया गया उनका आधार विद्वत्तावाद से प्रभावित है। इन सिद्धांतो का प्रतिपादन मूलत: पेरिस विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवियो की रचनाओ में

हुआ। जान, मार्सिलियो और विलियम से प्रभावित इन विद्वानों ने परिषदीय आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की। सबसे महत्वपूर्ण सिद्धात यह था कि चर्च अपने आप मे पूर्ण और स्वतत्र संस्था है। परिषदीय आन्दोलन का सबसे महत्वपूर्ण विरोधाभास यही है कि धार्मिक स्वतंत्रता के आधार पर ही धार्मिक सगठन का विरोध किया गया। विद्वत्तावाद के माध्यम से यह विचार प्रचलित हो गया था कि एक व्यक्ति के निर्णय के गलत होने की सभावना अधिक है, अनेक व्यक्ति एक साथ गलती नही कर सकते। धार्मिक श्रद्धा का निर्णय भी एक व्यक्ति के हाथो मे नही सौपा जा सकता। अनेक चर्च अधिकारियो के आचरण और महान् अव्यवस्था की घटना ने यह विश्वास दृढ़ कर दिया कि संपूर्ण शक्ति एक व्यक्ति को प्रदान कर देना हानिकारक है। धीरे-धीरे इस विचार का प्रचार हो गया कि प्रत्येक ईसाई का ईसा के साथ प्रत्यच सबंध है और धार्मिक मामलो का निर्णय करने की शक्ति किसी एक व्यक्ति को नही बल्कि सपूर्ण ईसाई समाज को है। पोप के द्वारा इस शक्ति का यदि प्रयोग किया जाना है तो इसलिये कि वह समाज का मत्री है और समाज के आदेश से इस शक्ति का प्रयोग करता है। यूनानी और रोमन युग से ही यूरोप मे यह सिद्धात प्रचलित रहा है कि राज्य जनता की धरोहर है और शासक केवल एक प्रन्यासी है। शासन का अधिकार समाज का है और उसका प्रयोग, किसी के भी द्वारा हो, सपूर्ण समाज के लिये ही होना चाहिये। इसी आधार पर धार्मिक शक्ति ईसाइयो की सामान्य परिषद की शक्ति मानी गई जिसका प्रयोग प्रतिनिधात्मक परिषद के द्वारा ही हो सकता था। पोप का अस्तित्व वर्तमान राज्य की कार्यपालिका के समान था जो स्वय निर्णय नहीं लेता बल्कि परिषद के निर्णय को कार्यान्वित ही कर सकता था। पोप अपने सभी कार्यो के लिये परिषद के प्रति उत्तरदायी था और परिषद के द्वारा अपदस्थ किया जा सकता था। परिषद का सगठन एक प्रतिनिधि संस्था के रूप मे होना चाहिये जिनका निर्वाचन सभी धर्मावलम्बियों के द्वारा होना चाहिये। इन आधारो पर इस बात की पुष्टि की गई कि चर्च के किसी भी दोष को दूर करने का अधिकार संपूर्ण ईसाई समाज को है और पोप के अवगुण भी इसी शक्ति के अंतर्गत है। इस विवाद मे संवैधानिक राजतत्र का विचार प्रस्तुत किया गया, एक व्यक्ति के शासन पर समाज के प्रतिनिधियो का नियंत्रण रहना चाहिये। यही विचार जब राजनीतिक सगठन पर लागू किये गये तो संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई। जो विचार धार्मिक सगठन के लिये प्रचलित किये गये थे उन्हें राजनीतिक संगठन के चेत्र को हस्तातरित करना कोई कठिन कार्य नही था। ईसाई समाज मे आरंभ से ही चर्च और राज्य को विशाल समाज के दो अंग माना गया है और चर्च का संगठन स्वयं राजनीति संगठन के अनुरूप किया गया था। उचित अवसर आने पर राज्य

में भी निरंकुश सत्ता का विरोध किया और शासक के अधिकारो को सीमित करने के लिये उन्ही विचारों का सहारा लिया गया जो परिषदीय आन्दोलन में प्रस्तुत किये गये थे। इसीलिये इन धार्मिक परिषदो को वर्तमान संसदों की अग्रणी माना जाता है। वास्तव में इस संघर्ष ने दो विरोधी विचार राजनीति को प्रदान किये, समुदाय की संप्रभुता और राजा के दैवी अधिकारों का सिद्धांत। सेवाइन का विचार है, "चर्च मे परिषदीय विवाद दोनो सिद्धांतों के इस विरोध का प्रथम अवसर था और उसी स्वरूप मे यह विरोध एक राजा और उसकी प्रजा के बीच चलता रहा।" जब शासको की ओर से दैवी अधिकारो के सिद्धांत का समर्थन किया गया तो उसका विरोध केवल इसी आधार पर किया जा सकता था कि संप्रभु शक्ति सपूर्ण समाज मे निहित है और शासक समाज का पालनकर्त्ता है। पोप और शासक को केवल कार्यकारिणी के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। मानव शक्ति से ऊपर और उसे सीमित करनेवाली एक प्राकृतिक विधि की कल्पना भी प्रचलित हुई तथा इस विधि की व्याख्या संपूर्ण समाज के द्वारा होनी चाहिये। यह सिद्धात भी स्वीकार किया गया कि किसी भी समाज मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न सपूर्ण समाज के हितो की पूर्ति करना है। सेवाइन के अनुसार परिपदीय सिद्धात की सबसे महत्वपूर्ण देन मधुर संबंध (Harmony) और सहमति (Consent) के दो विचार है। शासक और शासित के बीच मधुर संबंध होना चाहिये विरोध नही जिसके लिये यह आवश्यक है कि शासक अपने को प्रजा का पालनकर्ता समझे और शासन की नीति निर्धारित करने के पहले प्रजा की सहमति प्राप्त करने की कोशिश करे। शासन की शक्ति वैधानिक नही बल्कि नैतिक है और शासक के अनैतिक कार्यो की आलोचना की जा सकती है। यूरोप के औद्योगीकरण के वाद जो उदारवादी व प्रजातंत्रवादी विचार प्रचलित हुए उनके बीच इसी सिद्धांत मे मिलते है। जो विचार धार्मिक क्षेत्र में असफल हुए समय आने पर उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में सफलता मिली।

परिपदीय संघर्ष के युग मे सबसे महत्वपूर्ण विचारक क्यूसा का निकोलस (Nicholas of Cusa) है। पेडुआ विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने के वाद उसने अपना जीवन धर्म की सेवा को अर्पित कर दिया। चर्च की अव्यवस्था और पोप की शक्तियो के दुरुपयोग को देखकर निकोलस भी परिपदीय आन्दोलन का समर्थक वन गया और उसने अपनी पुस्तक 'डि' ककार्डेन्टिया केथालिका, (De Concordantia Catholica) वेसिल की परिषद को समर्पित की। निकोलस की इस पुस्तक में सभी परिषदीय सिद्धातों की स्पष्ट व्याख्या की गई है। ईसाई समाज मे मधुर संवंध और सहमति की आवश्यकता का उल्लेख किया गया और दोनो की अतंर्निर्भरता भी स्वीकार की गई है। चर्च को एक सावयव संगठन स्वीकार किया गया। सभी सावयवों

की तरह चर्च मे भी सभी अंगो के बीच मधुर सम्बन्ध आवश्यक है, और साथ ही सपूर्ण समूह के हितो की पूर्ति भी आवश्यक है। एक ऐसी कार्यकारिणी शक्ति होनी चाहिये जिसमे सामाजिक वर्गो मे संगति रखने की शक्ति हो। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सबकी सहमति के माध्यम से निर्मित एक सामान्य परिषद ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है। विधि को बाध्य करनेवाली शक्ति का आधार सामान्य सहमति है, विधि के प्रति सहमति समाज की प्रथाओ और परम्पराओ मे व्यक्त होती है। यह सहमति एक प्रतिनिधि परिषद के निर्णय मे ही व्यक्त होती है। पोप के अनेक आदेशो की अवज्ञा इसीलिये हुई थी कि वे उसकी व्यक्तिगत इच्छा पर आधारित थे और उनके पीछे सामान्य सहमति की शक्ति नही थी। रूसो की तरह निकोलस भी इस विश्वास से प्रारभ करता है कि सभी मनुष्य प्रकृति से स्वतंत्र और समान है, अत' एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति पर शासन करने का अधिकार केवल शासित की सहमति से ही मिल सकता है। सहमति का तात्पर्य किसी सामाजिक समझौते से नहीं है और न निकोलस यह कहना चाहता है कि हर व्यक्ति की स्वीकृति ली जानी चाहिये। उसका तात्पर्य केवल यही है कि विधि का निर्माण शासक के द्वारा नही होता बल्कि समाज की प्रथाओं व परम्पराओ मे होता है। समाज मे जो प्रथा प्रचलित है, जिसका पालन सभी लोग स्वेच्छा से करते है उसके प्रति उनकी सहमति स्वीकार की जा सकती है। निकोलस का तात्पर्य केवल यही था कि पोप या विधायक को जनसाधारण की मान्यताओ का ध्यान रखना चाहिये और उनके विरुद्ध निर्णय नही लेना चाहिये।

निकोलस ने पोप को आदेश जारी करने के कुछ अधिकार अवश्य दिये किन्तु वह इस बात को स्वीकार करता है कि एक व्यक्ति की अपेक्षा परिषद के अधिकार अधिक श्रेष्ठ है। परिषद के द्वारा पोप अपदस्थ भी किया जा सकता है किन्तु केवल धर्म-विरोध के आधार पर। निकोलस के विचारो से ऐसा प्रतीत होता है कि वह अंतिम या संपूर्ण शक्ति किसी को भी प्रदान नही करना चाहता बल्कि शक्तियो का पारस्परिक सीमाकन और सतुलन चाहता है। इसी व्यवस्था को उसने सगति (Concordantia) कहा है। यद्यपि निकोलस का मूल क्षेत्र राजनीति नही था किन्तु उसने सीमित सत्ता, सहमति और सामूहिक अधिकारो का उल्लेख राजनीतिक क्षेत्र मे भी किया है। निकोलस या परिषदीय सिद्धात का तत्कालीन प्रभाव बिलकुल महत्व नही रखता। बेसिल की परिषद समाप्त होने से पहले ही पोप पुनः शक्तिशाली बन गया था और इसके बाद परिषदो का महत्व भी समाप्त हो गया। राज्य में भी शासक की शक्ति को किसी रूप मे सीमित नही किया जा सका, बल्कि आन्दोलन की असफलता के बाद चर्च मे पोप और राज्य मे राजा पहले से भी अधिक शक्तिशाली हो गये और सामान्य रूप

से लोगों ने यह मान लिया कि एक शक्तिशाली व्यक्ति के नेतृत्व के अभाव मे व्यवस्था सभव नही है। इन विचारो का महत्व वर्तमान युग मे पुनः स्थापित हुआ और अनेक आधुनिक विश्वासो का स्रोत परिषदीय दर्शन मे पाया जाता है। गौरवशाली प्राचीन युग के बाद परिषदीय आन्दोलन ने ही दर्शाया कि सामाजिक जीवन की समस्याओ पर जनसाधारण के द्वारा विवाद किया जा सकता है।

अध्याय १०

निकोलो मेक्यावेली

(१४६६ - १५२७)

[Niccolo Machiavelli · 1469-1527]

यूरोप मे चौदहवी शताब्दी के पूर्वार्ध में ही दो ऐसे विचारो का प्रादुर्भाव हो चुका था जिनके द्वारा ही मध्ययुग का अंत हुआ । वर्तमान राजनीतिक युग के यह दो महत्वपूर्ण आधार है—राष्ट्रीयता की भावना और शक्तिशाली राज्य का संगठन । राष्ट्रीयता का निर्माण परिपदीय आन्दोलन के पहले यूरोप के छोटे राज्यो के आपसी संघर्ष में हो चुका था और शक्तिशाली राजा का विचार बेबीलान की दासता के समय से शुरू हुआ और परिषदीय आदोलन की असफलता के बाद पूर्ण हुआ । यह दोनो विचार इस युग मे अस्पष्ट बने रहे किन्तु उनका प्रभाव बराबर दिखाई देता है । मध्ययुग का सबसे बड़ा लक्षण धार्मिक विश्वासो और सस्थाओ का प्रभाव था जिनके परिणाम स्वरूप समाज-दर्शन के क्षेत्र मे अंधकार बना रहा । इस अंधकार का अंत ईसाई जगत की धार्मिक सुधारवादी क्राति (Protestant Reformation) से माना जाता है किन्तु इन आंदोलन से पहले ही इटली के फ्लोरेन्स राज्य मे मेक्यावेली ने मध्ययुगीन अधकार को समाप्त करने का प्रयत्न किया था । राजदर्शन के इतिहास मे मेक्यावेली का स्थान किस युग में होना चाहिये यह निश्चित नही है । कुछ लेखक मेक्यावेली की गणना मध्ययुग में करते है और कुछ आधुनिक युग का आरभ मेक्यावेली से ही मानते है । सेबाइन ने राज-दर्शन के इतिहास को तीन काल में बाटा है तथा मेक्यावेली का अध्ययन तीसरे हिस्से मे किया गया क्योकि मेक्यावेली के साथ ही आधुनिक राष्ट्रीय राज्य की कल्पना शुरू होती है । यह निश्चित है कि मेक्यावेली की गणना मध्ययुग मे करना उचित नहीं होगा क्योकि उसने मध्ययूग की धर्मान्धता, संकीर्णता और अज्ञान की शृंखलाओ को तोड़ दिया । मध्ययुग मे व्यापक समुदाय (Universal Community) की कल्पना प्रधान थी जो पहले साम्राज्य की एकता और बाद मे चर्च की व्यापकता के रूप मे व्यक्त हुई । मेक्यावेली इस व्यापक समुदाय का समर्थक नही है बल्कि राष्ट्रीय आधार पर इटली को संगठित और शक्तिशाली देखना चाहता था । उसका सिद्धात इटली तक व इटली के

लिये ही सीमित है। मध्ययुगीन विचार प्रणाली के विपरीत मेक्यावेली ने विश्वासों और धर्मग्रन्थों के बजाय इतिहास, तर्क और प्राचीन ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धात निर्मित किया। धार्मिक सस्थाओ व पोप का विरोध केवल यह दर्शाता है कि 'राज्य बनाम चर्च' का प्रश्न मेक्यावेली के मस्तिष्क मे भी था किन्तु यह विरोध केवल इटली की समकालीन राजनीति को ध्यान मे रखकर ही किया गया है। जब कि यूरोप की दूसरी जातिया एक राष्ट्रीय, राज्य के रूप मे संगठित हो चुकी थी, इटालियन जाति अनेक छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त थी। यह राज्य छोटे होने के कारण वैसे ही कमजोर थे ऊपर से आपसी मतभेदो ने इन्हे और कमजोर बना दिया था। अपने महत्व को बनाये रखने के लिये पोप इन राज्यो को एक बड़े राज्य मे विलीन नही होने देना चाहता था, इसलिये पोप के हस्तक्षेप का विरोध करना आवश्यक था। यह निश्चित है कि राजनीति को धर्म और नैतिकता के बंधनों से मुक्ति दिलाकर मेक्यावेली ने मध्ययुग से सबध तोड दिया, किन्तु आधुनिक राजनीति मे वह अपना स्थान निश्चित रूप से नही बना सका। गैटिल मेक्यावेली का स्थान मध्ययुग मे ही मानते है और आधुनिक युग का आरभ धर्मसुधार के बाद से मानते है। आधुनिक राजदर्शन मे राष्ट्रीय राज्य, सप्रभु राज्य, व्यक्तिस्वतत्रता के सिद्धात आवश्यक लक्षण माने जाते है। मेक्यावेली के सिद्धात मे राष्ट्रीय राज्य का विचार अवश्य मिलता है किन्तु अविकसित रूप मे। राष्ट्रीयता का अर्थ और महत्व पूर्णत: स्पष्ट नही हो सका। इसी प्रकार राजा को पूर्ण शक्तिशाली बना देने के बाद भी मेक्यावेली संप्रभु राज्य की सैद्धातिक स्थापना न कर सका। शेष लक्षण मेक्यावेली के सिद्धांत मे नही पाये जाते, न तो व्यक्ति स्वतत्रता का उल्लेख है न व्यक्ति और राज्य के सवन्ध स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। जहा तक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य के सिद्धात की बात है व्यवहार मे यह विचार पहले ही प्रचलित हो चुके थे। राजनीति मे 'व्यापक समुदाय' की कल्पना त्याग दी गई थी और राजाओ के दैवी अधिकारो का सिद्धांत प्रचलित हो चुका था। इन्ही सब कारणों से यह कहा जाता है कि मेक्यावेली 'मध्ययुग से संबंध विच्छेद कर लेता है, आधुनिक हुए बिना' (Ceases to be medieval without being modern)। वास्तव मे मेक्यावेली संक्रामण काल (Transitional period) का विचारक है। इस युग को मेक्सी ने अद्भुत अवकाश (Strange interlude) कहा है, एक ऐसा युग जिसमे पिछली मान्यताये समाप्त हो चुकी थी किन्तु नये विचार नही बन सके थे, या बनने की अवस्था मे थे।

मेक्यावेली की रचनाएँ दार्शनिक दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण व सारगर्भित नही हैं, और न ही उसने किसी नवीन राज्य सिद्धांत का निर्माण ही किया। वास्तव में राज्य सिद्धांत या दार्शनिक मीमांसा से उसका कोई संबंध नही था, वह तो व्यावहारिक

रूप से केवल अपने देश व जाति की तात्कालिक समस्याओं का अध्ययन करना चाहता था और उन्हे सुलझाने के उपाय खोजना चाहता था। इस अध्ययन मे अपने अनुभव और प्राचीन ज्ञान के पुनर्जागृति का सहारा लेकर उसने उन शृंखलाओं को तोड़ दिया जो मध्ययुग मे ज्ञान के विकास को रोके हुए थी। राज्य और चर्च के जिस विरोध ने राजदर्शन के विकास को पगु कर दिया था उसे महत्वहीन मानकर और धर्म के प्रभाव से मुक्त राजनीतिक सिद्धात का निर्माण करके उसने स्वतंत्र राजनीतिक चिन्तन को पुनर्जीवित कर दिया।

पन्द्रहवी शताब्दी के अंतिम व सोलहवी शताब्दी के आरभिक चरण मे यूरोपीय जीवन व्यवस्था मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। अमेरिका व पूर्व की खोज मे यूरोपीय राज्यो के सामने व्यापार व विस्तार का नया क्षेत्र खुल गया। पुनर्जागरण (Renaissance) ने ज्ञान का प्राचीन प्रकाश देकर मध्ययुगीन अंधकार को नष्ट कर दिया। रोमन कैथालिक चर्च का प्रभाव भी टूट रहा था और ईसाई जगत को मध्ययुगीन धर्मान्धता से मुक्ति मिल रही थी। यह कहा जाता है कि चर्च न तो रोमन रह गई थी न कैथालिक। १४५३ मे कुस्तुनतुनियाँ (Constantinople) पर तुर्को का अधिकार होने के साथ ही बाइजेन्टाइन साम्राज्य भी टूट गया। मुद्रण (Printing) का आविष्कार मानव जगत मे एक नया प्रकाश लेकर आया। प्राचीन ग्रन्थो का प्रकाश पुस्तको के रूप में सारे यूरोप मे घर-घर को प्रकाशित कर रहा था। यूरोप मे इतनी पुस्तको का प्रकाशन हुआ जितनी इस युग से पहले कभी आशा भी नही की गई थी। मध्ययुग में धार्मिक विश्वासो के कारण जिन सिद्धांतो (Dogmas) को सरलतापूर्वक अकाट्य मान लिया गया था उनके प्रति नई आशकायें उत्पन्न होने लगी। पुरानी सत्ताओ को तोड़कर राजनीति मे नई राजनीतिक शक्तियो का उदय हुआ (संगठित राष्ट्र जाति की शक्ति) जिसने चर्च और साम्राज्य दोनो को समान रूप से आघात पहुँचाया। साम्राज्य विच्छिन्न हो रहा था और राष्ट्रीयता के आधार पर अनेक शक्तिशाली राज्यो का निर्माण हो रहा था। इंग्लैण्ड, स्पेन और फ्रास मे राष्ट्रीय शक्तियाँ स्थापित हो चुकी थी और जर्मनी का एकीकरण आरंभ हो चुका था। शासको ने नैतिक, अनैतिक और धार्मिक न्याय की भावनाओं को त्यागकर राज्य का विस्तार ही अपना ध्येय बना लिया था। इन शक्तिशाली राज्यो के आगे धर्मगुरुओ के पैर उखड़ चुके थे और रोम के पोप को अपनी सत्ता की सुरक्षा का एकमात्र उपाय इटली का विभाजित रहना ही दिखाई दे रहा था; इटली के पाच राज्य जब तक आपस मे लड़ते रहेगे, पोप का महत्व एक मध्यस्त के रूप मे बना रहेगा और कोई शासक उससे अधिक शक्तिशाली न हो सकेगा। किन्तु इटली के राजनीतिक हित राष्ट्रीय एकीकरण चाहते थे। कमजोरी और आपसी कलह के कारण

इटली के राज्य अन्य यूरोपीय शक्तियो के लिये युद्धस्थल बन गये थे। राष्ट्रवाद एक ऐसी शक्ति थी जो राज्यो की स्पर्धा मे निर्णायक बन चुकी थी। जो जाति विभाजित थी उसका अस्तित्व खतरे मे था।

इस राजनीतिक वातावरण मे मेक्यावेली का जन्म १४६६ मे फ्लोरेन्स के एक संपन्न परिवार मे हुआ। निकोलो का पिता एक वकील था और अपने पुत्र को किसी कूटनीतिक पद पर देखना चाहता था एवं इसी दृष्टिकोण से निकोलो का शिक्षण हुआ। मेक्यावेली के पिता गणतंत्र के समर्थक थे। १४६४ मे मेडिसी वश का राजा फ्लोरेन्स से निष्काषित कर दिया गया और गणतत्र की स्थापना की गई। इसी वर्ष निकोलो को विदेश विभाग मे एक लिपिक के रूप मे प्रवेश मिला और केवल चार वर्ष के अनुभव के बाद वह सचिव के उच्च पद पर पहुँच गया। कूटनीतिक पदो पर कार्य करते हुए मेक्यावेली को यूरोप की कई राजधानियो मे अनुभव प्राप्त हुआ। सबसे अधिक समय तक वह फ्रास मे रहा। अपने कार्य के संबंध मे मेक्यावेली का संपर्क सीजर बोर्जिया (Cesare Borgia) से हुआ, जिसका प्रभाव मेक्यावेली पर बहुत अधिक माना जाता है। यहां तक की उसकी महान् पुस्तक 'प्रिस' (rPince) का आदर्श भी सीजर बोर्जिया को ही माना जाता है। १५१२ मे स्पेन के आक्रमण के आतंक के कारण फ्लोरेन्स गणतंत्र को त्यागकर शासन का अधिकार फिर से मेडिसी वंश को प्रदान कर दिया। इसके साथ ही मेक्यावेली के कूटनीतिक जीवन का अंत हो गया। मेडिसी के विरुद्ध षडयंत्र करने के अपराध मे उसे कारावास हो गया किन्तु शुभचिन्तको के प्रयास से एक ही वर्ष के बाद उसे स्वतंत्र कर दिया गया यद्यपि उसके सार्वजनिक व राजनीतिक जीवन पर प्रतिबध लगा दिया गया। वह अपने ग्राम मे अवकाश प्राप्त जीवन व्यतीत करने लगा और अवकाश का पूर्णरूपेण सदुपयोग करते हुए इसी काल मे उसने अपने अनुभवो के आधार पर अपनी पुस्तको की रचना की। 'प्रिन्स' (Prince) और 'डिस्कोर्सेज' (Discoursses on Livy) उसकी महत्वपूर्ण रचनाये है। मेक्यावेली ने स्वयं यह लिखा है कि वह दिन मे अपने खेतो पर कार्य करता था और रात मे अपने दरबारी परिधान पहनकर पुस्तकें लिखा करता था। 'प्रिन्स' मेडिसी को समर्पित की गई और मेक्यावेली ने इसे स्वीकार किया है कि इस समर्पण का उद्देश्य मेडिसी को प्रसन्न करना है। १५२१ मे उसे पुन: राजनीतिक जीवन मे स्थान प्राप्त हुआ किन्तु १५२७ मे उसकी मृत्यु हो गई।

राजनीति और नैतिकता—राजनीति दर्शन के इतिहास मे मेक्यावेली को आधुनिक युग का प्रथम वैज्ञानिक माना जाता है, क्योकि उसने धर्म और नैतिकता से मुक्ति दिलाकर राजनीति को स्वतंत्र विषय का रूप दिया। इस कार्य मे मेक्यावेली का

प्रयास अरस्तू से अधिक सराहनीय कहा जा सकता है क्योकि अरस्तू के विचारो पर नैतिकता का प्रभाव बराबर बना रहा। मेक्यावेली ने प्राचीन दर्शन से दो विचार अपनाये और उनकी व्याख्या इस रूप मे की जिससे वह अपने निष्कर्षो का समर्थन कर सके। पहला सिद्धात है राज्य को मानव जीवन की सर्वोच्च सस्था मानना। इस आधार पर उसने यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य की सुरक्षा मानव जीवन का सर्वोच्च ध्येय होना चाहिये तथा सुरक्षा के लिये किये गये कार्य सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त होने चाहिये। चर्च को राज्य के अधीन बतलाकर मेक्यावेली ने राज्य की सर्वोच्चता की पुन. स्थापना की। धार्मिक सस्थाओ के प्रभाव मे न केवल शासक कमजोर हो गये थे बल्कि राजदर्शन का स्वतंत्र अस्तित्व ही समाप्त हो गया था। धर्म के इस प्रभाव से मुक्त न होने पर शायद राजदर्शन का आधुनिक रूप कभी विकसित न हो पाता। यूनानी लोग राज्य को सर्वोच्च सस्था इस रूप मे नही मानते थे और न राज्य की सर्वोच्चता शासक को निरंकुश अधिकार प्रदान करती थी। दूसरा सिद्धात है सभी व्यवहारो की प्रेरणा सुख की भावना है। इस आधार पर मेक्यावेली ने मानव स्वभाव की व्याख्या निपट स्वार्थी के रूप मे की। विषय को वैज्ञानिक स्वरूप देने के लिये मेक्यावेली ने ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति को भी ग्रहण किया है यद्यपि यह पद्धति शुद्ध रूप से वैज्ञानिक नही थी। ऐतिहासिक घटनाओ के विश्लेषण से उसने कोई निष्कर्ष नही निकाले बल्कि पूर्वमान्य सिद्धांतों का समर्थन करने के लिये इतिहास से अनुकूल उदाहरण प्रस्तुत किये है। मानव जीवन का मानसिक विश्लेषण और मनुष्य की राजनीतिक प्रेरणाओ की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी मेक्यावेली ने की। मानव स्वभाव का चित्रण अपूर्ण या एकागी भले ही रहा हो किन्तु इस प्रणाली का प्रयोग ही उल्लेखनीय है क्योकि आधुनिक अध्ययन प्रणाली मे भी मानसिक क्रियाओ को सामाजिक ज्ञान का आधार माना गया है।

मेक्यावेली की रचनाओ मे कल्पना और आदर्श का कोई स्थान नही है। किसी भी कूटनीतिज्ञ मे कल्पना और आदर्श का कोई स्थान नही हो सकता क्योकि वे अपने दैनिक कार्यो मे इस बात का अनुभव करते है कि राज्यो के पारस्परिक सबध छल-कपट और स्वार्थपरता पर आधारित है, शासको की दृष्टि मे मानव जीवन का कोई मूल्य नही है। सीजर बोर्जिया के संपर्क से भी मेक्यावेली ने यही सीखा कि शासक के जीवन मे नैतिकता का कोई स्थान नही, शासन का एकमात्र आधार शक्ति है। वेलेन्टिनो का यह शासक अत्यन्त कुशल, शक्तिशाली और क्रूर था इसीलिये मेक्सी का यह विचार है, "यदि मेक्यावेली मे सीजर बोर्जिया से सम्पर्क के पहले कोई अटूट आदर्श थे, तो उसे

शीघ्र ही ऐसा अनुभव हुआ जो किसी मनुष्य के हृदय में आदर्शो के लिये कोई स्थान नही छोड़ता ।"

'प्रिंस' और 'डिस्कोर्सेज' मे शासन के अलग-अलग सिद्धांतो का वर्णन किया गया है जिसके कारण यह भ्रम होता है कि मेक्यावेली के विचार स्वतः विरोधी है। वास्तविकता यह है कि दोनो पुस्तको मे विभिन्न परिस्थितियो मे शासन कला का उल्लेख किया गया है। 'डिस्कोर्सेज' मे वह गणतत्र का वर्णन करता है और रोमन आदर्श को स्वीकार करता है। गणतत्र अधिक श्रेष्ठ शासन की व्यवस्था है किन्तु 'प्रिस' मे केवल एकतंत्र की ही व्याख्या की गई हे। क्योकि मेक्यावेली का यह विश्वास था कि समकालीन वातावरण मे इटली को सगठित व शक्तिशाली बनाने के लिये कुशल राजतंत्र की आवश्यकता थी। अनेक कारणों से मेक्यावेली की 'प्रिन्स' ही अधिक चर्चित है। इसी पुस्तक को कूटनीतिज्ञो और शासको ने अपनाया और आलोचको ने इसी पुस्तक की भर्त्सना की।

मानव कार्यो की मनोवैज्ञानिक मीमासा करते हुए मेक्यावेली ने यह विचार अपनाया कि मनुष्य स्वार्थी है, निजी हितो की पूर्ति ही मनुष्य के सभी व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यो की प्रेरणा है। जो मनुष्य के लिये सही है वह राज्य के लिये भी सही है ; क्योकि राज्य भी मनुष्यो द्वारा शासित होते है और शासको मे मानवीय गुण व अवगुण होना स्वाभाविक है। इस मनोविश्लेषण का यह अर्थ नही है कि मेक्यावेली मनुष्य से घृणा करता है, बल्कि इसका कारण यह है कि उसने मनुष्य का यही रूप अपने जीवन मे देखा था। आदर्शवाद कितना भी आकर्षक क्यो न हो, जीवन मे, और विशेषकर तात्कालिक समस्याओ के सुलझाने के लिये उसका कोई उपयोग नही है। मानव जीवन की दूसरी महत्वपूर्ण प्रेरणा भय हे। मनुष्य मे प्रेम जैसी कोई चीज नही है, प्रेम और आदर का आधार भय ही है। 'भय बिन प्रीत न होय' के आधार पर राजा को शक्तिशाली होना चाहिये और हमेशा जनता को आतंकित रखना चाहिये। प्रेम या आदर के कारण प्रजा शासक की आज्ञा का पालन नही करती बल्कि दंड के भय से। मेक्यावेली का यह विचार है कि प्रजा जिसका आदर करती है उसका उल्लंघन और विरोध कर सकती हे किन्तु जिससे डरती है उसका विरोध नही कर सकती। शासक को कठोर तो होना चाहिये किन्तु कोई ऐसा कार्य नही करना चाहिये जिससे प्रजा के भौतिक स्वार्थो का विरोध हो, विशेष रूप से सपत्ति छीनने का प्रयास कभी नही करना चाहिये क्योकि "मनुष्य अपने पिता की हत्या को भूल सकता है किन्तु संपत्ति के अपहरण को नही भूल सकता (प्रिस)।" शासन की सफलता के लिये मानव-स्वभाव के इन लक्षणो को ध्यान मे रखना आवश्यक है। मानव स्वभाव का यह विश्लेषण विशेष रूप से

आधुनिक विद्यार्थी के लिये सही नही हैं। मनुष्य की परोपकारी भावनाओं की अवहेलना करना वास्तविकता से दूर है, तथा भय पर आधारित कोई भी राज्य स्थायी नही हो सकता इतिहास इस बात का प्रमाण है। ग्रीन का विचार ही सही दिखता है कि राज्य का आधार इच्छा होना चाहिये शक्ति नही। मेक्यावेली के कटु अनुभव और तात्कालिक आवश्यकता ही मानव स्वभाव के इस विश्लेपण का कारण है। परिस्थितिवश कठोर और निरंकुश एकतंत्र का समर्थन करना आवश्यक था जो मानव स्वभाव के इस काले चित्रण पर ही किया जा सकता था। टामस हाब्स ने भी इसी उद्देश्य के लिये इसी विश्लेपण का सहारा लिया। मेक्यावेल्ली ने इस विश्लेपण को केवल सामयिक माना है और गणतत्र की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है। गणतंत्र मे जनता का नैतिक स्तर ऊँचा होना चाहिये, किन्तु इटली मे नैतिक पतन तीव्रता से हो रहा था और राष्ट्रीय एकीकरण भी आवश्यक था। ऐसी परिस्थिति मे निरंकुश एकतंत्र ही एकमात्र उपाय था।

मेक्यावेली को काफी समय तक साहित्य मे तिरस्कार और अपमान की दृष्टि से देखा गया, आज भी साधारण पाठक यही समझता है कि मेक्यावेली का दर्शन स्वार्थवाद और अवसरवाद का प्रतीक है। किन्तु उसने स्वार्थवाद को सामान्य व्यवहार के सिद्धात के रूप मे नही अपनाया है। किसी भी समाज के सभी नागरिक यदि स्वार्थी हो जायं तो समाज के बधन अधिक स्थायी नही हो सकते। समाज के सदस्यो को नैतिक नियमों का पालन करना अनिवार्य है किन्तु यह बंधन शासको पर नही लगाया जा सकता। वास्तविकता यह है कि उस समय सभी देशो के शासक अपने पारस्परिक व्यवहार मे नैतिकता को कोई महत्व नही देते थे और अंतर्राष्ट्रीय सबंध किसी नियम से बंधे हुए नही थे। इसीलिये मेक्यावेली को नैतिकता के दो अलग-अलग मापदंड मानने पड़े। साधारण प्रजा को नैतिक नियमों का पालन अनिवार्य है अन्यथा अराजकता की संभावना बढ़ जाती है, राजाज्ञा का पालन अनिवार्य है। शासकों का व्यवहार किसी नियम से सीमित नही है, वह धर्म और नैतिकता मे ऊपर है। मेक्यावेली ने यह सिद्धांत भी प्राचीन दर्शन से ग्रहण किया और उसका अर्थ अपने अनुकूल लगा लिया। रोमन युग में शासक को विधि का स्रोत और विधि से ऊपर माना जाता था, मेक्यावेली ने उसे नैतिक बंधनों से भी स्वतंत्र कर दिया। राजनीति को धार्मिक बंधनो से मुक्त करना इसलिये आवश्यक था कि इसके बिना इटालियन जाति का राष्ट्रीय संगठन संभव नही था। रोम का पोप इटली को विभाजित ही रखना चाहता था। फ्रांस और जर्मनी की नजरें इटली पर लगी हुई थी और ये देश इटली की राजनीति मे बडी दिलचस्पी ले रहे थे। मेक्यावेली ने इटली की कमजोरी के दो कारण माने है—राष्ट्र का विभाजित होना जिसके लिये पोप उत्तरदायी था और भृत्यजीवी सेना (Mercenary Troops)

जो धन के लिये लड़ती थी, राष्ट्र की रक्षा के लिये मरने-मिटने की भावना उनमें नहीं थी। इन कमजोरिया को दूर करने के लिये मेक्यावेली ने संपूर्ण इटली का एक शक्तिशाली शासक के अधीन सगठित होना आवश्यक माना और कुशल शासक के आचरण की व्याख्या की। शासक के लिये ध्येय ही महत्वपूर्ण है, साधनों का महत्व नहीं है। साध्य अपने-आप मे पूर्ण है, साधनो का औचित्य साध्य मे है। राज्य की सुरक्षा के लिये सभी साधन उचित हैं, नैतिक-अनैतिक का कोई भेद नही है। राज्य की सुरक्षा के लिये छल-कपट, हिंसा, झूठ सभी का सहारा लिया जा सकता है। शासक पर धर्म का भी कोई बंधन नही है और मध्यकालीन धारा को तोड़कर मेक्यावेली यह मानता है कि चर्च भी राज्य के अधीन है। धार्मिक सस्थाओ का पतन शुरू हो गया था और उसका यह विश्वास था कि मनुष्य के पतन के लिये धार्मिक संस्थाये उत्तरदायी थी। किन्तु मेक्यावेली का यह ध्येय कभी नही रहा कि धार्मिक संस्थाओं को समाप्त कर दिया जाय। वह न तो धर्म का विरोधी था न नैतिकता का, बल्कि केवल शासक को इन बंधनो से मुक्ति दिलाना चाहता था। इसीलिये यह कहा जाता है कि मेक्यावेली अनैतिक नही नैतिकताविहीन था, अधार्मिक नही धर्महीन था। (He was not unmoral but immoral, not irreligious but unreligious) इन विचारो के कारण ही मेक्यावेली की इतनी भर्त्सना की गई है किन्तु यह एक सत्य है कि कूटनीति मे इन बातो का अनुगमन सदियो से हो रहा था और मेक्यावेली राजशास्त्री होने की अपेक्षा कूटनीतिज्ञ अधिक था और वह एक गंभीर देशप्रेमी था। जैसा कि मेक्सी ने लिखा है, उसमे "इस नैतिक छद्म के प्रति कोई धैर्य नहीं था, न ही सत्य का कोई भय था।" जब उसने देखा कि राजनीतिक ध्येय की पूर्ति मे नैतिकता बाधक है और अन्य राज्य नैतिकता का उपयोग केवल एक छद्म के रूप मे कर रहे हैं तो उसने इस आवरण को त्याग दिया। धार्मिक कमजोरियो का उल्लेख करते हुए मेक्यावेली लिखता है, "हमारा धर्म विनम्रता, निम्नता और लौकिक वस्तुओ के प्रति घृणा मे ही सुख का स्थान मानती है·········मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इन सिद्धातो ने मनुष्य को कमजोर बना दिया है और उन्हे अनाचारियों का शिकार बना दिया है; जो उनपर सफलतापूर्वक नियंत्रण कर सकते है क्योंकि मनुष्यों का विशाल समूह स्वर्ग प्राप्त करने के लिये अत्याचार का विरोध करने की अपेक्षा सहन करना चाहते है।" मेक्यावेली के सामने भविष्य बिल्कुल स्पष्ट था। इटली या तो नैतिकता की सीमा मे संकुचित रहे और यूरोप की विस्तारवादी शक्तियो को आक्रमण के लिये लालायित करे अथवा नैतिक बंधनों को त्याग, राष्ट्रीय शक्तियो का केन्द्रीयकरण करके वह स्वयं विस्तारवादी स्पर्धा मे शामिल हो जाय। इस स्पर्धा मे शामिल होने के लिये राजनीतिक व कूटनीतिक क्षेत्र मे धर्म और नैतिकता के बंधन

त्यागना होगे। मेक्यावेली का यह अर्थ नही था कि राज्य का प्रत्येक अनैतिक कार्य उचित है बल्कि वह केवल यह कहना चाहता था कि राजनीतिक कार्यो का औचित्य उद्देश्य की प्राप्ति से निर्धारित किया जाना चाहिये। जो कार्य राज्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक है वह उचित है, चाहे व्यक्तिगत नैतिकता का मापदंड कुछ भी कहे।

शासक को निर्देश :—'प्रिस' के अध्ययन मे सबसे खेदजनक बात शासक को दिये गये निर्देश है जिनके कारण राजनीतिज्ञो के प्रति घृणा उत्पन्न होती है। अच्छे शासक को क्या करना चाहिये क्या नही इन्ही बातो से 'प्रिस' के पृष्ठ भरे हुये है। अच्छे शासक का अर्थ लोकप्रिय या जनहितकारी शासक नही है बल्कि ऐसा शक्तिशाली शासक जो राज्य को संगठित रख सके और राज्य की सुरक्षा कर सके। इसी उद्देश्य से शासक के निरंकुश अधिकार प्रदान किये गये, वह अपने कार्यो के लिये किसी के प्रति उत्तरदायी नही है और शासक के अलावा अन्य कोई व्यक्ति इस बात का निर्णय नही कर सकता कि राज्य के अस्तित्व के लिये क्या आवश्यक है, क्या नही। आज हमे यह विचार अत्यंत हास्यास्पद और हानिकारक दिखाई देता है किन्तु यदि कूटनीतिक प्रयासो और क्रियाओ का विश्लेषण किया जाय तो आज भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ राजनीतिज्ञो ने राज्य की सुरक्षा के लिये नैतिकता को त्याग दिया और हम उन कार्यो की प्रशंसा करते है। जब तक अतर्राष्ट्रीय युद्धो की संभावना बनी है राज्यो को नैतिक बन्धनो मे बाधना सभव नही दिखता। राज्यो को नैतिक बन्धनो से मुक्त करने का विचार साम्राज्यवाद की अनोखी देन है और मेक्यावेली का युग साम्राज्यवाद का आरभ था।

अच्छा शासक वह है जो अपनी गलतियो को छिपाना जानता है और उनका प्रयोग अपने लाभ के लिये कर सकता है। त्रुटि एक मानवीय लक्षण है और शासक देवता नही है। जहां तक सभव हो शासक को कोई अनुचित कार्य नही करना चाहिये, किन्तु जब ऐसा कोई कार्य हो जावे तो उसके लिये दुखी होने के बजाय उसे यह दर्शाने का प्रयत्न करना चाहिये कि वह कार्य वास्तव मे राज्य के हित मे था। राज्य की रक्षा के लिये उसे ऐसे अनेक कार्य करना पड़ते है जो प्रशंसनीय नही है। मेक्यावेली लिखता है, "कुछ बाते जो सद्गुण के समान दिखती है, व्यवहार मे शासक के लिये घातक है, जबकि कुछ और बातें जो दुर्गुण के समान दिखती है। उसे सुरक्षा और उन्नति प्रदान करती है।" सार्वजनिक जीवन मे शासक को समाज का वातावरण और प्रजा की रुचि देखकर कार्य करना चाहिये। जनमत मितव्यता का समर्थक है या उदारता का इसके

अनुसार उसे स्वयं कम या अधिक खर्चीला होना चाहिये । किसी के विश्वास को बनाये रखना केवल उसी समय तक उचित है जब तक राज्य के हित मे है, राज्य की रक्षा के लिये विश्वासघात भी किया जा सकता है । इस संबंध मे 'प्रिंस' मे लिखा गया है, "हर व्यक्ति इसे स्वीकार करता है कि शासक के द्वारा विश्वास का पालन तथा कपट को त्याग चरित्र की दृढता बनाये रखना कितना प्रशंसनीय है । किन्तु हमारा अनुभव यह है कि जिन शासको ने महान् कार्य किये है वे विश्वास के पात्र कम रहे है और उन्हे मनुष्य की बुद्धि को चालाकी के द्वारा छलने का ज्ञान रहा है ।" प्रत्येक शासक एक दूसरे को छलने की कोशिश करता है और जो छलता नही वह छला जाता है । शासक को यह बात भी ध्यान मे रखना चाहिये कि वह इन कार्यो के कारण प्रजा की घृणा का पात्र न बन जाय ; इसलिये अपने प्रकट रूप मे उसे सदाचारी होना चाहिये,......"इसलिये शासक मे सभी सद्गुणो का होना अनावश्यक है, किन्तु यह दर्शाना आवश्यक है कि उसमें सभी सद्गुण है । और मै यह कहने का साहस करूगा कि इनका (सद्गुणो का) होना और पालन करना हानिकारक है किन्तु इन्हे दर्शाना लाभदायक है । प्रत्यक्ष मे कृपालु, विश्वसनीय, मानवीय, धार्मिक दिखना किन्तु आवश्यकता पडने पर इनके विपरीत बनने के लिये मानसिक रूप से तैयार रहना आवश्यक है ।" इसी सम्बन्ध मे एक अन्य स्थान पर मेक्यावेली लिखता है, "देखते सब लोग है, समझते बहुत कम है । आप कैसे दिखते है यह सभी देखते है किन्तु आप वास्तव मे क्या है यह कुछ लोग ही जानते है और यह थोडे से लोग उस समूह के विरोध का साहस नही कर सकते जिसके पीछे शासक की शक्ति है ।" इतिहास से कई सफल शासको का उदाहरण देकर इस तर्क का समर्थन किया गया है । आगे चलकर मेक्यावेली इस बात पर भी विचार करता है कि शासक को प्रजा का प्रेम प्राप्त करना चाहिये या उन्हे भयभीत करना चाहिये । यदि कोई राजा दोनो प्राप्त कर सकता है तो अच्छा है किन्तु दोनो एक साथ बहुत कम सभव है । दोनो मे से भय पर आधारित राज्य अधिक स्थिर होगा क्योकि शासक के प्रति प्रेम होने पर भी प्रजा किसी कारण से या किसी के बहकाने से विद्रोह कर सकती है । हम जिसका आदर करते है उसका विरोध करने का साहस हो सकता है किन्तु जिसकी शक्ति से डरते है उसका विरोध करने का साहस बडी मुश्किल से होता है । इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि मनुष्य प्रेम अपनी इच्छा से करता है जिसके लिये राजा प्रजा को बाध्य नही कर सकता किन्तु प्रजा को आतंकित रखना उसकी शक्ति मे है । इस सम्बन्ध मे मेक्यावेली शासक को एक चेतावनी देता है कि उसे शक्ति का प्रयोग करते हुए भी जनता की घृणा से बचने का प्रयत्न करना चाहिये । घृणा के बिना

भयभीत करनेवाला शासक अधिक स्थायी होगा। घृणा से बचने के लिये यह आवश्यक है कि शासक प्रजा की संपत्ति और स्त्रियों के प्रति अनुचित व्यवहार न करे। विरोध की संभावना उस समय तक पैदा नही होती जब तक दो हित आपस में न टकरायें और सामान्य जनता के मूल हित उनकी संपत्ति और कुटुम्ब है। शासक को खुशामदी लोगों से भी दूर रहना चाहिये क्योंकि इनके प्रभाव मे उसका निर्णय गलत हो सकता है। उसे केवल कुछ चुने हुए बुद्धिमान परामर्शदाता रखना चाहिये जो स्थिति का सही ज्ञान कराये। यह व्यक्ति हमेशा सही परामर्श दें इसके लिये यह आवश्यक है कि वह सत्य बोलने वाले सलाहकारो को पारितोपिक दें और सत्य छिपाने-वालों पर क्रोध प्रगट करे। यह बात स्मरणीय है कि मेक्यावेली खुशामदी लोगो का विरोध करता है किन्तु पुस्तक का समर्पण शासक को प्रसन्न करने के लिये उसी के प्रति करता है। हर नागरिक की बात राजा स्वयं सुने यह भी उचित नही है, ऐसा करने से उसका भय कम हो जाता है। कुलीन और दरिद्र दोनो वर्गो को संतुष्ट रखना भी आवश्यक है; वह "कुलीन वर्ग को निराशा का शिकार न होने दे और प्रजा को असतोप का।" इन सभी बातो को ध्यान मे रखते हुए शासक प्रजा से अपने अवगुण छिपा सकता है। अंत मे यह भी आवश्यक है कि, "अन्याय और ईर्ष्या की बातें शासक को अपने अधिकारियो पर सौंप देना चाहिये और कृपा तथा सम्मान के कार्य उसे स्वय करना चाहिये। असंतोप के प्रसार को रोकने के लिये यह भी आवश्यक है कि प्रजा का ध्यान हमेशा विदेशी युद्ध के प्रति लगाये रहे। सैनिक शक्ति और निपुणता बनाये रखने के लिये समय-समय पर युद्ध करते रहना भी आवश्यक है।

शासक मे मनुष्य और पशु दोनों की तरह कार्य करने की शक्ति होनी चाहिये। कार्य करने के दो संभव तरीके होते हैं विधि और शक्ति, पहला मनुष्यों के लिये और दूसरा पशु के लिये। जहाँ पहला सफल नही होता दूसरे तरीके को अपनाना आवश्यक हो जाता है। इस तर्क का समर्थन मेक्यावेली ने प्राचीन साहित्य से किया है जिसमे एकिलीज (Achilles) और अन्य युवराजो को 'किरान दि सेन्टर' (Chiron the Centaur) के प्रशिक्षण में रखा गया था जो अर्धपशु और अर्धमानव था। राजा मे सिंह और लोमड़ी की शक्तियों का मिश्रण होना चाहिये ताकि वह लोमड़ी की बुद्धि से अपने विरुद्ध फैलाये गये जाल को पहचान सके और सिंह की शक्ति से अपने विरोधी भेडियो का अंत कर सके। राजनीतिक उद्देश्य के लिये शक्ति और चालाकी दोनो आवश्यक हैं और वाछनीय भी। जंगल मे वही सुरक्षित है जिसमे सामर्थ है, सिंह अपनी शक्ति से और लोमड़ी अपनी चालाकी से सुरक्षित है। राज्यों के पारस्परिक संबंधो के कोई निश्चित नियम न होने से उन पर यह प्राकृतिक नियम

ही लागू होता है । जहाँ साम्राज्यवादी और विस्तारवादी शक्तिया कमजोर राज्यो पर गिद्ध दृष्टि लगाये हो, किसी तीसरे माध्यम से सुरक्षा सभव नही है । अपने कूटनीतिक जीवन मे उसने अनेक अवसरो पर यह प्रमाण पाया होगा कि शक्ति के अलावा कूटनीति से भी अनेक कार्य किये जा सकते है ।

विस्तारवाद—'प्रिंस' का दूसरा महत्वपूर्ण अनुदाय युद्ध का सिद्धात है । युद्ध न केवल उचित और आवश्यक है बल्कि राज्य की रक्षा का एकमात्र उपाय है । सुरक्षा का सबसे अधिक भय यूरोप की विस्तारवादी शक्तियो से था और फ्रास जर्मनी और स्पेन की विस्तार करने की स्पर्धा मे इटली ही सबसे पहला शिकार दिखाई दे रहा था । इस स्पर्धा मे दो बाते स्पष्ट थी, प्रथम जो राज्य शक्तिशाली नही है उनकी सुरक्षा खतरे मे है, दूसरी स्पर्धा मे जो पीछे रह गया उसका अस्तित्व भी सुरक्षित नही । राज्यों की आपसी स्पर्धा मे योग्यतम के अस्तित्व का ही नियम चल रहा था अत. जो योग्य और शक्तिशाली नही है उनका विनाश निकट है । इटली न तो सशक्त था न विस्तार-वादी इसलिये मेक्यावेली ने इटली को इसी मार्ग पर बढने की सलाह दी । बलवान बनने के लिये संपूर्ण राष्ट्रजाति का एक शक्तिशाली राजा के अधीन संगठित होना आवश्यक था और दूसरी कमजोरी का उपाय विस्तारवाद ही है । लोहे को लोहा ही काटता है । विस्तारवाद से बचने के लिये स्वय विस्तारवादी होना आवश्यक है इस स्पर्धा मे केवल दो ही विकल्प है, विस्तार करो या नष्ट हो जाओ (Expand or perish) । सभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ निरतर विस्तार के द्वारा अपनी शक्ति मे वृद्धि कर रही थी ऐसी स्थिति मे एक निश्चित समय पर शक्तिशाली हो जाना पर्याप्त नही है बल्कि दौड़ मे आगे बने रहना जरूरी है । जो राज्य अपनी शक्तियो का विस्तार रोक देगा वह प्रतियोगिता मे पीछे रह जायगा । आज भी युद्ध के मैदान मे यह माना जाता है कि हमारे ऊपर आक्रमण ही रक्षा का सबसे अच्छा उपाय है । इससे पहले कि हमारे ऊपर आक्रमण हो हमे स्वय आघात कर देना चाहिये । विस्तारवाद के लिये यह नियम अत्यन्त आवश्यक है । विस्तारवाद का कोई अंत नही है क्योकि शक्ति की कोई सीमा नही है ।

विस्तार के साथ-साथ उसने साम्राज्य की सुरक्षा के उपाय भी बतलाये है । साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि विजित प्रदेश मे विजयी शासक का विरोध न बढे । जीते हुये प्रदेश मे शक्तिशाली और कठोर शासन की स्थापना करनी चाहिये । तथा जिन वर्गो से विरोध की संभावना हो उन्हे सबसे पहले समाप्त कर देना चाहिये । प्राचीन परपराये और सस्थाएँ यदि शासक के अनुकूल नही है तो उनसे परिवर्तन कर देना चाहिये । प्रजा के सामने हमेशा पुरानी शासन व्यवस्था की कमजोरियो स्पष्ट की जावें और नये शासक की प्रशंसा की जाय जिससे विजित

देश की प्रजा को यह अनुभव हो कि शासन का परिवर्तन उनके लाभ के लिये ही हुआ है। साम्राज्य का विस्तार ऐसे प्रदेश मे करना चाहिये जिनकी भाषा शासक स्वयं जानता हो, यदि नही जानता तो उसे शीघ्र ही सीख लेना चाहिये। विजय के उपरात कुछ समय के लिये राजा को स्वयं विजित प्रदेश मे रहना चाहिये और अपने देश की प्रजा को इस नये प्रदेश मे जाकर बसने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिये।

युद्ध और सुरक्षा के दृष्टिकोण से दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न अच्छी सेना का है। इटली के अधिकाश राज्यो मे भृत्युजीवी सेना थी। यह व्यवसायिक सैनिक दूसरे देशो से बुलाये जाते थे इसलिये ये सैनिक केवल आर्थिक लाभ के लिये ही लड़ते थे, देश की सुरक्षा और राष्ट्रीय गौरव के लिये प्राणो की आहुति देने की भावना इनमे नही होती थी क्योकि वह उनकी मातृभूमि नही थी। प्राणो का सकट होने पर ये सैनिक लड़ाई के मैदान से भाग जाते थे, मेक्यावेली के राष्ट्रीय सेना के निर्माण का समर्थन किया जो अपनी मातृभूमि के लिये सब कुछ बलिदान करने के लिये तैयार हो। विस्तारवाद की यह नीति आतरिक शाति मे भी सहायक है। नये-नये साहसी आक्रमणो के द्वारा राजा अपनी प्रजा का ध्यान आकर्षित करता है, उनके मस्तिष्क को अपने बल और गौरव से प्रभावित करता है तथा उनके मस्तिष्क को बाह्य समस्याओ मे हमेशा व्यस्त रखता है। प्रजा यही सोचती है कि उनके शासक का अगला कार्य क्या होगा और उसके शासक के विरुद्ध षडयन्त्र करने का अवसर नही मिलता। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे वह तटस्थता की नीति का विरोध करता। तटस्थता के कारण हम दोनो पक्षो का समर्थन खो देते है, विजेता राज्य मे हमे कुछ लाभ नही मिलता और विजित राज्य कभी हमारे ऊपर विश्वास नही करता। तटस्थ राज्य को सभी सदेह की दृष्टि से देखते है इसलिये शासक को निडर होकर स्पष्ट घोषणा करना चाहिये कि वह किसके पक्ष मे है।

'प्रिंस' मेक्यावेली के विचारो का केवल एक ही स्वरूप प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक के कारण उसका नाम एकतंत्र के समर्थको मे गिना जाने लगा है किन्तु 'डिस्कोर्सेज' मे उसने गणतंत्र का समर्थन किया है। तुलनात्मक रूप से गणतंत्र अधिक अच्छा शासन है किन्तु हर व्यवस्था अनुकूल वातावरण मे ही सफल हो सकती है। गणतंत्र की सफलता के लिये आर्थिक समानता उच्च नैतिक स्तर और उत्तरदायित्व की भावना जनसमूह मे होना चाहिये अन्यथा थोड़े से स्वार्थी लोग जनता को भ्रमित करके अपने स्वार्थो की पूर्ति करने लगेगे। समकालीन इटली मे इन सभी गुणो का अभाव था इसलिये मेक्यावेली कहता है, "जहा जनसमूह इतना भ्रष्ट हो कि कानून का नियंत्रण निरर्थक होता है, कोई श्रेष्ठ शक्ति की स्थापना करना आवश्यक हो जाता है;

जो पूर्ण और निरंकुश राजकीय शक्ति से शक्तिशाली लोगों के भ्रष्टाचार को सीमित कर सके।" 'डिस्कोर्सेज' का यह कथन 'प्रिंस' की आवश्यकता का प्रमाण है। भ्रष्टाचार का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि शक्तिशाली शासक ही भ्रष्ट प्रजा को संयत रख सकता है। भ्रष्टाचार फ्रास और स्पेन मे भी था "किन्तु यदि वहा इतनी अव्यवस्था और गड़बड़ी नही दिखती जितनी इटली मे है तो यह वहा की प्रजा की अच्छाइयो के कारण नही...वल्कि इसलिये कि इन दोनो (देशों) मे एक राजा है जो उन्हे संगठित रखता है।" नैतिकता के सबंध मे भी 'डिस्कोर्सेज' मे यही विचार व्यक्त किये गये है। राजनीति कार्यो का निर्णय परिणाम के आधार पर ही किया जा सकता है। रोमन इतिहास से रोमुलस (Romulus) द्वारा अपने भाई की हत्या का प्रसंग प्रस्तुत करते हुए मेक्यावेली कहता है कि इस कार्य का परिणाम राज्य के हित मे था इसलिये यह कार्य निंदनीय नही है। इस पुस्तक मे मेक्यावेली ने रोमन गणतत्र को आदर्श माना है। रोमन समाज मे नैतिक सद्‌गुण गणतंत्र के अनुकूल थे इसीलिये गणतंत्र के माध्यम से भी रोम अपने युग मे शक्तिशाली राज्य वन सका। गणतंत्र का सबसे महत्वपूर्ण गुण है विचारो के आदान-प्रदान की सुविधा। रोम पेट्रीशियन (Patricien) और प्लेबियन (Plebian) वर्गो के विवाद गणतत्र की सफलता के कारण है। सफलता का दूसरा महत्वपूर्ण कारण है विधि द्वारा सीमित शासन। रोम की प्रगति कुशल और शक्तिशाली शासको के निर्देशन मे हुई जो अपनी महान् शक्ति को विधि की सीमाओ मे सीमित रखना जानते थे और शासन मे अनेक लोगो को हिस्सा दिया गया था। यह बात मान्य है कि जिस शासन मे हिस्सा लेने का अवसर अनेक लोगो को दिया जायगा वह अधिक स्थायी होगा। राजतत्र मे भी मेक्यावेली पैतृक की अपेक्षा निर्वाचित राजतत्र को अधिक अच्छा समझता है। 'डिस्कोर्सेज' मे विधि का वर्णन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एक ओर विधि समाज के अवगुणों को दूर करने का एकमात्र साधन है। भ्रष्टाचार और अनाचार को नैतिक और सामाजिक सुधार के द्वारा नही वल्कि विधि निर्माण के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। दूसरी ओर विधि स्वय विधायक को भी सीमित करती है। नैतिक नियमो से स्वतंत्र होते हुए भी शासक को अपनी ही बनाई विधि का पालन करना चाहिये और प्रजा के कुटुम्ब व सम्पत्ति के अधिकारो मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये। गणतत्र मे राजनीतिक स्वतंत्रता अत्यन्त लाभदायक है। इसके कारण शासन के दोष भी दूर होते है समाज के सभी वर्ग सतुष्ट भी रहते है व समाज युद्ध के लिये भी तैयार रहता है। एक अजीब तर्क के द्वारा मेक्यावेली यह कहता है कि विशाल समूह को युद्ध के लिये तैयार को उन्हे क्राति का अधिकार देना आवश्यक है। दोनो पुस्तको का निष्कर्ष निकलता है कि जहाँ सभव है वहां गणतंत्र ही श्रेष्ठ शासन

है अन्यथा राजतंत्र के द्वारा ही सामाजिक अवगुण दूर किये जाने चाहिये। यह निश्चित है कि मेक्यारेली कुलीनतंत्र का घोर विरोधी था।

मेक्यावेली का सही मूल्याकन राजदर्शन का एक अत्यन्त जटिल प्रश्न रहा है। जितना तिरस्कार, अपमान और भर्त्सना मेक्यावेली की की गई है शायद ही किसी विचारक की हुई हो। साहित्य और राजनीति मे मेक्यावेली का जो विरोध हुआ है उसका प्रधान कारण सामान्य भौतिकता ही रहा है। नैतिकता को सैद्धांतिक प्रधानता देने वाले मनुष्यो ने स्वाभाविक रूप से इन अनैतिक या नैतिकता विहीन विचारो का का निरादर किया। मेक्यावेली को अनैतिक और अधार्मिक कहा गया। व्यावहारिक राजनीति (Real politik) का जो सदेश मेक्यावेली ने अपने शासक को दिया उसके कारण उसका नाम छल, कपट, हिंसा और अनैतिकता का प्रतीक हो गया। यूरोपीय साहित्य मे किसी पात्रकी निन्दा या भर्त्सना करने के लिये मेक्यावेलियन (Machia-vellian) कहना ही पर्याप्त था। खलनायको के लिये प्रायः इस संबोधन का प्रयोग हुआ है। मेक्यावेली का यह मूल्याकन पिछली शताब्दी तक चलता रहा किन्तु वर्तमान शताब्दी मे पुन. मूल्याकन हुआ। आज के युग मे भयंकर युद्ध के वातावरण से त्रस्त नेताओ ने मेक्यावेली के विचारो मे राह खोजी; महत्वाकांक्षी शासको ने 'प्रिंस' मे विशाल सामग्री प्राप्त की। यह कहा जाता है कि मसोलिनी (Mussolini) ने अपने स्नात-कोत्तर शोध उपाधि (Ph.D.) के लिये 'प्रिंस' पर कार्य किया था और हिटलर इस पुस्तक को सदैव अपने निकट रखता था। आज के कूटनीतिक सबंधों का विश्लेपण हमें इसी निष्कर्ष पर ले जाता है कि मेक्यावेली ने जो कुछ भी कहा वह निन्दनीय भले हो लेकिन अभी तक त्यागा नही गया।

वास्तविकता यह है कि मेक्यावेली के विचार एक विशेप राजनीतिक वातावरण से संबंध रखते है; यह वातावरण है—अंतर्राष्ट्रीय युद्ध और असुरक्षा का वातावरण। समकालीन इटली जिन परिस्थितियो से गुजर रहा था वे ऐसे विचारों को ही जन्म दे सकती थी। मेक्यावेली न तो स्वयं अनैतिक था न अनैतिकता का समर्थक था, यदि उसका कोई दोष है तो केवल यह कि वह यथार्थवादी और स्पष्टतावादी राष्ट्रभक्त था। इटली के सम्मुख कोई दूसरा विकल्प नही था और केवल इस संकट से देश को मुक्त करना ही मेक्यावेली का ध्येय था। वह किसी स्थायी सिद्धात का निर्माण नही करना चाहता था इसीलिये डनिंग ने उसे 'अपने समय का शिशु' कहा है। उसका संबंध केवल सम-कालीन इटली से था। इतिहास के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये गये है किन्तु राजनीति का ऐतिहासिक अवलोकन उसने कभी नही करना चाहा। पूर्वनिश्चित विचारों की पुष्टि करने के लिये ही यूनान और रोम के इतिहास से उदाहरण लिये गये है। मध्य-

कालीन विचार पद्धति से एकाएक संबंध विच्छेद भी यह दर्शाता है कि भूतकाल से उसका विशेप संबंध नही था। ऐतिहासिक उदाहरणो का एकमात्र उद्देश्य है राजनीतिक व्यवहार के कुछ नियमो का समर्थन करना। मेक्सी के अनुसार 'प्रिंस' के "इन छब्बीस अध्यायो मे सुदृढ सिद्धांतों, शुष्क कल्पनाओ और जटिल विचारधाराओ का कोई स्थान नही है, वरन केवल अनुभव से प्राप्त और परीक्षित व्यावहारिक नियम, जो नित्य की प्रयोगशाला मे प्रचुर मात्रा मे परीक्षित किये जा चुके है।" आनेवाले युग के लिये भी मेक्यावेली कोई स्थायी महत्व के विचार नही छोड़ गया। उसने अपने युग मे भी केवल उन समस्याओ की ओर ध्यान दिया जिनका सामना इटली को करना पड रहा था। ये समस्याये उस युग मे भी सर्वव्यापी नही थी इसीलिये उसे समय और काल की सीमा से सीमित (Narrowly dated and narrowly local) माना जाता है। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि मेक्यावेली का प्रभाव अपने ही युग तक सीमित था। आनेवाले वर्षो मे भले ही उसका अपमान किया गया हो किन्तु जैसे ही उसके जीवन की परिस्थितिया बीसवी सदी मे उत्पन्न हुई राजनीतिज्ञो ने फिर से उसके विचारो की शरण ली।

मेक्यावेली के सिद्धात मे कुछ कमजोरिया अवश्य पाई जाती है। मानव प्रकृति का उसने गलत विश्लेपण किया है। मनुष्य को स्वार्थ और भय से प्रेरित नही माना जा सकता। अपने हितो की पूर्ति, आत्मसंतोप या सुख सबको प्रिय होता है, शासक की आज्ञा का पालन भी अधिकाश लोग करते है किन्तु इन बातो से यह निष्कर्प नही निकाले जा सकते कि मनुष्य या तो स्वार्थ के लिये कार्य करता है या भय के अधीन। यह व्याख्या सरल और शान्त सामाजिक जीवन के लिये अत्यंत घातक है। परमार्थ की भावना भी मनुष्य मे उतनी ही स्वाभाविक है जितनी स्वार्थ की और मनुष्य सभी कानूनो का पालन केवल पुलिस के भय के कारण नही करता है। इसी प्रकार शक्तिशाली राज्य का निर्माण करने के लिये शासक को इतना निरकुश बना देना भी उचित नही है। सिह और लोमडी का मिश्रण अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भले ही सफल रहा हो किन्तु आतरिक शासन में इससे कोई स्थायी लाभ नही हो सकता। कोई भी शासक अपनी प्रजा के साथ अधिक समय तक कपट नही कर सकता और इस व्याख्या मे राज्य और नागरिक के उचित सबधो का चित्रण भी नही होता। साम्राज्यवाद सबधी विचार भी त्रुटिपूर्ण और हानिकारक है। विस्तारवादी प्रतिस्पर्धा मे न तो शांति ही प्राप्त की जा सकती है, न मानव जाति का विकास। दो महायुद्धो के बीच भले ही मेक्यावेली के विचारो की लोकप्रियता बढ गई हो किन्तु आज फिर यह स्पष्ट हो गया है कि साम्राज्यवाद, युद्ध और हिंसा मानव जाति के विकास के लिये अत्यत घातक है। आज स्थायी शाति के नये-नये मार्ग इसीलिये खोजे जा रहे है।

अध्याय ११

वर्तमान युग का आरंभ

(Befinning of the Modern Period)

धर्मसुधार आन्दोलन (Reformation)—सोलहवीं शताब्दी के राजदर्शन का इतिहास बहुत ही छिन्न-भिन्न है। यह विच्छिन्नता युग परिवर्तन का प्रतीक है। पिछली मान्यतायें समाप्त हो रही थीं और नये विश्वासों का उदय हो रहा था। संपूर्ण ईसाई जगत में हलचल मची हुई थी और धार्मिक सुधार यूरोप की सर्वप्रथम समस्या थी। धर्मसुधार का यह आन्दोलन न केवल धार्मिक बल्कि यूरोपीय सभ्यता के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रोटेस्टेन्ट (Protestant) सुधारकों ने चर्च की व्यवस्था में सुधार करने के लिये राजा का सहयोग लेने का प्रयत्न किया और चर्च के विरुद्ध राजनीतिक शक्ति की श्रेष्ठता के सिद्धांत को स्वीकार किया। चर्च और राज्य के संबंधों पर विभिन्न देशों में अलग-अलग विचार प्रचलित थे। चर्च की व्यवस्था टूट रही थी और पोप का प्रभाव समाप्त हो रहा था। ऐसे अवसर पर धार्मिक विश्वासों की रक्षा और धार्मिक एकता बनाये रखने का भार शासकों पर आ गया। उन्हें केवल धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का ही अवसर नहीं मिला बल्कि अपने अधिकारों को धार्मिक आधार प्रदान करने का अवसर मिला। प्रोटेस्टेन्ट सुधारों ने राजा के दैवी अधिकारों के सिद्धांत को प्रोत्साहन दिया। चर्च के सुधार के लिये फ्रांस, जर्मनी और इंगलैंड में शासकों का सहयोग स्पष्ट रूप से लिया गया। सेबाइन लिखते हैं, "कोई भी पराजित हुआ हो, विजय राजा की हुई, और निरंकुश राजतंत्र, जिसका निर्माण सुधारवाद ने नहीं हुआ ....इसमें (सुधारवाद) राजनीतिक लाभ प्राप्त करने वाली प्रमुख शक्ति थी।" यूरोप का आर्थिक विकास भी इसी ओर ले जा रहा था। नये व्यवसायी वर्ग के लिये निश्चित और शक्तिशाली राजनीतिक शक्ति का होना लाभदायक था। इन कारणों से यूरोप में राष्ट्रीयता के आधार पर अनेक शक्तिशाली राजतंत्रों की स्थापना हुई और फ्रांस, स्पेन, जर्मनी और इंगलैंड के शासक अपने विस्तार के लिये शक्तियों का संचय और विकास कर रहे थे। प्रोटेस्टेन्ट सुधारों के परिणाम स्वरूप दो विरोधी विचारों का प्रचारक हुआ राजाओं का दैवी अधिकार और राज्य का आधार जन-स्वीकृति या जनसत्ता। यद्यपि संविदावाद का स्पष्ट वर्णन

कही नही हुआ लेकिन उसकी पूर्ण सामग्री इस आन्दोलन मे प्रस्तुत की गई। निरंकुश शासन के विरोध मे जनता के प्राकृतिक अधिकारो का भी उल्लेख किया गया।

सुधारवाद का आरंभ जर्मनी मे मार्टिन लूथर के प्रयासो से माना जाता है। विटेनवर्ग (Wittenberg) विश्वविद्यालय के इस धर्मशास्त्र के अध्यापक ने संपूर्ण ईसाई जगत में हलचल मचा दी जब १५१७ मे उसने चर्च के द्वार पर अपनी '९५ थीसिस' चिपकाई। जब पोप ने लूथर के विचारो को दबाने का प्रयत्न किया और १५२० में उसे चर्च से बहिष्कृत कर दिया गया किन्तु उसने पोप और धार्मिक सत्ता के विरुद्ध अपना प्रचार जारी रखा और अनेक पुस्तको की रचना की। लूथर ने शांति पूर्वक शासक की आज्ञा पालन का समर्थन किया किन्तु धार्मिक विश्वास की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन और पालन जिस रूप मे उसने किया उसके परिणाम स्वरूप आने वाले वर्षो मे आन्दोलन मे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन किया गया जिनमे विचारो की अभिव्यक्ति का अधिकार प्रमुख था। धार्मिक विश्वासो का निर्णय शासक के द्वारा या बलप्रयोग से नही किया जा सकता "धार्मिक अपराध कभी शक्ति के द्वारा नही रोके जा सकते। इसके लिये दूसरे साधन की आवश्यकता है और यह तलवार के युद्ध से भिन्न एक दूसरा संघर्ष है। यहा ईश्वरीय शब्द पर्याप्त है। यदि उससे लाभ नही होता तो लौकिक सत्ता इसका निर्णय कभी नही कर सकती चाहे सारे विश्व मे रक्त बहा दिया जाय।" धार्मिक विश्वास मनुष्य के अंतःकरण की शक्ति है जिसे न तो हस्तांतरित किया जा सकता है और न बाह्य शक्तियो के द्वारा निर्मित या परिवर्तित किया जा सकता है। किन्तु यह अधिकार यही तक सीमित है और शासक का विरोध करने का अधिकार प्रदान नही करती इसीलिये उसने १५२५ के 'कृषक विद्रोह' (Peasant Revolution) का विरोध किया और उसके दमन का समर्थन किया।

धर्म सुधार का दूसरा महत्वपूर्ण लेखक फ्रेन्च सुधारक काल्विन है। लूथर की तुलना मे काल्विन के राजनीतिक विचार अधिक स्पष्ट है। शासको की आज्ञा का शांतिपूर्वक पालन करने का समर्थन काल्विन भी करता है और राजा के दैवी अधिकारो को भी स्वीकार करता है किन्तु वह इस सिद्धांत को मानता है कि शासक धार्मिक संगठन के अधीन है। संपूर्ण विश्व मे ईश्वरीय नियम व्याप्त है और शासक स्वयं इस नियम को मानने के लिये बाध्य है। इस विचार मे प्राकृतिक विधि का समर्थन आनेवाले वर्षो मे खोजा गया। काल्विन यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि यदि शासक ईश्वरीय विधि का खंडन करता है तो उसके कार्यो का निर्णय प्रजा के द्वारा नही बल्कि ईश्वर के द्वारा ही किया जायगा। काल्विन ने पुश्तानुगत राजतंत्र (Hereditary Monarchy) का विरोध किया और पोलीबियस की तरह मिश्रित संविधान का समर्थन

किया है। धर्मसुधार के अंतिम वर्षों मे लूथर और काल्विन के विचारों की जो व्याख्या की गई उसके द्वारा निरंकुश शासन का विरोध और प्राकृतिक विधि का समर्थन किया गया।

वर्तमान युग के व्यवस्थित राजदर्शन का आरंभ होने से पहले की रचनाओं में १५७६ मे प्रकाशित पुस्तिका Vindiciae Contra Tyrannos अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह पुस्तिका स्टीफेनस जूनियस ब्रूटस के उपनाम से प्रकाशित की गई थी किन्तु इसके लेखक का नाम आज तक विवादग्रस्त है। इस पुस्तक मे चार राजनीतिक प्रश्नों का अध्ययन किया गया है और यह प्रश्न ही लेखक के उद्देश्य और दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते है। क्या मनुष्य शासक के उस आदेश को मानने के लिये बाध्य है जो ईश्वरीय विधान के विरुद्ध हो? क्या ईश्वरीय विधि का विरोध करनेवाले शासक का प्रतिरोध करना उचित है? जो शासक राज्य को विनाश की ओर ले जा रहा है उसका विरोध करना कहा तक उचित है? यदि किसी राज्य की प्रजा पर धार्मिक विश्वास के कारण अत्याचार किया जा रहा है तो क्या पडोसी राज्यो के शासक उनकी सहायता कर सकते है? इन प्रश्नो का उत्तर खोजते हुए इस पुस्तिका का लेखक समझौते के सिद्धांत का उल्लेख करता है। दो प्रकार के समझौते बतलाये गये है—पहला ईश्वर तथा राजा और प्रजा के बीच जिसके द्वारा चर्च का निर्माण होता है। तथा दूसरा समझौता शासक और शासित के बीच होता है। दैवी उत्पत्ति और समझौता सिद्धात का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया यद्यपि सफल नही हो सका। यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि ईश्वर की योजना के अनुसार राजा प्रजा के द्वारा निर्वाचित होता है, उन्ही के लिये कार्य करता है तथा उन्ही के प्रति उत्तरदायी है। राजा की शक्ति एक निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये है और उसी के लिये इसका प्रयोग होना चाहिये। सीमित शासन का समर्थन किया गया, राजा की तुलना मे प्रजा के हित और अधिकार अधिक महत्व-पूर्ण माने गये और प्रजा को अत्याचारी राजा के विरोध का अधिकार भी दिया गया। यह पुस्तिका, इन विचारो के कारण, अनेक वर्तमान सिद्धांतो की पूर्वगामी है। विधि का स्रोत शासक को नही बल्कि संपूर्ण समाज को माना गया। समझौते का उल्लेख करते हुए पूर्वराजनीतिक अवस्था का चित्रण उतना ही सुखद और सुन्दर किया गया है जैसा लॉक और रूसो ने आगे चलकर किया। पुस्तिका का लेखक स्वतंत्रता को मनुष्य का प्राकृतिक गुण दर्शाता है। जीवन और स्वतंत्रता की रक्षा करना मनुष्य के लिये उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार जानवरो के लिये। प्रतिरोध या अत्याचारी शासक से अपनी रक्षा करने का अधिकार प्राकृतिक है। राजद्रोह की व्याख्या इन शब्दों मे की गई है, "जो व्यक्ति किसी मनुष्य को सार्वजनिक अनुशासन का विरोध

करने के लिये कहता है, वह राजद्रोही है। किन्तु जो व्यक्ति देश और सार्वजनिक अनुशासन को हानि पहुँचानेवाले (अत्याचारी) का विरोध करता है वह राजद्रोह नही करता बल्कि राजद्रोह रोकता है।" अत्याचारी शासक की व्याख्या बड़ी सतर्कता के साथ की गई है क्योकि शासक भी मनुष्य है और गलती कर सकता है। अत्याचारी वह शासक है जिसके सुधरने की कोई आशा नही। ऐसे शासक का प्रतिरोध करने का अधिकार हर व्यक्ति को है किन्तु पुनः सतर्कता के नाते यह परामर्श दिया गया है कि "जनसमूह को जो अधिकार है वह कार्य करना हमेशा उचित नही है। प्राय· ऐसा देखा जाता है कि औषधि रोग से भी अधिक हानि पहुँचाती है। अतः बुद्धिमानी यही है कि तलवार उठाने से पूर्व अन्य उपायो का प्रयोग कर लिया जाय।" शासक के अनाचार को आरंभ मे ही रोकने का प्रयत्न करना चाहिये क्योकि "अत्याचारी के दोष आरंभ मे देर से दिखते हैं पर जल्दी सुधर जाते है और बाद मे जल्दी दिख जाते हैं पर देर से सुधरते है।" यह पुस्तिका यूरोप के अनेक देशो मे होनेवाली क्रांतियो की भविष्यवाणी थी। भले ही इसका प्रत्यक्ष संबंध क्रांति करनेवालों से न रहा हो, क्रांति और प्रजातंत्र के समर्थकों ने इन्ही तर्कों का प्रयोग बार-बार किया। इस प्रकार सोलहवी शताब्दी मे निरंकुश राजतंत्र और सीमित राजतंत्र के विरोधी विचार साथ-साथ चलते रहे।

विधिशास्त्र—आधुनिक युग के आरंभिक वर्षो मे राजनीतिक विचारधारा पर दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव विधिशास्त्र के पुनरावलोकन का हुआ है। सारेज (Saurez) तथा अन्य स्पेनिश विधिशास्त्रियो ने आनेवाली शताब्दी के विधिदर्शन को बहुत अधिक प्रभावित किया। इन विधिशास्त्रियों ने रोमन और मध्ययुगीन विधि सिद्धातो के आधार पर प्राकृतिक विधि के सिद्धात का समर्थन किया तथा इन सिद्धातो ने सविदावादी व व्यक्तिवादी विचारधारा को प्रभावित किया। हर व्यक्ति मे अच्छे और बुरे उचित और अनुचित का अंतर करने की प्राकृतिक शक्ति होती है जिससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि उचित और अनुचित का निर्णय केवल ईश्वर या शासक के द्वारा ही नही होता बल्कि व्यक्ति के विवेक के द्वारा भी होता है। यह क्षमता मानव मस्तिष्क मे स्वतः कुछ व्यवहार के नियमो का निर्माण करती है जिन्हे प्राकृतिक विधि कहा गया। सारेज ने यह दर्शाया कि कोई भी पोप या अधिकारी प्राकृतिक नियम को नही बदल सकता क्योकि गलत को सही करने की शक्ति किसी मे नही है। कुछ वर्षो के उपरांत इसी आधार पर ग्रोशे ने यह कहा कि स्वयं ईश्वर भी किसी गलत को सही नही कर सकता। इस प्रकार से प्रत्येक राज्य अपने आतरिक और बाह्य व्यवहारो मे प्राकृतिक विधि से सीमित है। प्राकृतिक विधि केवल शासक की सीमा नही है बल्कि अतर्राष्ट्रीय विधि का आधार भी है। विधिशास्त्र के अध्ययन की पुनरावृत्ति से राजनीति और राज्य

को धर्म से मुक्ति मिली। राज्य में विधि बनाने वाली एक सर्वोच्च संप्रभु शक्ति की कल्पना की गई। सप्रभु राज्य का सिद्धात इन्ही विचारो से उत्पन्न हुआ।

१५७६ मे फ्रास मे जी बोदाँ (Jean Bodein) की 'रिपब्लिक' प्रकाशित हुई जिसे वर्तमान राजदर्शन का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है। सदियो के बाद राजनीति को एक ऐसा दार्शनिक मिला जिसने अरस्तू की तरह मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे चिन्तन किया यद्यपि वह महत्ता प्राप्त न कर सका। बोदाँ का निश्चित उद्देश्य राजतंत्र का समर्थन करना था किन्तु अपने अध्ययन मे उसने धार्मिक विचारो का कोई सहारा नही लिया, न राज्य और चर्च के विरोध की छाया ही उसके विचारों पर पाई जाती है। शासक के अधिकारो का आधार ईश्वरीय शक्ति की अपेक्षा उसने वैधानिक व्यवस्था मे खोजना चाहा। परिणाम स्वरूप सप्रभुता के वैधानिक सिद्धात का निर्माण हुआ जिसने बोदाँ को राजदर्शन के इतिहास मे अमर स्थान प्रदान किया।

बोदाँ का जन्म १५३० मे हुआ था। उसने विधि की उच्च शिक्षा प्राप्त की और पहले विधि के अध्यापक और फिर वकील के रूप मे कार्य करता रहा। बाद मे उसे शासकीय और कूटनीतिक पदो पर भी कार्य करने का अवसर मिला। बोदाँ के विचार अपने युग के सभी विचारो की तरह मध्यकाल और वर्तमान युग की विभाजन सीमा पर है। फिर भी उसने पहली बार यह दर्शाया कि विधि और राज्य का अध्ययन इतिहास, भौतिक वातावरण, भौगोलिक स्थिति और जलवायु के आधार पर करना चाहिये। यहा तक कि राजनीतिक व्यवस्था पर नक्षत्रो का भी प्रभाव होता है। उसने अपने अध्ययन के क्षेत्र को इतना विस्तृत कर लिया कि वह अपने विचारो को न तो ठीक से निश्चित कर सका न उन्हे निश्चित क्रम मे प्रस्तुत कर सका और उसके ग्रन्थो का अध्ययन बहुत उलझा हुआ है। एक ओर तो वह जादू-टोने मे भी विश्वास करता है तो दूसरी ओर राजनीति का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन करने का प्रयत्न करता है। धार्मिक स्वतंत्रता और दूसरे के विश्वासो के प्रति उदारता का वह समथन करता है किन्तु उसके स्वयं के विचार स्पष्ट नही हैं और हर धार्मिक सप्रदाय ने उसका विरोध किया यद्यपि वह अनीश्वरवादी नही था। इतिहास और राजनीति के क्षेत्र मे उसकी प्रशंसा आज भी की जाती है, प्रोफेसर डनिग उसे इतिहास दर्शन का प्रथम लेखक मानते है तो मेक्सी राजनीति विज्ञान का प्रथम लेखक।

बोदाँ ने अपने विचारो को अरस्तू के क्रम के अनुसार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है किन्तु उसके पास जो सामग्री थी उसे व्यवस्थित करने की क्षमता उसमे नही थी। राज्य पर लिखी गई इन छः पुस्तको मे अनेक असंबद्ध, अव्यवस्थित और निरुद्देश्य विचारो का सकलन किया गया है। प्रस्तुत किये गये विचारो से उसने कोई निश्चित

सिद्धात निकालने का प्रयास नही किया। राज्य की परिभाषा इन शब्दों मे प्रस्तुत की गई है, "राज्य परिवारो और उनके कार्यो का संगठन है तथा एक सर्वोच्च शक्ति तथा विवेक के द्वारा शासित है।" यह सर्वोच्च शक्ति हमेशा विवेकशील होगी, यह नहीं कहा जा सकता और दोनो मे प्रधानता किसकी होनी चाहिये इस पर बोदाँ विचार नही करता। राज्य के विकास का वर्णन भी इसी प्रकार विरोधी विचारो को दर्शाता है। एक ओर राज्य का विकास अनेक ऐसे कुटुम्बो से बतलाया गया जो राज्य से पहले निर्मित थे, तथा अपने मुखिया के द्वारा शासित थे। राज्य बनाने के लिये कुटुम्बो के ये प्रधान आपस मे मिल जाते हैं और परिवार पर शासन का अधिकार राजनीतिक शासन के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। यहा बोदाँ यह कहता है कि "एक स्वतत्र व्यक्ति ही दूसरे की शक्ति से सीमित हो जाने पर नागरिक बन जाता है।" ये नागरिक एक दूसरे के सहयोगी माने गये हैं किन्तु कुछ ही पक्तियो के बाद एकाएक यह निष्कर्ष आ जाता है कि राज्य और शासन बल पर सीमित है और इतिहास तथा विवेक दोनो इसी निष्कर्ष का समर्थन करते है। अरस्तू और सिसरो के इस विचार का विरोध किया गया कि राज्य न्याय की भावना पर आधारित है। अरस्तू द्वारा प्रस्तुत नागरिक की परिभाषा का भी खडन किया गया क्योंकि इस परिभाषा से सभी राज्यों में नागरिक का ज्ञान नहीं मिलता। इसके विपरीत नागरिकता का आधार विधि और संगठित समाज से प्राप्त होनेवाली सुविधाये और अधिकार हैं। यह व्याख्या नागरिकता की आधुनिक व्याख्या के अधिक निकट है जिसमे राजनीतिक अधिकारो को नागरिकता की कसौटी माना गया है।

बोदाँ का सबसे महत्वपूर्ण अनुदाय सप्रभुता का सिद्धात है। इस शब्द की स्पष्ट और निश्चित व्याख्या करने का प्रथम श्रेय बोदाँ को ही है। अन्य समुदायो से राज्य की भिन्नता इसी शक्ति पर आधारित है। "संप्रभुता नागरिको और प्रजा पर सर्वोच्च शक्ति है, जो विधि के द्वारा सीमित नही है।" यह एक स्थायी शक्ति है जिसका प्रयोग नागरिको पर हमेशा होता है। यदि किसी व्यक्ति को कुछ समय के लिये यह अधिकार प्रदान कर दिये जाय तो वह सप्रभु नहीं होता क्योंकि शासक कभी सपूर्ण अधिकार प्रदान नही करता, स्वय इस शक्ति के बधन से मुक्त रहता है और अपने अधिकार किसी भी समय वापिस ले सकते है। इसी प्रकार जब किसी राज्य का जनसमूह राजा या शासको का निर्वाचन करता है तो उस समाज की सप्रभुता उस राजा के पास नही रहती बल्कि उस जनसमूह के ही पास रहती है। राजा केवल एक प्रतिनिधि के रूप मे उसका प्रयोग एक निश्चित अवधि तक करता है, जिस अवधि के लिये वह चुना गया है। यह प्रतिनिधि अपने कार्यो के लिये निर्वाचको के प्रति उत्तरदायी भी होते

है ; जब कि संप्रभु शक्ति ईश्वर के अलावा किसी के प्रति उत्तरदायी नही क्योंकि "संप्रभु वह है ईश्वर के सिवा किसी और को अपने से बड़ा नही मानता।" बोदाँ का उद्देश्य किसी भी रूप मे दैवी अधिकारो के सिद्धात का समर्थन करना नही था बल्कि इन शब्दो का अर्थ केवल यही है कि सप्रभु राज्य मे अन्य किसी शक्ति से सीमित नहीं है। संप्रभु को निरंकुश और सर्वोच्च अधिकारी माना गया। संप्रभु अपने द्वारा बनाये गये कानून से सीमित नही है और प्रजा से की गई प्रतिज्ञाओ को मानने के लिये भी बाध्य नही है किन्तु अन्य शासको से किये गये वायदे मानने के लिये बाध्य है। शासक अपने द्वारा बनाये गये कानून स्थगित कर सकता है, सशोधित कर सकता है और नये कानून लागू कर सकता है। सप्रभु प्राकृतिक और दैवी विधि का पालन करने के लिये अवश्य बाध्य है किन्तु उसका उल्लेख यहा करना निरर्थक है, क्योकि इन विधियो के उल्लघन का निर्णय ईश्वर ही करता है।

बोदाँ ने संप्रभु को अविभाज्य भी माना है। यदि राजा अपने कुछ कार्य सीनेट या किसी परिषद को सौंप देता है तो संप्रभुता का विभाजन नही होता क्योंकि यह परिषद या सभा राजा के आदेश से ही कार्य करती है। राजा परिषद को आदेश दे सकता है, परिषद राजा को नही। यदि राजा परिषद की सलाह मान लेता है तो इसका कारण केवल यही है कि वह सदस्यो के माध्यम से जनता की आवश्यकताओ को जानना चाहता है। इस परामर्श के कारण परिषद को संप्रभुता का कोई हिस्सा प्राप्त नही हो जाता। इस प्रकार बोदाँ के विचारो मे संप्रभुता की वह कल्पना पूर्ण रूप से पाई जाती है जो आगे चलकर आस्टिन की व्याख्या मे स्पष्ट हुई। संप्रभु शक्ति निश्चित, निरंकुश, अदेय, अविभाज्य और स्थायी है। सप्रभु शक्ति का यह स्वरूप सदियों तक राज्य में बिना किसी विरोध के प्रचलित रहा और वर्तमान युग मे भी बहुलवादी (Pluralists) और मानवतावादी आक्षेपो के बावजूद भी राज्य इस सिद्धात को त्यागने के लिये तैयार नही है।

बोदाँ ने एकसत्तावाद के आधारों का ही उल्लेख नही किया बल्कि विधि को संप्रभु की इच्छा पर आधारित भी माना है। 'संप्रभु का प्रथम और प्रधान कार्य नागरिको को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से विधि प्रदान करना है...... अपने से श्रेष्ठ, समान या छोटो की सहमति लेना आवश्यक नही है।" संप्रभु का आदेश ही विधि है, और यह आदेश प्रजा की इच्छा के प्रतिकूल भी हो सकता है। सामाजिक प्रथाओ का उल्लेख करते हुए बोदाँ यह दर्शाता है कि प्रथाओ का स्वरूप विधि से भिन्न है क्योकि उनके पीछे कोई बाध्य करनेवाली शक्ति नही है। विधि के द्वारा परम्पराओ को बदला जा सकता है, परम्पराओं के द्वारा विधि को नही। परम्पराएं यदि बाध्य हो जाती हैं तो

केवल इसलिये कि संप्रभु उनका पालन कराने के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करने लगता है। इसलिये परम्पराओ के अस्तित्व के कारण विधि और संप्रभु के इस सबंध मे कोई परिवर्तन नही हो सकता। विधि निर्माता के सप्रभु को और भी कुछ अधिकार प्राप्त हो जाते हैं ; युद्ध और शाति की घोपणा करना, न्यायाधीशो के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनना, कर (Tax) माफ करना, मुद्रा प्रसार, राज्य के पदाधिकारियो को आवश्यक शक्तिया प्रदान करना आदि।

बोदाँ के सिद्धात मे दो बातो का भ्रम उत्पन्न होता है जिसका निवारण वह नही कर सका। प्रथम प्रश्न तो यह है कि यदि सप्रभु कोई अनुचित विवेकहीन या समाज-विरोधी आदेश देता है तो उसका पालन होना चाहिये या नही। वह इस बात को स्वीकार कर लेता है कि कुछ आदेश इतने निश्चित रूप से हानिकारक होते है कि उनका विरोध करना ही पढेगा। दूसरा भ्रम निरंकुश सप्रभुता और सवैधानिक शासन के बीच है। बोदाँ दोनो का समर्थन करता है किन्तु इनमे कोई समन्वय सभव नही। सप्रभु का अधिकार व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार के द्वारा निश्चित रूप से सीमित है क्योकि व्यक्ति का यह अधिकार छीना नही जा सकता। इन सभी कमजोरियो के बावजूद भी बोदाँ का स्थान अद्वितीय है क्योकि प्रोफेसर डनिंग के शब्दो मे वह "राजनीति सिद्धात को अपने उस स्वरूप और पद्धति पर वापिस ले आया जो अरस्तू के बाद पथभ्रष्ट हो गई थी।" "राजनीति के अध्ययन मे सपूर्ण मध्ययुग मे जो विच्छिन्नता और अव्यवस्था आ गई थी उसका अंत करके बोदाँ ने वर्तमान युग मे राजनीति का वैज्ञानिक अध्ययन करने का मार्ग साफ कर दिया।

बोदाँ ने राजनीति और विधिशास्त्र को एक साथ मिलाने का जो प्रयत्न किया आनेवाले वर्षो मे अल्थूसियस (Althusius) और ग्रोशे (Grotius) ने उसका विरोध किया। अल्थूसियस के विचारो मे संविदा सिद्धात का विकास हुआ। अल्थूसियस ने दो सविदाओ को स्वीकार किया और राज्य पर प्राकृतिक विधि का बधन भी माना है। उसकी रचनाओ में वे सभी विचार पाये जाते है जिनका वर्णन आगे चलकर लॉक ने किया। अत्याचारी शासन के विरुद्ध क्राति करने का अधिकार भी वह स्वीकार करता है। यद्यपि इस अधिकार का प्रयोग व्यक्ति के द्वारा नही बल्कि विशेष वर्ग के द्वारा ही किया जा सकता है। इस युग मे सविदावाद का दूसरा विचारक रिचार्ड हुकर (Richard Hooker) था जिसने इङ्गलैड मे राजनीतिक चिन्तन का आरंभ किया। हुकर का सबध मूल रूप से चर्च के संगठन ही था किन्तु उसने सविदा सिद्धान्त के उस स्वरूप का विवेचन किया जो आगे चलकर लॉक के विचारों मे स्पष्ट हुए।

इस युग का अंतिम महत्वपूर्ण ग्रन्थ ह्यूगो ग्रोशे लिखित "दि ला आफ वार एन्ड पीस" (The Law of War and Peace) है। इस डच लेखक का मूल नाम ह्यू वान ग्रूट (Hugh Van Groot) था जिसने ग्यारह वर्ष की अल्प आयु मे ही अपनी प्रतिभा का उदाहरण दिया और पन्द्रह वर्ष की आयु मे पेरिस के दूतावास मे भेजे जाने का गौरव प्राप्त किया। ग्रोशे का विचार क्षेत्र अंतर्राष्ट्रीय विधि था। सोलहवीं शताब्दी मे नये क्षेत्रो की खोज और साम्राज्यो की स्थापना के कारण नये अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न उपस्थित हुए। राज्यो के पारस्परिक सबंधों को संयत करने की अत्यधिक आवश्यकता महसूस की जा रही थी यद्यपि लोगो को इस बात मे सदेह था कि सप्रभु शक्तियो को सीमित करने के लिये ऐसे किसी कानून का विचार व्यावहारिक हो सकता है। ग्रोशे को अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये रोमन युग से प्रचलित और संपूर्ण मध्ययुग मे लोकप्रिय प्राकृतिक विधि का सहारा मिला। ग्रोशे के लिये युद्ध और शाति का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण क्यो था, इसका उत्तर खोजना अधिक कठिन नही है। उसके जीवन-काल मे अनेक देशो मे गृह युद्ध चल रहे थे, राजाओ की हत्या के प्रयत्न हो रहे थे और विस्तारवादी प्रतिस्पर्धा मे राज्यो मे युद्ध भी हो रहे थे।

विषय प्रवेश मे करते हुये ग्रोशे यह कहता है कि अतर्राष्ट्रीय विधि का अध्ययन विशेषरूप से इसलिये महत्वपूर्ण है क्योकि लोग प्राय. इसे नीची नजर से देखते हैं और इसकी व्यावहारिकता मे सदेह करते हैं। यह स्वभाविक था कि जब शासक एक दूसरे को संशय, भय और कपट की दृष्टि से देख रहे थे, जहा एक शासक दूसरे शासक के वचन पर विश्वास नही करता था, वहा यह विश्वास कैसे किया जा सकता है कि इन शासको को किसी प्रकार की विधि से सीमित किया जा सकता है। ग्रोशे अपना अध्ययन इस विश्वास के साथ शुरू करता है कि मनुष्य स्वभाव से शाति चाहता है, युद्ध नही। मनुष्य एक विशेष कोटि का पशु है जो सामाजिक जीवन की शाति पसंद करता है। यही सामाजिक भावना विधि का स्रोत है। अपनी बुद्धि की सहायता से मनुष्य इन बात का निर्णय कर सकता है कि उसके लिये क्या उचित है और क्या अनुचित। सामयिक सुख से ऊपर उठ कर वह इस बात पर विचार कर सकता है कि स्थाई भलाई क्या है और इसीलिये वह एक प्राकृतिक नियम का पालन करता है। यह प्राकृतिक विधि ईश्वरीय देन है और विवेक के द्वारा व्यक्त होती है। राज्य एक प्रकार का समझौता है जिसके द्वारा मनुष्य इस प्राकृतिक विधि का पालन करना स्वीकार करता है। इस विधि का पालन मनुष्य को उपयोगिता प्रदान करता है किन्तु यह वास्तव मे मनुष्य की प्रकृति का ही परिणाम है। इसी उपयोगिता के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय विधि भी निर्मित है। इस व्याख्या के अनुसार विधि के पीछे बाध्य करने वाली शक्ति का होना अनिवार्य नही है

क्योकि इस शक्ति के अभाव मे भी जो व्यक्ति न्यायसगत कार्य नही करता उसे मानसिक सतोष नही मिलेगा। जो लोग सप्रभु को हर प्रकार की विधि से स्वतंत्र मानते है वे विधि को उपयोगिता के आधार पर परखते है। उपयोगिता के आधार पर भी वड़े मे वड़े राज्य को व्यापार या किसी दूसरे चेत्र मे अन्य राज्यो की सहायता लेनी पडती है जो अतर्राष्ट्रीय संधि और विधि को आवश्यक वना देती है। यहा पर ग्रोशे प्राकृतिक विधि (Jus naturale) और अंतर्राष्ट्रीय विधि (Jus gentium) मे अतर करता है। प्राकृतिक विधि का आधार विवेक है और दूसरी विधि का आधार राज्यो की पारस्परिक सहमति। प्राकृतिक विधि अंतर्राष्ट्रीय विधि का आधार है। राजनीतिक और ईश्वरीय विधि दोनों निर्मित है क्योकि दोनो हमे यह आदेश देती है कि हमे क्या करना चाहिये और क्या नही। इनके विपरीत प्राकृतिक विधि हमे यह दर्शाती है कि हम केवल वही काम करे जो उचित है। ईश्वर स्वय प्राकृतिक विधि को वदल नहीं सकता, वह दो और दो को चार होने से नही रोक सकता और जो स्वत. अनुचित है उसे उचित नही कर सकता। अतर्राष्ट्रीय विधि इसी प्राकृतिक विधि पर आधारित है "क्योकि सर्वव्यापी परिणाम का सर्वव्यापी कारण होना चाहिये ; ऐसी सर्वव्यापी धारणा का कारण मनुष्य जाति के सामान्य विचारो के अलावा और कुछ नही हो सकता। इन तर्को के द्वारा ग्रोशे यह सिद्ध करना चाहता है कि अतर्राष्ट्रीय विधि का अस्तित्व है और यह विधि सपूर्ण मानव जाति के लिये लाभदायक है तथा हर राज्य की सप्रभुता को सीमित करती है।

मानवीय विधि के दो वर्ग है नागरिक विधि (Civil Law) और अंतर्राष्ट्रीय विधि। नागरिक विधि का निर्माण राजनीतिक शक्ति के द्वारा होता हे और यह किसी राज्य विशेप मे प्रचलित रहती है। ग्रोशे राज्य की परिभापा इस प्रकार प्रस्तुत करना है, "राज्य स्वतंत्र व्यक्तियों का पूर्ण समूह है, अपने सामान्य लाभ और विधि की उपयोगिता प्राप्त करने के लिये सगठित।" रोमन विधिशास्त्रियो की तरह राज्य की यह परिभाषा भी विधि पालन और सामान्य हितो को समान रूप से राज्य का आधार मानती है। "संप्रभु वह शक्ति है जिसके कार्य किसी दूसरे व्यक्ति की विधि के अधीन इस प्रकार नही है कि उन्हे किसी अन्य व्यक्ति की इच्छा के निरस्त्र किया जा सके।" ग्रोशे ने सप्रभुता को किसी भी स्वतत्र समूह के निहित माना, यदि यह शक्ति उस समूह के वाहर है तो वह समूह स्वतत्र राज्य नही है। सप्रभुता राज्य की अनिवार्य शक्ति है। सप्रभु की शक्ति पर कोई सीमा भी स्वीकार नही की गई। इस विचार का खडन किया गया है कि अतिम रूप से सप्रभुता संपूर्ण जनता मे निहित है। शासक के अनुचित आदेशो की अवहेलना करने का अधिकार प्रजा को है लेकिन संप्रभु शासक को सीमित करने का अधिकार नही। यह सभव हो सकता है कि किसी राज्य के निवासी शासक को सीमित अधिकार ही प्रदान

करें। ऐसी स्थिति में संप्रभुता सीमित हो रहेगी। संप्रभुता हर स्थिति में असीम, अविभाज्य और अदेय है। इस सिद्धान्त को ग्रोशे स्वीकार नहीं करता तथा उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि संप्रभु शक्ति सीमित भी है और विभाजित भी। ग्रोशे का प्रधान अनुदाय अंतर्राष्ट्रीय विधि है और प्राकृतिक विधि के क्षेत्र में है। प्राकृतिक विधि को उसने धर्म और ईश्वरीय विधि के प्रभाव से मुक्त किया तथा शुद्ध विवेक पर आधारित माना। अंतर्राष्ट्रीय विधि का तो उसे पिता माना जाता है। उससे पहले भी राष्ट्रों की विधि का वर्णन किया गया था तथा राज्यों के सम्बन्धों को निश्चित नियमों से सीमित माना गया किन्तु ग्रोशे ने पहली बार यह दर्शाया कि यह विधि सभी या अधिकांश राज्यों के लिये लाभदायक है एवं उनकी सहमति पर आधारित है। इस व्याख्या से इस विश्वास का प्रचार हुआ कि सभ्य राज्य आपस में मिलकर अपने व्यवहार के नियम बना सकते हैं और यूरोप में जब पहला अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन वेस्टफेलिया में हुआ तो उस पर ग्रोशे का प्रभाव निश्चित रूप से था।

—— ·—

अध्याय १२

टामस हाब्स

(१५८८ - १६७९)

[Thomas Hobbes : 1588-1679]

ग्रोशे के बाद हम बीच के कुछ कम महत्वपूर्ण विचारकों को छोडकर वर्तमान युग के पहले महान् राजदार्शनिक टामस हाब्स का अध्ययन शुरू करते है और इसके साथ ही हमारा अध्ययन यूरोप के महाद्वीप को छोड़कर इङ्गलैण्ड मे आ जाता है। हाब्स से पहले भी इङ्गलैण्ड मे हुकर, पफेन्डर्फ और मिल्टन ने राजनीतिक समस्याओ पर अपने विचार व्यक्त किये किन्तु इन्हे छोडकर हम सरलता से आगे बढ सकते है। आधुनिक युग मे राजनीतिक अध्ययन के प्रति जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण पाया जाता है उसका आरभ टामस हाब्स के विचारो से होता है। उसके विचारो मे सैद्धातिक प्रतिपादन, कठोर तर्क-शीलता, भौतिक विश्लेषण इत्यादि कुछ ऐसे गुण पाये जाते है जिनके कारण राजदर्शन के इतिहास मे हाब्स का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाता है। हम उसके मत से भले ही सहमत न हो, किन्तु उसके महत्व को भुलाना भयकर भूल होगी।

औद्योगिक क्राति के बाद सपूर्ण यूरोप मे सीमित शासन की भावना बलवान हो रही थी। पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी मे प्रचलित शक्तिशाली शासन का विचार क्रमश. कमजोर पड़ रहा था। राजाओ का एकच्छत्र और निरकुश राज्य सुरक्षित नहीं था। विशाल उद्योगो के कारण बड़े-बडे नगर बस गये थे, एक नया सपत्तिशाली वर्ग उत्पन्न हो गया था जो अपने व्यवसाय और सपत्ति के हितो की सुरक्षा के लिये राजाओं के अधिकार सीमित करना चाहता था। निरंकुश शासन पर बंधन लगाने की माग तेजी से बढ़ती जा रही थी; दूसरी ओर इङ्गलैण्ड मे जेम्स प्रथम और चार्ल्स प्रथम जैसे निरंकुश शासक दैवी अधिकारो के सिद्धात का प्रयोग और प्रचार कर रहे थे। अपने अत्याचारों को दैवी शक्ति का आदेश बतलाकर न्यायसंगत दर्शाना चाहते थे। ईसाई धर्म ने इस विचार की स्थापना की थी कि राज्य ईश्वरकृत है। इस सिद्धात के आधार पर चार्ल्स प्रथम अपने अधिकारों को ईश्वर प्रदत्त बतला रहा था। प्रजा से निर्विरोध आज्ञापालन की आशा की जा रही थी क्योकि विरोध करनेवाला दैवी प्रकोप का भाजन बनेगा।

राजा के अधिकार राज्य के स्वरूप पर नही बल्कि उसकी उत्पत्ति पर आधारित बतलाये गये यह उत्पत्ति ईश्वरीय है अतः अधिकार भी। निरकुश और अत्याचारी शासन के विरोधियों के लिये गह आवश्यक हो गया कि यदि वे राजा के अधिकारो का विरोध करना चाहते है तो पहले राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धात का खडन करे। यह सिद्धांत खोजना अधिक कठिन नही था। राज्य को एक समझौता मानने का विचार उतना ही पुराना है जितना राजदर्शन किन्तु धर्मसुधार आन्दोलन ने इस सिद्धात को अधिक लोकप्रियता प्रदान की तथा बाद मे निरंकुश शासन के अनेक विरोधियो ने इसका प्रयोग किया। अल्थूसियस, हुकर, पफेन्डर्फ आदि लेखको ने मनुष्य के अधिकारो का समर्थन करने के लिये इस सिद्धात का सहारा लिया। इस समझौते के द्वारा यह सिद्ध किया गया कि राज्य का निर्माण ईश्वर ने नही बल्कि मनुष्य ने अपने ऐच्छिक प्रयास से किया है। इसलिये शासक की शक्तियो का स्रोत जनसमूह है, ईश्वर नही। राजा समाज का सेवक है और समाज के उत्थान के लिये उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व की अवहेलना करने पर शासक के अधिकार समाज द्वारा वापिस लिये जा सकते है।

इङ्गलैंड मे दो पक्ष निश्चित रूप से हो गये थे। निरकुश शासन का समर्थक जो मूल रूप मे अपने विचारो की पुष्टि दैवी सिद्धात की सहायता से कर रहा था। सर राबर्ट फिल्मर (Sir Robert Filmer) के विचार इस संबंध मे महत्वपूर्ण है यद्यपि उनकी प्रधान पुस्तक 'पेट्रियार्का' (Patriarcha) का प्रकाशन हाब्स के महान् ग्रन्थ के दो वर्ष बाद हुआ। दूसरा पक्ष सीमित शासन या संसद के समर्थको का था जो राजा के अधिकारो पर संसद का नियन्त्रण चाहते थे। ससद समर्थको मे सविदावाद फैशन बन चुका था और प्रत्येक विचार जो समझौता सिद्धात मे संबंधित था स्वयंसिद्ध मान लिया जाता था। हाब्स ने इसी सिद्धात की सहायता के निरकुश एकतत्र का समर्थन करना चाहा। उसने यह कोशिश की कि क्रामवेल तथा उसके ससदवादी समर्थको के तर्क से ही उनके विचारो का खडन कर दे। पूर्ववर्ती लेखको की तुलना मे हाब्स के सिद्धात मे सामाजिक समझौते के सिद्धात का वैज्ञानिक विश्लेषण अधिक अच्छी तरह से हुआ।

वैज्ञानिक अध्ययन की प्रगति, सामान्य बौद्धिक स्तर की उन्नति, राजनीतिक जागृति तथा यूरोपीय राजनीति मे उथल-पुथल होने के कारण यह आवश्यक था कि राजनीति शास्त्र का स्वरूप भी बदले। राजनीतिक हलचल नई विचारधारा चाहती थी, पुराने सिद्धांतो को लोग मानने के लिये तैयार नहीं थे। राज्य की उत्पत्ति, संप्रभु शक्ति का स्थान व स्वरूप, जनता के द्वारा विधिपालन, विधि का स्वरूप और औचित्य इत्यादि कुछ ऐसे प्रश्न थे जिन पर यूरोप मे विवाद चल रहा था। हाब्स ने इस सभी प्रश्नो को, केवल एक सामाजिक समझौते के सिद्धांत के द्वारा सुलझाना चाहा और सैद्धातिक रूप से

सफल भी हुआ। राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धात से लोगो की श्रद्धा उठ चुकी थी और इस सिद्धांत के द्वारा किसी को सतुष्ट नही किया जा सकता था। इसलिये हाब्स ने राज्य को मानवकृत मानते हुये भी राजा के निरंकुश अधिकारो का समर्थन किया। समन्वय के इस प्रयत्न के कारण हाब्स को दोनो पक्षो का विरोध ही, मिला। निरंकुश एकसत्तावाद के कारण ससद के समर्थको ने तो इसका तिरस्कार किया ही, सामाजिक समझौते के कारण राज्यपक्ष के लोगो ने भी उसकी निंदा की। उस पर यह आरोप लगाये गये कि वह अनीश्वरवादी है और उसकी पुस्तक क्रामवेल को प्रसन्न करने के लिये लिखी गई है किन्तु यह दोनों आरोप असत्य थे और इनका एकमात्र कारण यही था कि उसने दैवी अधिकारो के सिद्धांत को स्वीकार नही किया था।

हाब्स का जन्म १५८८ मे वेस्टपोर्ट नगर के एक सामान्य सामत के यहा हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि उस समय ब्रिटेन के दक्षिणी तट पर स्पेन के आक्रमण का आतंक था और हाब्स का जन्म अवधि से पहले हो गया था, इसलिये कई टीकाकार उसके सिद्धात मे भय और शक्ति के महत्व को उसके जन्म के वातावरण से सवद्ध मानते है। हाब्स अपनी शिक्षा के लिये आक्सफोर्ड गया। इङ्गलैंड के राज्य वश से हाब्स का घनिष्ट संपर्क रहा और वह चार्ल्स द्वितीय का शिक्षक भी रहा। अपनी शिक्षा व अध्ययन के अतिरिक्त उसने यूरोप का भ्रमण भी किया जहा अनेक दार्शनिको और वैज्ञानिको से विचार विनिमय का अवसर उसे मिला। डेकार्टे (Descartes), गेलीलियो(Galileo) इत्यादि दार्शनिको के संपर्क से हाब्स ने वैज्ञानिक चितन प्रणाली ग्रहण की। हाब्स का ज्ञान वहुत ही विस्तृत था, राजशास्त्र के अलावा उसे दर्शन, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा गणित का भी अच्छा ज्ञान था। निगमन तर्क पद्धति के द्वारा हाब्स ने जो तर्क निकाले उनका खंडन करना सरल वात नही है और एक वार यदि उसके आधार स्वीकार कर लिये जायँ तो उसके निष्कर्षो को भी मानना पडेगा। हाब्स की सभी कृतिया करीब-करीव १६०० और १६५१ के वीच लिखी गई जो समय इङ्गलैड की क्राति (१६४२ से ४९) से प्रभावित था। हाब्स की रचनाओ मे इस क्राति का प्रभाव वहुत स्पष्ट है और 'लेवियाथान' जो सन् १६५१ मे प्रकाशित हुई, केवल इस क्राति को लेकर ही लिखी गई। 'लेवियाथान' (Leviathan) एक भयानक प्राणी या दैत्य का नाम है जो अत्यंत शक्तिशाली है। पुस्तक के आवरण पर इस दैत्य का चित्र वना हुआ है। राज्य इसी दैत्य के समान शक्तिशाली है। ईश्वर के वाद दूसरी शक्ति, जो हमे भयभीत कर सके और आज्ञा मानने के लिये वाध्य कर सके, राज्य ही है। १६७९ मे हाब्स की मृत्यु हो गई। जीवन के अंतिम वर्षो तक हाब्स साहित्य की रचना करता रहा किन्तु अपने समय में तो उसे दोनों पक्षों का विरोध ही मिला। १६४० मे संसदीय विरोध के डर से वह

भागकर पेरिस गया और 'लेवियाथान' की रचना के बाद राजतंत्र के समर्थक सहयोगियों के भय से भागकर पुनः लंदन आया। किन्तु जब १६५८ मे राजतंत्र की पुर्नस्थापना (Restoration) हुई और उसका शिष्य चार्ल्स द्वितीय गद्दी पर बैठा तो हाब्स को जीवन मे स्थाई सुरक्षा का अनुभव हुआ। हाब्स का दार्शनिक महत्व १८वी शताब्दी में ही महसूस किया गया जब आस्टिन ने उसके सत्ता संबंधी तथा बेन्थम ने उपयोगिता संबधी विचारो की व्याख्या की।

हाब्स के सिद्धांत मे सामाजिक समझौता कोई आधारभूत विश्वास नही है बल्कि केवल एक माध्यम है - अपने मूल विचार निरंकुश एकतंत्र के समर्थन का। फिर भी सविदा सिद्धात की वृहत व्याख्या हाब्स के 'लेवियाथान' मे ही हुई यद्यपि समझौते का प्रत्येक अंश पूर्वमान्य विश्वास की छाया लिये हुए हैं। प्रचलित संविदा सिद्धात के अनुरूप हाब्स ने भी राज्य की उत्पत्ति एक सामाजिक समझौते से बतलाई और मानव जाति के इतिहास को दो वर्गो मे बाँटा। समझौते से पूर्व, प्राकृतिक या पूर्व सामाजिक अवस्था और समझौते के बाद सामाजिक और राजनीतिक अवस्था। हाब्स के लिये सामाजिक समझौता एक ऐतिहासिक सत्य नहीं; राज्य का निर्माण करने के लिये इतिहास मे कभी मनुष्यों ने इस प्रकार का समझौता नहीं किया। सविदा केवल एक तार्किक आवश्यकता है इसलिये प्राकृतिक अवस्था भी केवल एक तार्किक निष्कर्ष है। उसका अर्थ यह है कि यदि हम आधुनिक समाज के जीवन को सत्य मानकर तर्क करना शुरू करे तो इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि समाज बनने मे पहले जीवन कैसा था। किन्तु हाब्स ने सबसे बडी गलती यह की कि उसने क्राति से ग्रस्त अव्यवस्थित और अशांत समाज को आधार मानकर तर्क शुरू किया जो सामाजिक जीवन का स्थायी रूप नही है। हाब्स ने क्राति के दौरान यह देखा कि सत्ता का भय समाप्त हो जाने पर लोग कितने उद्दण्ड हो सकते है। क्राति मे हिसा, अवैधानिकता और अपराध का जो साम्राज्य हाब्स ने देखा उससे यह निष्कर्ष निकाला कि राज्य बनने से पहले मनुष्य का जीवन इसी प्रकार का रहा होगा। जीवन मे शाति, सुरक्षा और व्यवस्था इसलिये है कि राज्य के द्वारा विधियां बनाई जाती हैं और उनका पालन न करनेवालो को दड दिया जाता है। जहाँ न विधि है न दंड का भय, वहाँ अशाति के अलावा कुछ नही हो सकता।

प्राकृतिक अवस्था—हाब्स ने प्राकृतिक अवस्था का चित्रण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है। सामाजिक क्रियायें मनुष्य की मानसिक क्रियाओं का परिणाम हैं। गेलीलियो के सिद्धांत के बाद विज्ञान में गति का सिद्धात सर्व स्वीकृत था और वैज्ञानिक अध्ययन मे एक नई आशा लेकर आया था। सभी भौतिक क्रियायें वस्तुओं की गतिशीलता (Motion) पर निर्भर है। सामाजिक अध्ययन में हाब्स ने इसी सिद्धात

को अपनाने का प्रयत्न किया जिसके कारण सेबाइन ने हाब्स की प्रणाली को वैज्ञानिक भौतिकवाद (Scientific Materialism) कहा है । सामाजिक क्रियाओं की भौतिक गतिशीलता मानसिक प्रेरणा से प्राप्त होती है । मनुष्य के सभी कार्यो की दो प्रेरणाये हाब्स ने स्वीकार की है—भय और स्वार्थ । इन्ही के कारण मनुष्य नियमो का पालन करता है और सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करता है । हम कानून को इसलिये स्वीकार करते है कि या तो उनसे हमारे किसी स्वार्थ की पूर्ति होती है या हमे दड का भय रहता है । पूर्व-सामाजिक अवस्था मे जहा कोई सत्ताधारी विधायक नही था, कोई नियम नही हो सकते और कोई दड व्यवस्था नही हो सकती । व्यक्ति के सभी कार्य अपने स्वार्थो की पूर्ति लिये होते थे ।

प्राकृतिक अवस्था मे व्यक्ति के सभी कार्यो की प्रेरणा अपनी सुरक्षा (Self preservation) थी । हर कार्य अपने जीवन को बनाये रखने के लिये और अपने स्वार्थो की पूर्ति के लिये किया जाता था । सहयोग का कोई अस्तित्व नही, न त्याग की भावना ही किसी मे हे । जंगल मे रहते हुए हर व्यक्ति अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने का प्रयत्न करता है, समाज को अनुपस्थियो मे सारे प्रयास व्यक्तिगत ही होते है । आवश्यकता पूर्ति के सभी साधन सीमित है (जिन्हे हाब्स शक्तिया (Powers) कहता है) । इन सीमित साधनो को प्राप्त करने के लिये मनुष्यो मे स्पर्धा आरम्भ हो जाती है तथा यह स्पर्धा युद्ध का रूप ले लेती हे । प्राकृतिक अवस्था मे सभी मनुष्यो की समानता स्वीकार की गई है किन्तु यह केवल भौतिक समानता है । शक्तियो के नाते सभी व्यक्ति समान है; जिसमे शारीरिक बल कम है उसमे बौद्धिक शक्ति (चालाकी) अधिक होती है, तात्पर्य यह है कि शारीरिक और बोद्धिक शक्तियो का योग हर व्यक्ति मे समान होता हे । इस समानता के कारण प्राकृतिक अवस्था मे किसी स्थायी अधिकार की स्थापना नही हो सकती । और एक मनुष्य पर दूसरे मनुष्य का आधिपत्य नही हो सकता । गति के वैज्ञानिक सिद्धात को लागू करने का ही यह परिणाम हैं। यह मनुष्य स्वतः गतिशील अणुओ की तरह विचरण करते है और उनका सपर्क नई वस्तु का निर्माण करता है । इन अणुओ की गतिशीलता को रोका नही जा सकता बल्कि इनके मिलन से एक नये सगठन-समाज की स्थापना होती है और मनुष्यो की गतिशीलता इस समाज मे विलीन हो जाती है ।

प्राकृतिक अवस्था निरतर युद्ध की अवस्था है, इसका तात्पर्य यह नही है कि दो मनुष्य जब भी सामने आते है लड़ना शुरू कर देते है ; केवल उनके मस्तिष्क में एक दूसरे के प्रति वैमनस्यता की भावना हमेशा बनी रहती है । हाब्स यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति अन्य सभी व्यक्तियो को अपना दुश्मन पाता है जैसे कि प्रत्येक व्यक्ति के

हाथ शेष सभी व्यक्तियों के विरुद्ध उठे हों। इस निरंतर शत्रुता का कारण है समान व्यक्तियों के द्वारा सीमित साधनों को प्राप्त करने की स्पर्धा। हाब्स का कहना है, "सतत और अशांत रूप से शक्ति प्राप्त करने की इच्छा रहती थी जो अंतिम सांस के साथ ही समाप्त होती थी। ऐसे वातावरण में असहयोग, अविश्वास, स्वार्थ और भय के कारण जीवन नारकीय हो जाता है। इस अवस्था में न तो जीवन की सुरक्षा है, न संपत्ति, न कोई अधिकार, न उन्नति का कोई मार्ग। इस अवस्था में कला, विज्ञान, संस्कृति के विकास की कोई संभावना नहीं। प्राकृतिक अवस्था का जीवन "एकाकी, निर्धन, अशांत, पाशविक और क्षणिक है।" अधिकारविहीन मानव एकाकी जीवन व्यतीत करता है, युद्ध की भावना के कारण सभी संबंध पशुओं की तरह बने रहते हैं और सुरक्षा के अभाव में जीवन क्षणभंगुर है। हाब्स का चित्रण भारतीय दर्शन के मत्स्य-न्याय की कल्पना में मिलता है जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है।

प्राकृतिक अवस्था में वर्तमान अर्थ में न तो विधि हो सकती है, न अधिकार। यह राज्य की देन है और राज्य के संरक्षण में ही इनका अस्तित्व रह सकता है। जहां राज्य नहीं, वहां वैधायिनी शक्ति नहीं, विधि नहीं और विधि के बिना अधिकार संभव नहीं। विधि सत्ताधारी का आदेश है; अतः प्राकृतिक अवस्था में विधि नहीं हो सकती। हाब्स इस विचार से सहमत नहीं है कि मनुष्य स्वतः अपने व्यवहार को संयत रखने के लिये नियम बना सकता है। प्राकृतिक अवस्था में शक्ति ही एकमात्र नियम है और यही न्याय है। यह अवस्था शक्तियों का संघर्ष है और जो शक्ति से स्थापित होता है वह न्याय संगत है, यदि बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाय तो इसमें कोई अन्याय नहीं है। फिर भी हाब्स ने प्राकृतिक विधि का वर्णन इस अर्थ में किया है कि मनुष्य अपने स्वभाव से कुछ निश्चित कार्य करना उचित समझता है। मनुष्य के सभी कार्य सुरक्षा और संतुष्टि के लिये होते हैं और प्राकृतिक विधि का अर्थ है इस उद्देश्य के लिये कार्य करना।

अधिकारों का भी वैधानिक अस्तित्व नहीं है बल्कि वे शक्ति पर ही आधारित हैं। इस अवस्था में शक्ति ही अधिकार है, जीवन सुरक्षा या संपत्ति किसी भी अधिकार को न्यायोचित नहीं माना जा सकता। स्पष्टतः जिस व्यक्ति में अपनी सुरक्षा करने की शक्ति नहीं है उसे सुरक्षा का अधिकार नहीं है। यही बात संपत्ति पर भी लागू होती है। स्थायी संपत्ति संभव नहीं है क्योंकि संपत्ति शक्ति के द्वारा प्राप्त की जाती है और यदि शक्ति के ही द्वारा कोई व्यक्ति हमारी संपत्ति छीन ले तो अधिकार की मांग नहीं की जा सकती। 'जो मिल सके ले भागो' का कानून प्रचलित है और एक व्यक्ति जो

सपत्ति ले जाता है वह उसकी संपत्ति है। किन्तु इसी नियम के अनुसार यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसकी संपत्ति छीन ले तो वह उसकी सम्पत्ति बन जाती है। हाब्स के ही शब्दो मे, "वही हर व्यक्ति की संपत्ति है जो वह प्राप्त कर सके, और उतने समय के लिये जब तक वह रख सके।" प्राकृतिक विधि और अधिकार की इसी व्याख्या के आधार पर पूर्वराजनीतिक अवस्था इतनी दयनीय है।

यह जीवन असह्य हो जाता है और मनुष्य इससे छुटकारा पाने की राह खोजने लगता है, यह राह दिखाने वाली शक्ति है विवेक या विवेकशील आत्मरक्षा (Rational Self-preservation)। यह शक्ति मानव स्वार्थो की विरोधी नही है न उन्हे सीमित करती है बल्कि उन्हे सीमित करने की आवश्यकता का ज्ञान कराती है, और मार्ग प्रदर्शित करती है। क्रमशः सभी मनुष्यो को इस बात का विश्वास हो जाता है कि केवल अपनी शाति की सहायता से अपनी सुरक्षा नही की जा सकती। इस शक्ति के कारण प्राकृतिक विधि की स्थापना होती है जो सभ्य समाज के निर्माण का आधार है।' 'प्राकृतिक विधि... विवेक का आदेश है, जिसके द्वारा मनुष्य के ऐसे कार्यो पर निषेध लगता है जो जीवन सहारी है।" विवेक या प्राकृतिक विधि भी मनुष्य के स्वार्थ (जीवन रक्षा) तक ही सीमित है और दो भावनाओ का निर्माण करती है; हर मनुष्य शाति की कामना करे और अपने समझौते को पूरा करने के लिये तत्पर रहे। मनुष्य के जीवन मे शाति की एक नई खोज शुरू हो जाती है किन्तु शाति उस समय तक नही मिल सकती जब तक कि हर व्यक्ति अपनी शक्तिया त्यागने के लिये तैयार न हो। अशाति का कारण है सभी मनुष्यो मे समान शक्ति का होना। अत. इस कारण को दूर करना आवश्यक है। समान शक्तियो को नष्ट करके एक नई शक्ति का निर्माण कर दिया जाये जो अपने आतक से सब को शातिप्रिय जीवन के लिये बाध्य कर सके। हाब्स ने तीन प्राकृतिक नियमों का उल्लेख किया है—(१) हर मनुष्य को शाति की खोज करना चाहिये क्योकि जीवन सुरक्षा स्थायी शाति मे ही मिल सकती है, (२) शाति के लिये अपने अधिकार समर्पित करने के लिये तैयार होना चाहिये, (३) अपने वचनो और अनुबन्धो को मानने के लिये हमेशा तत्पर रहना चाहिये, अन्यथा हर सविदा एक अर्थहीन शब्दावली बनकर रह जायगा। यह तीन प्रमुख विधियाँ है, यद्यपि हाब्स ने कुल १७ विधियो का वर्णन किया है। इन तीन विधियो का महत्व इसलिये है कि निरकुश एकतत्र का समर्थन करने के लिये यह तीन सैद्धान्तिक आधार है। शाति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिये कोई भी राजनीतिक व्यवस्था पर्याप्त है तथा इस तर्क के द्वारा विद्रोहियो के विरुद्ध राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया। क्राति से अशाति और असुरक्षा की उत्पत्ति होती है, अतः यह कार्य प्राकृतिक विधि या मनुष्य के स्वभाव के अनुकूल नही है। दूसरे

नियम के द्वारा मनुष्य को अपने सभी अधिकार त्यागने के लिये कहा गया। 'हर संभव उपाय से अपनी सुरक्षा' हमे करना है। अतः सभी मनुष्य किसी एक शक्ति को अपने अधिकार समर्पित कर दे। कोई भी मनुष्य अपने अधिकार समर्पित करने के लिये उसी समय तैयार हो सकता है जब दूसरे सभी लोग भी इसके लिये तैयार हो जायं। इस विचार के द्वारा हाब्स ने यह सिद्ध करना चाहा कि शासन का विरोध करने का अधिकार मनुष्य को हो ही नही सकता। तीसरे नियम मे हाब्स ने यह सिद्ध किया है कि राज्य एक समझौता है और किसी व्यक्ति को समझौते का उल्लघन नही करना चाहिये। यह प्राकृतिक विधियाँ प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य के व्यवहार को सीमित नही करती बल्कि उन्हें सुरक्षा की खोज मे संगठित जीवन की ओर ले जाती हैं।

सामाजिक संविदा :—प्राकृतिक अवस्था का जीवन इतना असह्य है कि मनुष्य उसे त्यागने के लिये हर शर्त पर तैयार हो जाता है। प्राकृतिक विधि की भावना इस अवस्था मे कोई व्यावहारिक महत्व नही रखती बल्कि शासन करनेवाली शक्ति के अभाव मे मनुष्य अपने स्वार्थ और सुरक्षा के कारण युद्ध मे फँसा रहता है। आत्मरक्षा का एक ही उपाय मनुष्य के पास है कि वह हमेशा युद्ध के लिये तैयार रहे। परन्तु युद्ध से स्थाई शाति प्राप्त नही होती, केवल युद्ध की आशका और भय ही प्राप्त होता है। विवेकशील आत्मरक्षा की भावना मनुष्य को सभ्य समाज की स्थापना की ओर ले आती है। प्राकृतिक अशाति मनुष्य की समान शक्तिया है। इसलिये अशाति का अंत करने के लिये इन शक्तियो का अंत करना आवश्यक हो जाता है। शक्ति के दुरुपयोग से तंग आकर मनुष्य अपनी शक्तियो का त्याग करने के लिये तैयार हो जाता है। एक पारस्परिक समझौते के द्वारा लोग सभ्य समाज की स्थापना करते है। हाब्स के शब्दो मे इस समझौते का स्वरूप इस प्रकार है कि हर व्यक्ति अपने अधिकारो का समर्पण करते हुए यह कहता है, "मै अपने पर शासन करने के अधिकार इस व्यक्ति या व्यक्तिसमूह को समर्पित करता हूँ इस शर्त पर कि तुम (सब) भी अपने अधिकार इस व्यक्ति को समर्पित करो।.. ..... वह उस दैत्य (Leviathan) की उत्पत्ति है, अथवा उस नश्वर ईश्वर की, जिसके हम उस अनत ईश्वर के अंतर्गत अपनी शाति और सुरक्षा के लिये ऋणी है।" यही राज्य की उत्पत्ति है और राज्य एक कृतिम या निर्मित संस्था है। अरस्तू के इस कथन से हाब्स सहमत नही है कि मनुष्य स्वभाव से ही एक राजनीतिक प्राणी है। चीटियाँ और मधुमक्खियां स्वभाव से सामाजिक प्राणी हो सकती है, मनुष्य नही। इसके छ: कारण हाब्स बतलाता है। पहला, मनुष्य मे यश और सम्मान की प्रतिस्पर्धा रहती है जो अन्य प्राणियों में नही है इस स्पर्धा के कारण-ईर्ष्या, घृणा और युद्ध का जन्म होता है।

दूसरा, मनुष्य समाज मे व्यक्तिगत और सामाजिक हितो मे भेद है और उसमे दूसरों से तुलना करने की शक्ति है तथा वह दूसरो से श्रेष्ठ बनना चाहता है। तीसरा, अन्य प्राणियो मे विवेक का अभाव होने के कारण सामान्य व्यवस्था की आलोचना, विरोध और सुधार की भावना नही रहती, मनुष्य मे रहती है। स्पष्ट रूप से हाब्स का इशारा इङ्गलैंड की क्रांति की ओर था। चौथा, अन्य प्राणियो मे बोलने की शक्ति नही है जबकि इस शक्ति के द्वारा मनुष्य विवाद करता है और अपनी शांति को भंग कर लेता है। पांचवां, अन्य प्राणी हानि और आघात मे अंतर नही कर सकते, इसलिये जब तक उन्हे आघात न पहुँचे वे विरोध नही करते। अंत में, इन प्राणियों का समूह स्वाभाविक है, मनुष्यो का कृत्रिम अनुबंध पर आधारित। किन्तु कृत्रिम होते हुये भी इस राज्य का विरोध करना उचित नही है, क्योकि ऐसा करने का अधिकार मनुष्य ने सर्मपित कर दिया है।

यह समझौता वास्तविक संगठन का निर्माण करता है, सभी व्यक्तिगत इच्छाएं एक सामूहिक इच्छा मे संगठित हो जाती हैं। यह इच्छाओ का संगठन है शरीरों का एकत्रित होना नही। इस अर्थ मे "यह एक सहमति या संविदा से अधिक है; यह उन सब का एक व्यक्ति मे संगठन है, जो हर व्यक्ति के हर दूसरे व्यक्ति के साथ किये गये समझौते से बना है।" समझौते के इस चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासक समझौते का पात्र नही है बल्कि परिणाम है। समझौता शासित और शासक के बीच नही हुआ बल्कि व्यक्ति और व्यक्ति के बीच हुआ। संविदा की शर्ते केवल प्रजा को बाध्य करती है शासक को नही। निरंकुश शासन का समर्थन करने के लिये यह आवश्यक था कि शासक समझौते की शर्तो से ऊपर माना जाय। इस समझौते की दूसरी विशेषता यह है कि सभी व्यक्तियों ने अपने सभी अधिकार सर्मपित कर दिये।

हाब्स ने केवल एक ही अनुबंध का वर्णन किया है जिसके द्वारा समाज और राज्य दोनो का निर्माण होता है। समझौते से पहले न तो समाज था, न राज्य। समझौते के बाद दोनो का अस्तित्व आ जाता है। समझौता वास्तव मे शासक का निर्माण करता है। अतः हाब्स के सिद्धांत मे शासन, राज्य और समाज का एक ही स्रोत और एक ही रूप है। इस तर्क के परिणाम-स्वरूप हाब्स एक गलत निष्कर्ष पर जा पहुँचा कि जहां शासन नही वहां राज्य नही, समाज भी नही। एक केन्द्रीय शक्ति की उपस्थिति मे ही राज्य और समाज का अस्तित्व रह सकता है उसके अभाव में प्राकृतिक अवस्था आ जाती है। जार्ज सेबाइन के शब्दो मे, "सुव्यवस्थित राज्य के बिना ... न तो राज्य हो सकता है न समाज, बल्कि शब्दार्थ मे शीशहीन भीड़।" हाब्स यह दर्शाना चाहता

था कि क्रांति के द्वारा व्यवस्थित शासन का विरोध करने का अर्थ है सामाजिक संविदा का खंडन करना और समझौता टूट जाने से राज्य का आधार ही समाप्त हो जाता है और हम पुनः प्राकृतिक अवस्था मे वापिस लौट जाते है। इस निष्कर्ष का तो यह भी अर्थ हो जाता है कि किसी भी कारण से, राजा की मृत्यु मे भी हम प्राकृतिक अवस्था को वापिस लौट जाते है। यह निष्कर्ष बिल्कुल गलत है क्योंकि भयानक से भयानक क्रांति में भी, हिंसा और वैमनस्य के बावजूद भी, मनुष्य असहनीय प्राकृतिक अवस्था को वापिस नहीं पहुँचता। क्रांति मे भी हर मनुष्य हर दूसरे मनुष्य को अपना दुश्मन नही पाता बल्कि अनेक लोगों का सहयोग चाहता है और प्राप्त करता है। इसे निरंतर युद्ध की अवस्था नहीं कहा जा सकता। शासन राज्य का एक आवश्यक तत्व निश्चित रूप से है किन्तु उसका जीवनाधार नही है, जैसा हाब्स दर्शाता है। शासन का विरोध करने से राज्य लुप्त नही होता और राज्य के लोप हो जाने से समाज का अंत नही होता। प्राकृतिक अवस्था की तरह सामाजिक अनुबन्ध भी हाब्स के लिये केवल एक तार्किक आवश्यकता है ऐतिहासिक सत्य नही। हाब्स यह तर्क प्रस्तुत करता है कि "यदि मनुष्यो के किसी विशाल समूह मे न्याय तथा प्राकृतिक विधि के पालन के लिये एक सामान्य आतंकित करनेवाली शक्ति के बिना, सहमति की कल्पना की जाय ...; तब किसी प्रकार के सभ्य शासन की न तो आवश्यकता होगी न कही ऐसा शासन होगा।"

समाज, राज्य और सरकार—हाब्स के सिद्धांत मे किसी भी स्थान पर समाज और राज्य का अन्तर स्पष्ट नहीं हो सका। केवल एक ही संविदा मानने से समाज और राज्य की उत्पत्ति तो भ्रमात्मक है ही, उनके स्वरूप की भिन्नता भी कहीं स्पष्ट नही हुई। सामाजिक और राजनीतिक जीवन-क्षेत्र अलग-अलग नही है। वह एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमे सभी सदस्यो का अस्तित्व शासक के अस्तित्व मे विलीन हो जाता है। जो समझौता हाब्स ने दर्शाया है उसके अनुसार शासन का अधिकार किसी व्यक्ति समूह को भी सौंपा जा सकता है किन्तु हाब्स का झुकाव निश्चित रूप से एकतन्त्र की ही ओर है। शासक चाहे एक व्यक्ति हो या व्यक्ति समूह उसके अधिकार निरंकुश है। सामाजिक अनुबन्ध केवल साथ मिलकर रहने का समझौता नहीं है, न किसी पूर्व-प्रचलित नियम का पालन करने का वायदा है बल्कि इच्छाओं का एकीकरण है। इस संविदा के द्वारा अनेक विभक्त और पृथक इच्छाए किसी एक इच्छा मे विलीन हो जाती है। शासक की इच्छा मे ही सब लोगो की इच्छा व्यक्त होती है; इस प्रकार राज्य एक निगमात्मक व्यक्तित्व (Corporate Person) है; अनेक व्यक्तियो का एक ऐसा संगठन जो एक व्यक्ति की तरह और एक इच्छा शक्ति से कार्य

करता है। इस अर्थ मे तो हर समुदाय निगमात्मक संगठन है । सभी समुदायों में एक सगठित विचार से कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। राज्य को एक निगम मानते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्तिगत इच्छाओ का विलीनीकरण दर्शाया जाय। इस प्रकार के संगठन के विना समाज मे शाति और व्यवस्था नही हो सकती, न विधि का निर्माण हो सकता है। निगम की स्थापना के केवल दो उपाय हो सकते है कि प्राकृतिक अवस्था की अनेक विच्छिन्न इच्छाओ को एक इच्छा के रूप मे संग्रहित किया जाय अथवा एक ऐसे व्यक्ति का निर्माण किया जाय जिसमे सवकी ओर से इच्छा व्यक्ति करने की शक्ति हो। रूसो ने प्रथम उपाय अपनाकर एक स्वशासित समाज की कल्पना की जवकि हाव्स ने दूसरा मार्ग अपनाकर निरंकुश राज्य की स्थापना की। इसका परिणाम यह होता है कि शासक की कोई पृथक इच्छा नही है वल्कि वही समाज की इच्छा है; वह स्वयं की नही वल्कि सपूर्ण समाज की इच्छा को व्यक्त करता है। शासक समाज का प्रतिनिधि है किन्तु इतना कह देने के वाद हाव्स विपरीत दिशा मे तर्क करने लगता है। प्रतिनिधि के नाते शासक समाज के अनुकूल कार्य करने के लिये वाध्य तो नही है वल्कि उसे किसी कार्य के लिये उत्तरदायी भी नही ठहराया जा सकता। शासक स्वयं एक अभिकर्ता (agent) है, अतः उसके सारे कार्यो का उत्तरदायित्व संपूर्ण समाज का है जिसकी इच्छा वह कार्यान्वित कर रहा है। प्रजा शासक के निर्णय का विरोध नही कर सकती क्योकि शासक मे ही उनकी इच्छा व्यक्त होती है और कोई व्यक्ति अपनी ही इच्छा का विरोध कैसे कर सकता है। व्यक्ति शासक के कार्यो की आलोचना नही कर सकता, न उसे किसी सार्वजनिक कार्य के लिये वाध्य कर सकता है, न किसी रूप मे उत्तरदायी ठहरा सकता है, क्योकि शासक उत्तरदायित्व से ऊपर है। सविदा की कोई शर्त शासक को नही वाधती। शासक स्वय संविदा का पालन करनेवाला पक्ष नही है वल्कि उसका परिणाम है। संविदा मे केवल दूसरे मनुष्यो पर शर्त रखी गई, शासक पर नही। मनुष्य ने अपने सारे अधिकार समर्पित कर दिये, अतः वह आलोचना व विरोध का अधिकार भी नही रखता। इस प्रकार से एक निरकुश शक्ति का निर्माण होता है जो व्यक्ति पर अपना आतक वनाये रहती है। इसी भय के कारण व्यक्ति के स्वार्थ सीमित रहते है; स्पर्धा, कलह और युद्ध रुक जाते है तथा हर व्यक्ति सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। हाव्स यह मानता है कि इस शक्ति के अभाव मे लोग सामाजिक समझौते का भी पालन नही करते क्योकि "तलवार के विना समझौते शब्द मात्र है।" राज्य के लिये केवल एक संगठन की ही आवश्यकता नही है वल्कि एक ऐसी भयंकर शक्ति की आवश्यकता है जो सवको आंतकित कर सके।

यहां पर हाब्स का सिद्धान्त स्वतः विरोधी हो जाता है। एक ओर तो वह निरंकुश शासन का समर्थन करता है और व्यक्ति को शासन के विरुद्ध कोई अधिकार नही देता, दूसरी ओर वह शासक पर कुछ सीमाये मानने के लिए बाध्य हो जाता है। राज्य की उत्पत्ति सविदा से होने का तार्किक परिणाम यह निकालता है कि सविदा मनुष्य का ऐच्छिक कार्य है और इस इच्छा का कारण है—उपयोगिता अथवा जीवन रक्षा। राजा का सर्वोच्च उत्तरदायित्व है—प्रजा का जीवन सुरक्षित रखना। जो राज्य सुरक्षा प्रदान नही कर सकता उसका अस्तित्व बेकार है। "शासन के पक्ष मे एकमात्र तर्क यही है कि वह शासन करता है। जो शासक युद्ध या क्राति मे सुरक्षा प्रदान नही कर सकता वह अपनी सत्ता खो देता है और व्यक्ति नया सत्ताधारी चुनने का अधिकारी हो जाता है। वही विवेकशील आत्म-रक्षा की भावना जो राज्य के निर्माण का मूल कारण है राज्यनिष्ठा मे परिवर्तन का कारण भी है। लोग एक नये समझौते के द्वारा नये सत्ता-धारी को अपने अधिकार और अपनी सुरक्षा का भार सौंप सकते है। हाब्स के सिद्धान्त मे वैधानिक (Do Jure) और वास्तविक (Do Facto) संप्रभु का अंतर नही है। वह केवल वास्तविक को मानता है। इसी विरोधाभास के कारण हाब्स को अपने समय मे दोनो पक्षों का विरोध सहना पडा। राज्यपक्ष इस निष्कर्ष से असतुष्ट हो गया कि यदि क्राति में राजा की शक्ति प्रभावहीन हो गई या लुप्त हो गई तो राज्य पर राजा का अधिकार स्वीकार न किया जाय।

अरस्तू और बोदाँ की तरह हाब्स भी सत्ताधारियो की संख्या के आधार पर राज्यो का वर्गीकरण करता है। शासन का सचालन एक, कुछ या अनेक व्यक्तियो के द्वारा हो सकता है जिसके आधार पर एकतत्र, कुलीनतंत्र और प्रजातत्र की स्थापना हो सकती है। इन तीन मे हाब्स एकतंत्र का ही समर्थक है क्योकि जितनी अच्छी तरह एक व्यक्ति शासन कर सकता है और प्रजा को आतंकित कर सकता है, एक समिति या समूह नही कर सकता। अरस्तू की तरह हाब्स विकृत राज्यो को स्वीकार नही करता और ऐसा करना उसके उद्देश्य के विपरीत हो जाता है। कोई भी सरकार भ्रष्ट नही होती और लोग अत्याचारतत्र अथवा धनतंत्र शब्दो का उपयोग केवल अपना व्यक्तिगत असं-तोष व्यक्त करने के लिए ही करते है। इसके अतिरिक्त हाब्स यह भी कह देता है कि कोई भी सरकार चाहे वह कितनी भी बुरी हो अराजकता से अच्छी है। किसी भी राज्य मे मनुष्य का जीवन तो सुरक्षित रहता ही है जब कि अराजनीतिक प्राकृतिक अवस्था में कोई सुरक्षा नही। हाब्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सामाजिक जीवन निरंकुश राज्य में ही संभव है। निरंकुश राज्य और अराजकता के बीच कोई स्थिति नही, इसलिये शासक के अत्याचारों को अंतिम सीमा तक सहना चाहिये क्योकि दूसरा विकल्प अरा-

जकता है जो अत्यत असहनीय है। हाब्स ने मिश्रित और सीमित शासन का विचार भी स्वीकार नही किया क्योकि राजसत्ता हमेशा असीम और अविभाज्य होती है। शक्ति-पृथक्करण के लिये भी हाब्स के सिद्धान्त मे कोई स्थान नही क्योंकि निरंकुश शासन अधिक से अधिक केन्द्रीयकृत होना चाहिये। इस आधार पर वह संसद का स्वतंत्र अस्तित्व व अधिकार मानने से इन्कार कर देता है। राजा संसद की परामर्श ले सकता है किन्तु उसे मानने के लिये बाध्य नही। विधि का निर्माण शासक अपनी इच्छा से करता है क्योकि "विधि यथार्थ मे, उसका आदेश है जिसे दूसरो को आदेश देने का अधिकार है।" इस अर्थ मे सभी कानून निर्मित और घोषित है। प्राकृतिक विधि या सामान्य विधि (Common Law) का वर्णन करना भ्रमात्मक है। इनका वर्णन केवल साहित्य मे केवल अलकृत रूप से किया जा सकता है। शासक किसी प्रचलित रूढियो या प्रथाओ को मानने के लिये बाध्य नही है।

एकतत्र, कुलीनतंत्र और प्रजातंत्र का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हाब्स ने एकतत्र की श्रेष्ठता के कारणो का उल्लेख इस प्रकार किया है। इस तुलना का केवल एक ही आधार हो सकता है कि कोई शासन सविदा के उद्देश्य के अनुकूल किस सीमा तक है। जिस शासन मे आतरिक तथा बाह्य शत्रुओ से शांत और सुरक्षा प्रदान करने की जितनी अधिक शक्ति है वह उतना ही श्रेष्ठ शासन है। इस दृष्टिकोण से राजतत्र की श्रेष्ठता इन कारणो से है। सर्वप्रथम अच्छे राज्य मे यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत और सार्वजनिक हित एक समान होना चाहिये। मनुष्य के स्वार्थ विवेक से अधिक शक्तिशाली होते है और यह स्वाभाविक है कि शासक अपने स्वार्थ की ओर आकर्षित हो। एक अजीब तर्क के द्वारा हाब्स यह कहता है कि एकतंत्र मे शासक के व्यक्तिगत हित सार्वजनिक हितो के अधिकतम अनुकूल होते है "राजा की संपत्ति, शक्ति और कीर्ति केवल प्रजा के वैभव, बल और यश से ही उत्पन्न होती है।" बाहरी सकट से राज्य को सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक है कि प्रजा-संतुष्ट और सगठित रहे। हाब्स इस बात को भूल जाता है कि शासक का स्वार्थ सपत्ति और कीर्ति तक ही सीमित नही है बल्कि विलासिता ही एकतंत्र को सबसे अधिक निंदनीय बना देती है।

एकतंत्र की श्रेष्ठता का दूसरा कारण हाब्स ने यह बतलाया है कि राजा को यदि सलाह की आवश्यकता हो तो वह अच्छी से अच्छी सलाह उचित अवसर पर ले सकता है, और परामर्श के संबंध मे पूर्ण गोपनीयता रखी जा सकती है। एक से अधिक शासक होने मे आवश्यक विवाद उत्पन्न होते है और गोपनीयता भी नही रह जाती। तीसरी बात यह है कि राजा के निर्णय में केवल उतनी असंगति हो सकती है जितनी मानव स्वभाव मे है; उनमे स्थायित्व अधिक रहता है। किन्तु परिषदों के निर्णय

संख्या के परिवर्तन के कारण बदलते रहते हैं। हाब्स को इस बात का भय है कि एक सीमित के किसी निर्णय में जो लोग आज अनुपस्थित थे कुछ समय बाद उनकी उपस्थिति से निर्णय बदल सकता है। चौथा कारण यह है कि एक बड़ी सभा मे दो मत हो सकते है, जिनके कारण विग्रह की स्थिति आ सकती है। किन्तु राजा के दो मत इस प्रकार नही हो सकते। पाचवे कारण मे हाब्स इस बात को स्वीकार करता है कि एकतंत्र मे खुशामदी लोग राजा से अन्याय करा सकते है और किसी विशेष व्यक्ति को हानि पहुँचा सकते हैं किन्तु यह भय परिषदो मे अधिक रहता है। आकर्षक भाषण देने वाले लोग अपनी वाक् पटुता से सभा को गलत निर्णय की ओर ले जा सकते हैं। हाब्स कहता है, "मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि क्षमा करने की अपेक्षा आरोप लगाने के लिये कम वाक्पटुता की आवश्यकता होती है और दोषमुक्ति की अपेक्षा दोषारोपण अधिक न्याय-संगत दिखता।" हाब्स का यह कहना उचित प्रतीत होता है कि आक्षेप करने वाले भाषण अधिक आकर्षक दिखाई देते है; इसीलिये वर्तमान प्रजातत्रो मे भाषण की कला विरोधी की आलोचना तक सीमित हो गई है। अत मे, शासन करने वाली परिषदो की तुलना हाब्स ने एक नाबालिग शासक से की है जिसके लिये एक संरक्षक की आवश्यकता होती है।

संप्रभुता—निगमात्मक राज्य की कल्पना मे संप्रभुता के सिद्धात का भी वर्णन हुआ है। बोदाँ के सिद्धात के अनुकूल हाब्स ने भी राजसत्ता को प्रजा पर असीम और संपूर्ण शक्ति माना है। हाब्स ने राजसत्ता का आधार तथा स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया और आगे चलकर राजसत्ता का यही स्वरूप ऑस्टिन के हाथों से एकसत्तावाद के रूप मे प्रस्फुटित हुआ। हाब्स एक निरंकुश शासन का समर्थक था इसलिये सप्रभु शक्ति का महत्व उसके लिये बहुत अधिक है। समकालीन क्रान्ति के विरुद्ध हाब्स ऐसे प्रगाढ और मजबूत बन्धनों की खोज कर रहा था जो सबको स्थाई रूप से एक सूत्र मे रख सके। इसलिये राज्य मे एक सप्रभु इच्छा का निर्माण किया गया और राज्य को विशालकाय दैत्य माना गया। सप्रभु शक्ति का निर्माण दो प्रकार से हो सकता है—स्वाभाविक शक्ति के द्वारा जैसे पिता और सतान के बीच तथा समझौते के द्वारा-शासक और प्रजा के बीच। राजनीतिक संप्रभु की स्थापना केवल समझौते के द्वारा ही हो सकती है और सभ्य समाज का निर्माण केवल संप्रभु की स्थापना के द्वारा ही हो सकता है। हाब्स की तर्क-पद्धति एक निरकुश और अविभाज्य संप्रभुता की माग करती है। प्राकृतिक अवस्था के असहनीय जीवन के कारण मनुष्य हर कीमत पर (अपने सभी अधिकार त्यागकर भी) इस अवस्था से भाग उठता है। यद्यपि यह मनुष्य स्वभाव के विपरीत है कि मनुष्य अपनी इच्छा से अपने अधिकारो का समर्पण कर दे

किन्तु इसे तर्क संगत बनाने की पूरी चेष्टा हाब्स ने की है। शक्तियो की समानता ही प्राकृतिक अवस्था की अशाति का कारण है। अत समाज मे शांति केवल उसी समय तक रह सकती है जब तक प्रजा को आतंकित करने वाली कोई शक्ति है। समझौता अपने आप मे पूर्ण नही है जब तक कि एक सर्वोच्च शक्ति का निर्माण न करे क्योंकि "शब्दो के बन्धन मनुष्य की आकांक्षा, घृणा, क्रोध इत्यादि को रोकने के लिये बहुत कमजोर है।" इन्हे रोकने के लिये एक दमन करने वाली शक्ति का भय होना आवश्यक है। इस संप्रभु का निर्माण करने के लिये संपूर्ण समूह के द्वारा अपने अधिकारो का ही नही बल्कि अपनी इच्छाओ का समर्पण भी आवश्यक है।

हाब्स के सिद्धात मे संप्रभुता की पहली विशेषता यह है कि उसके आदेश का विरोध नही किया जा सकता क्योंकि संप्रभु समाज की इच्छाओ को ही व्यक्त करता है। समझौते के द्वारा हर व्यक्ति की इच्छा संप्रभु की इच्छा मे विलीन हो जाती है। अतः संप्रभु की इच्छा का विरोध करने का अर्थ होगा, अपनी ही इच्छा का विरोध करना। हाब्स यहा तक कहता है कि प्रजा राजा की अनुमति के बिना राजतंत्र का त्याग नही कर सकती। संप्रभु के विरुद्ध विद्रोह करना या उसे पदच्युत करने का प्रयास करना उसके प्रति अन्याय होगा क्योंकि शासन करने के अधिकार वैधानिक रूप से उसे मिले है और उन्हे छीनना अन्याय होगा। ईश्वर या किसी ईश्वरीय समझौते के नाम से भी संप्रभु का विरोध नही किया जा सकता क्योंकि शासक ईश्वर का प्रतिनिधि है। और सभी ईश्वरीय समझौते उसी के माध्यम से पूरे किये जा सकते है।

संप्रभुता का दूसरा लक्षण उसका निश्चित होना है। समझौते के द्वारा शक्तियो का हस्तातरण एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति समूह को किया गया है और यही निश्चित शक्ति संप्रभु रहती है जिसे ऑस्टिन ने 'एक निश्चित सर्वोच्च व्यक्ति' कहा। राज्य को निगम मानने के कारण संप्रभुता का यह लक्षण और भी आवश्यक हो जाता है। कोई भी समूह स्वय कार्य नही करता क्योंकि इच्छाशक्ति और कार्यशक्ति सामूहिक नही होती बल्कि समूह के नाम पर एक व्यक्ति ही निर्णय और कार्य करता है इसलिये राज्य के निर्माण मे सभी की इच्छा का विलीनीकरण किया गया है।

संप्रभु की निरंकुशता का वर्णन तो हाब्स के संपूर्ण दर्शन मे व्यक्त है। संप्रभु के अधिकार न तो सीमित किये जा सकते है न उसे किसी कार्य के लिये उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। समझौते के द्वारा मनुष्य ने अपने सभी अधिकारो का समर्पण कर दिया, उसके उसके पास आलोचना या विरोध करने का भी अधिकार नही रह गया। संप्रभु पर संविदा के द्वारा भी किसी प्रकार की शर्त या सीमा नही लगाई गई। संप्रभु

स्वयं समझौते का पक्ष नही है न ही अधिकारों का समर्पण किसी शर्त पर किया गया है। सप्रभु स्वत: विधि का स्रोत है और किसी विधि से बाध्य नही है क्योंकि राज्य से पहले कोई विधि नही थी। फिर भी शासक का एक उत्तरदायित्व हाब्स को स्वीकार करना पडा कि वह प्रजा को जीवन सुरक्षा प्रदान करे। राज्य का निर्माण इसी उद्देश्य मे हुआ है और यदि शासक सुरक्षा प्रदान नही कर सकता तो सुरक्षा की खोज मे व्यक्ति दूसरे शासक के पास जा सकता है।

संप्रभुता अविभाज्य भी है। किसी भी राज्य मे दो सप्रभु नही हो सकते। समझौते के द्वारा लोगो ने अपने अधिकार एक निश्चित शक्ति को ही प्रदान किये है और उस शक्ति के समानान्तर कोई दूसरी शक्ति नही हो सकती। राज्य को निगम मानने का यह स्वाभाविक परिणाम है। किसी निगम मे कार्य-संचालन करनेवाली दो शक्तिया नही हो सकती। इसी आधार पर शासन मे शक्ति विभाजन का भी विरोध किया गया है।

सार्वभौयिक शक्ति अदेय भी है, उसका हस्तातरण नही किया जा सकता। हस्तातरण का प्रयास मूल संविदा के विपरीत होगा। संप्रभु अपनी शक्ति इसलिये हस्तांतरित नही कर सकता कि जो उसे समझौते के द्वारा प्राप्त हुआ है, वह समझौता करने वालो के द्वारा ही प्रदान किया जा सकता है। समझौते मे सप्रभु को हस्तातरण का अधिकार नही दिया गया और लोगो ने यह इच्छा व्यक्त की कि इस शक्ति का प्रयोग उस विशेष व्यक्ति या व्यक्ति समूह के द्वारा ही होना चाहिये। प्रजा किसी नये समझौते के द्वारा शक्ति हस्तातरित नही कर सकती क्योकि मूल समझौते के बाद सप्रभु को जो अधिकार मिल गये वे उसके न्यायसगत अधिकार है, उन्हे हस्तातरित करने के पहले उस संप्रभु से वापिस लेना होगा जो न्यायसगत नही है।

संप्रभुता राज्य का स्थायी लक्षण है। यह निश्चित है कि संप्रभुता के अभाव मे राज्य का कोई अस्तित्व नही रह सकता। जहा विधिमुक्त संप्रभु नही है वहा कोई व्यवस्था नही, केवल असहनीय प्राकृतिक अवस्था रह जाती है; किसी प्रकार का संगठन नही बल्कि केवल 'शीशहीन भीड़' रह जाती है।

हाब्स के लिये सप्रभुता सर्वव्यापी है बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि सर्वग्राही है। सप्रभु के अलावा और कोई शक्ति नही हो सकती, हर व्यक्ति, समूह व संस्था को उसके आदेशो का पालन करना अनिवार्य है। धार्मिक सस्थाये भी संप्रभु के अधीन है। सप्रभु के अतिरिक्त और किसी को कोई अधिकार नही रह जाते क्योंकि सबके अधिकार समर्पित किये जा चुके है। समझौते के बाद सभी अधिकारो का निर्माण सप्रभु के आदेश से होता है, अत सभी शक्तिया उसके अधीन है। कोई व्यक्ति या समूह

विधि पालन से इन्कार नही कर सकता। संप्रभुता के निर्माण के लिये हाब्स एकमत से किया गया समझौता आवश्यक नहीं मानता बल्कि बहुमत ही पर्याप्त है, किन्तु एकबार संप्रभु की स्थापना हो जाने के बाद कोई यह नही कह सकता कि मैं बहुमत के साथ नही था, इसलिये इस सप्रभु को नही मानता। अवज्ञा करनेवाले को बहुमत की शक्ति के प्रयोग से विधि पालन के लिये बाध्य किया जा सकता है। समूह मे शामिल हो जाने का अर्थ यही है इन व्यक्तियो ने बहुमत का निर्णय स्वीकार कर लिया और ऐसे व्यक्ति के सामने केवल दो मार्ग रह जाते है, "या तो वह उनके (बहुमत) आदेशो को स्वीकार कर ले, या उस युद्ध की अवस्था मे छोड दिया जाय जिसमे पहले था ; जहा बिना किसी अन्याय के उसे किसी भी व्यक्ति के द्वारा नाश किया जा सकता है।"

संप्रभु पर कभी अन्याय का आरोप नही लगाया जा सकता न उसके हाथ से प्रजा को कोई आघात हो सकता है। संप्रभु केवल एक अभिकर्ता (agent) है उसके सभी कार्यो के कर्त्ता समाज के सब लोग है। सप्रभु की इच्छा मे हर व्यक्ति की इच्छा निहित है, अत. हम अपने ही कार्य को न तो अन्याय कह सकते है न हानिकारक। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि संप्रभु पर न तो दोषारोपण किया जा सकता है न उसे प्रजा के द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। वैधानिक दृष्टिकोण मे हाब्स यह तर्क पेश करता है कि अभिकर्त्ता के सभी कार्यो का उत्तरदायित्व प्रधानकर्त्ता (Principal) पर होता है। अत अपने उत्तरदायित्व के लिये हम अभिकर्त्ता को दण्ड नहीं दे सकते। क्रांति के सदर्भ मे हाब्स कहना है कि राज्य का उद्देश्य शान्ति की स्थापना करना है और जिसे यह उद्देश्य प्रदान किया गया है वही साधनो का निर्णय कर सकता है। अतः दण्ड निश्चित करने और प्रदान करने का अधिकार केवल शासक को ही हो सकता है।

संप्रभु के अधिकारो का विस्तृत वर्णन भी हाब्स ने किया है। समाज मे प्रचलित विचारो और सिद्धान्तो पर नियन्त्रण रखने का अधिकार उसे है। हाब्स यह मानता है कि मनुष्य के कार्यो का "उचित नियंत्रण उनके विचारों के उचित नियन्त्रण में ही निहित है।" पुस्तको की जाच भी प्रकाशन से पहले हो जाना चाहिये। स्पष्ट शब्दो मे हाब्स विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थक नही है। यद्यपि सत्य का दमन उचित नही है किन्तु कोई भी विचार जो शान्ति और सहयोग का विरोधी है, सत्य नही हो सकता ; क्योकि प्राकृतिक अवस्था को अच्छा मानना, शान्ति की तुलना मे अशान्ति को अच्छा मानना स्वयं एक असत्य है। विधि निर्माण के द्वारा संप्रभु सामाजिक व्यवहारों का निर्देशन करता है और व्यक्ति के पारस्परिक अधिकारो का निर्माण करता है। न्याय करने की अंतिम शक्ति संप्रभु ही है। संप्रभु युद्ध और शान्ति की घोषणा कर सकता है ;

अपने सलाहकारो, सहयोगियों व अधिकारियो की नियुक्ति कर सकता है ; दण्ड और पुरस्कार प्रदान कर सकता है तथा उपाधिया प्रदान कर सकता है। राज्य को कर लगाने का अधिकार भी दिया गया क्योकि सेना का निर्णय व संचालन करने के लिये धन की आवश्यकता होती है।

हाब्स ने चर्च और धर्मप्रचार को भी अन्य समुदायों की तरह राज्य के अधीन माना है। राज्य से अलग चर्च और धर्म का कोई अस्तित्व नही, क्योकि अराजकता की स्थिति मे न तो कोई संगठन हो सकता है, न सामान्य विचार। इन विचारो के कारण हाब्स को अनीश्वरवादी और धर्म-विरोधी कहा गया किन्तु यह आरोप उचित नही है।

हाब्स का प्रभाव भ्रमात्मक रहा है। समकालीन राजनीति मे उसे दोनों पक्षों का विरोध ही मिला। उसने दो विरोधी विचारों का समन्वय करना चाहा, संविदा और निरंकुश सत्ता। अपनी तर्कशक्ति के द्वारा, उसने संविदा के द्वारा निरंकुश राज्य का समर्थन अवश्य कर दिया किन्तु न तो वह संबंधित पक्ष को संतोष दे सका न अपने सिद्धान्त को स्वतः विरोधी विचारो से बचा सका। उसकी तर्कपद्धति इतनी कठोर थी कि उसके आधार को स्वीकार कर लेने के बाद हम उसके निष्कर्षो से नही बच सकते। किन्तु सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही है कि उसके आधार सही नही थे। उसने अपना साध्य और साधन पहले ही निर्धारित कर लिया, इनमे से कोई एक दूसरे का तार्किक परिणाम नही है। उसके साध्य और साधन मे स्वाभाविक विरोध था जो उसके विचारो मे भी स्वतः विरोध के रूप मे आ गया।

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हाब्स को मानव प्रकृति की एकागी व्याख्या को अपना आधार बनाना पड़ा। मनुष्य को स्वार्थ और भय से प्रेरित मानना आवश्यक हो गया अन्यथा अधिकारो का सम्पूर्ण समर्पण कभी तर्कसंगत नही हो सकता था। किन्तु मनोवैज्ञानिक अध्ययन हाब्स के इस सिद्धांत का समर्थन नही करता। यह निश्चित है कि भय और स्वार्थ के अतिरिक्त तथा इनसे भी ऊपर मनुष्य मे सहयोग, सहानुभूति और परमार्थ के गुण पाये जाते है। आदिवासी जातियो का अध्ययन यह दर्शाता है कि यह गुण केवल समाज मे रहनेवाले मनुष्यो तक ही सीमित नही है। एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि यदि प्राकृतिक अवस्था मे सहयोग की भावना नही थी तो मनुष्य ने राज्य जैसे विशाल संगठन की कल्पना कैसे कर ली।

हाब्स का समझौता भी तर्कसगत नही है क्योकि समझौता व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा का परिणाम है और अपनी इच्छा से व्यक्ति अपने अधिकारो का संपूर्ण समर्पण नही करता। यदि यह मान भी लिया जाय कि प्राकृतिक अवस्था में घबराकर मनुष्य ने

अपने अधिकारो का संपूर्ण समर्पण कर दिया तो भी उस व्यक्ति के उत्तरदायित्वो का वर्णन उस समझौते मे होना चाहिये । कोई भी ऐसा समझौता जो उत्तरदायित्व निश्चित किये बिना निरंकुश अधिकारों का निर्माण करता है, तर्कसगत नही कहा जा सकता ।

समझौते की आवश्यकता हाब्स के विचारो मे एक नये विरोध को जन्म देती है। समझौता विवेक का ही कार्य है और प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य विवेकहीन है । हाब्स को आंशिक रूप से विवेक का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा जिसे उसने विवेकशील आत्मरक्षा कहा है । हाब्स के विचारों मे विवेक का वर्णन बड़ा आकस्मिक है । यदि समझौते के समय आत्मरक्षा पर विवेक से विचार किया जा सकता है तो उसके पहले निरंतर युद्ध की क्या आवश्यकता है । विवेकशील आत्मरक्षा प्राकृतिक विधि का भी निर्माण करती है, किन्तु यह विधि प्रस्तुत जीवन को नियंत्रित करने के लिये नही बल्कि नये जीवन का निर्माण करने के लिये प्रेरणा देती है ।

हाब्स के सिद्धात मे सबसे महत्वपूर्ण स्वतः विरोध उस समय उपस्थित होता है जब सभ्य समाज मे जीवन-रक्षा का प्रश्न सामने आता है । समझौते के द्वारा अधिकारों का संपूर्ण समर्पण तो हो गया और व्यक्ति शासक के सभी आदेश मानने के लिये बाध्य भी हो गया, किन्तु यदि शासक फिर भी उसे सुरक्षा प्रदान नही कर सका तो उसका कोई प्रयोजन नही । इस कारण से हाब्स यह मानने के लिये बाध्य हो जाता है कि जीवन-रक्षा की खोज मे व्यक्ति संप्रभु के बन्धनो को तोड सकता है । इस मान्यता के निष्कर्ष अत्यंत हानिकारक है, क्योंकि व्यक्ति शासक के उन आदेशो को मानने से इन्कार कर सकता है जो उसके जीवन की सुरक्षा के लिये हानिकारक है । वह सेना मे भर्ती होने से इन्कार कर सकता है और मृत्युदंड से बचने के लिये जेल या राज्य की सीमा से भाग जाना भी न्यायसगत हो जाता है । इतना ही नहीं, युद्ध के समय यदि शासक जीवन-रक्षा प्रदान नही कर सकता तो व्यक्ति अपनी निष्ठा बदल सकता है और उस संप्रभु को अपने अधिकार समर्पित कर सकता है जो उसे रक्षा प्रदान करने की क्षमता रखता है । यह विचार युद्ध मे घिरे हुए देश के लिये अत्यंत हानिकारक है । ऐसे संकट के समय अतिरिक्त राज्य निष्ठा और देशप्रेम की आवश्यकता होती है तभी युद्ध जीते जा सकते हैं । द्वितीय महायुद्ध के पहले दौर मे ऐसा प्रतीत होता था कि जर्मनी की विजय निश्चित है परन्तु बाद मे पांसे पलट गये । यदि इस आरभिक चरण मे ही यूरोपीय देशो की जनता अपनी निष्ठा बदल देती और जर्मनी की संप्रभुता को स्वीकार कर लेती तो इस अंतिम विजय का प्रश्न ही नही आता । इस प्रकार हाब्स केवल स्वतः विरोधी विचारो का ही समर्थन करने के लिये बाध्य नही होता बल्कि

अत्यत हानिकारक निष्कर्ष पर जा पहुँचता है जिनके कारण राजनीतिक दायित्व का संपूर्ण आधार समाप्त हो जाता है।

इसी संदर्भ मे इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक हो जाता है कि हाब्स के सिद्धात मे व्यक्ति के अधिकारो और राज्य की उपादेयता का स्वरूप केवल भ्रमात्मक ही है। राज्य की स्थापना का कारण व्यक्ति की सुरक्षा अवश्य है किन्तु इसके कारण सेबाइन के इस निष्कर्ष को स्वीकार नही किया जा सकता कि "हाब्स एक साथ पूर्ण-उपयोगितावादी था।" सेबाइन का यह विश्वास है कि हाब्स के सिद्धात मे निरकुशसत्ता का समर्थन केवल आकस्मिक और परिधान मात्र है। इस निष्कर्ष तक पहुँचने से पहले हमे यह ध्यान मे रखना चाहिये कि हाब्स के सिद्धान्त में साधन और साध्य का विरोध निहित है। उसके साधन व्यक्तिवादी है, निष्कर्ष नही। इसी विरोध के कारण हाब्स के आध्यात्मिक (Metaphysical) और राजनीतिक दर्शन मे भी असमानता पाई जाती है। हाब्स के आध्यात्मिक आधार साधन की स्थापना (सविदा) से सम्बन्ध रखते है इसलिये वे व्यक्तिवादी दिखाई देते है। मनुष्य के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, उसे स्वचालित अणु माना गया है, मानसिक शक्तियो का विश्लेषण उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी है। राज्य की स्थापना व्यक्ति की सुरक्षा के लिये की गई है किन्तु जब हम राज्य के स्वरूप और व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धो पर पहुँचते है तो हमे अपने विचार बदलना पड़ते है। राज्य का स्वरूप न तो व्यक्तिवादी है न उपयोगितावादी। इसलिये उसके राजदर्शन का आध्यात्मिक दर्शन से अलग करना आवश्यक हो जाता है।

हाब्स के विचारो मे कुछ व्यक्तिवादी सिद्धातो का वर्णन अवश्य हुआ है—राज्य को साध्य नही साधन मानना और उसे आवश्यक बुराई मानना, किन्तु इन आधारो को स्वीकार कर लेने के बाद भी वे निष्कर्ष नही निकाले जा सके जो व्यक्तिवाद का स्वरूप निश्चित करते है। राजनीति मे हम जिस सिद्धात को व्यक्तिवाद कहते है उसमे व्यक्ति का महत्व राज्य से श्रेष्ठ मानना, राज्य की शक्ति को सीमित मानना, व्यक्ति के विचारों की स्वतत्रता तथा राज्य के निर्णय को प्रभावित करने की स्वतत्रता आवश्यक है। हाब्स के सिद्धांत मे इन सभी विचारो का कोई अस्तित्व नही है। हाब्स का राज्य न तो व्यक्ति को कोई अधिकार देता है, न राज्य को व्यक्ति की उन्नति का साधन मानता है, न शासक प्रजा के प्रति उत्तरदायी है। केवल सुरक्षा प्रदान करनेवाले राज्य को हम व्यक्ति का हितकारी नही कह सकते जैसा कि दास के जीवन को केवल सुरक्षित रखने, परन्तु उस पर अत्याचार करनेवाले प्रभु को दास का हितकारी नही कह सकते। वास्तविकता यह है कि हाब्स के सिद्धांतों में व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद एक विरोधी

निष्कर्ष तक पहुँचने के साधन मात्र है। यदि हाब्स ने व्यक्तिवाद को अपनाया है तो केवल इसलिये कि उसका अंत कर दिया जाय। व्यक्ति के अधिकार केवल इसलिये हैं कि उन्हे लेवियाथान के चरणो मे अर्पित कर दिया जाय। इस समर्पण के बदले व्यक्ति को कोई अधिकार नही मिलते। जो अधिकार सत्ताधारी दे देता है, या जिन पर वह प्रतिबंध लगाना भूल जाता है, उन्ही से सतोष करना होगा। शासक के अत्याचार सहना भी आवश्यक है, अन्यथा भयानक और असहनीय प्राकृतिक अवस्था को वापिस जाना होगा। अत्याचारों को चुपचाप सहने के अलावा यदि कोई दूसरा मार्ग है तो असुरक्षा की प्राकृतिक अवस्था। व्यक्ति की स्वतंत्रता भय और सुरक्षा की अनिवार्यता पर आधारित है और हाब्स स्वयं यह कहता है कि अधिकारो का संपूर्ण समर्पण ही व्यक्ति की स्वतत्रता है, उसी प्रकार जैसे कि नाव डूब जाने के भय से यात्री अपना सब सामान समुद्र मे फेक देता है और आगे यह भी कह देना चाहिये कि नाव के बच जाने का निश्चय फिर भी नही रहता। हाब्स की तुलना मे तो अरस्तू के विचार व्यक्ति के लिये अधिक लाभप्रद है जो यह मानता है कि राज्य का अस्तित्व अच्छे जीवन के लिये है। हाब्स ने व्यक्ति को केवल एक सुविधा प्रदान की है और यहा उसने अपने सिद्धात की एकरूपता खो दी। अपनी सुरक्षा के लिये व्यक्ति राज्य का विरोध कर सकता है किन्तु यह विचार उतना ही हानिकारक है जितना सविदा का विचार असत्य है। जैसा हम ऊपर बतला चुके है यह विचार राज्यनिष्ठा के लिये घातक ही सिद्ध होगा और कोई भी व्यक्तिवादी उसे स्वीकार करने के लिये तैयार नही होगा। इसलिये हमे इसी निष्कर्ष को स्वीकार करना होगा कि हाब्स पूर्ण रूप से निरकुशता का समर्थक है और यही उसका उद्देश्य भी था। सविदा का प्रयोग व्यक्ति स्वतत्रता की रक्षा के लिये नही बल्कि उसका नाश करने के लिये किया गया है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपयोगितावाद के अनुकूल अवश्य है किन्तु इस प्रकार की सीमित उपयोगिता से पशु संतुष्ट हो सकते हैं, मनुष्य नही। राज्य की स्थापना से व्यक्ति को कोई लाभ नही हुआ बल्कि वह कढाई से बचकर अग्नि मे गिर जाता है, जीवन को बचाने के लिये व्यक्तित्व खो देता है।

फिर भी हाब्स के सिद्धात मे अनेक ऐसे विचारो का उल्लेख मिलता हे जिसके कारण स्ट्रास (Strass) ने उसे आधुनिक राजदर्शन का जनक कहा है। उसने राजदर्शन को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया, मनोवैज्ञानिक आधार पर राजनीति का विश्लेषण किया, राज्य में सप्रभुता के अस्तित्व का स्पष्टीकरण किया और राज्य के अस्तित्व को दैवी उत्पत्ति के सिद्धात से मुक्ति दिलाई।

अध्याय १३

जान लोक

(१६३२-१७०४)

(John Locke: 1632-1704)

१६४८ की क्राति मे हाब्स के समान निराशावादी और निरंकुशता का समर्थक पैदा हुआ किन्तु क्रान्ति का परिणाम दूसरी ओर रहा। विजय क्रामवेल और उसके संसद-वादी समर्थको के हाथ रही। इस क्रान्ति के दौरान व्यक्ति स्वतंत्रता और जनमत का प्रभाव बहुत अधिक बढ गया। १६४४ मे ही संसद ने एक कानून बनाया जिसके अनुसार किसी भी लेख का मुद्रण होने मे पहले शासकीय अधिकारी की नियुक्ति ली जाना अनिवार्य था। मिल्टन पर इस विधि का उल्लघन करने का आरोप लगाया गया जिसके प्रत्युत्तर में उसने 'एरोपेजीतिका (Areopajitica) लिखी जिसमे विचारो की स्वतंत्रता का समर्थन किया गया। क्राति ने जनसाधारण मे दार्शनिक विवाद और विचारो के आदान-प्रदान की भावना जागृत की जिसके कारण राजनीति मे जनमत का महत्व दर्शाया गया। इस अवधि मे विचारो का आदान-प्रदान कितना व्यापक हो गया था इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि १६४० से १६६१ के बीच इंगलैड मे बीस हजार से अधिक रचनाये प्रकाशित हुई। इस विवाद मे राजनीति, धर्म, दर्शन सभी शामिल थे। क्राति का तत्कालिक परिणाम क्रामवेल के पक्ष मे अवश्य हुआ किन्तु इंगलैंड की राजनीतिक स्थिति सुधरने की अपेक्षा और बिगड गई। चार्ल्स के विरुद्ध क्रामवेल की विजय हो जाने के बाद इंगलैड मे तीन शक्तिया एक दूसरे से उलझ रही थी। एक ओर राजा चार्ल्स था जिसकी शक्ति परास्त हो जाने के बाद भी राजनीति को प्रभावित करने की क्षमता रखती थी। राजा चार्ल्स पुन. सत्ता प्राप्त करने की कोशिश कर रहा था और इसका एक ही उपाय था कि क्रातिकारियों को आपस में लड़ा दिया जाय। संसद विजयी होने के बाद भी इस उलझन मे थी कि सार्वभौमिक शक्ति का प्रयोग किस प्रकार किया जाय। तीसरी शक्ति क्रामवेल की क्रातिकारी सेना थी जो अपनी विजय का फल राजा या अवसरवादियो को नही देना चाहती थी। सेना के हाथ मे बहुत शक्ति थी किन्तु क्रामवेल स्वयं संसदीय प्रणाली का इतना तीव्र समर्थक था कि वह तानाशाह नही बनना

चाहता था और उसने संसद की स्थापना की। क्रामवेल की सेना मे लेवलर्स (Levellers) नाम का एक नया दल स्थापित हो चुका था। यह दल अपने अधिकारियो की मंद गति से असंतुष्ट था और सुधारो की प्राप्ति शीघ्र से शीघ्र चाहता था। जान लिलबर्न (John Lilburne) और रिचर्ड ओवर्टन (Richard Overton) इस दल के प्रमुख नेता थे। इस दल को व्यावहारिक सफलता तो नही मिली किन्तु इसका सैद्धातिक महत्व बहुत अधिक है। इस दल ने राजनीतिक समानता और सीमित सत्ता का नारा लगाया जो इङ्गलैण्ड की राजनीति का स्थायी अंग बन गई। ये लोग असीमित सत्ता को एक दुर्गुण मानते थे, चाहे वह राजा के हाथ मे हो या संसद के हाथ मे। ससद के विरुद्ध व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी एक अत्याचारी के विरुद्ध।

राज्य क्राति मे यद्यपि राजा का विरोध किया गया किन्तु राजतंत्र और गणतत्र का विवाद कही स्पष्ट नही हुआ। क्राति का मूल उद्देश्य था सीमित राजतत्र की स्थापना करना किन्तु राजा इस व्यवस्था को स्वीकार नही कर सका इसलिये उसे राजगद्दी से उतारा गया। फिर भी क्राति के परिणाम स्वरूप गणतत्रात्मक विचारो का प्रचार हुआ और इस धारा के प्रमुख समर्थक हेरिंगटन (Harrington), मिल्टन (Milton) और सिडनी (Sydney) थे। परन्तु इङ्गलैड मे गणतत्रवाद का स्थाई प्रभाव कभी नही हो सका और १६६० मे पुन: राजतंत्र को अपना लिया गया। चार्ल्स द्वितीय को पुनः राजगद्दी पर बैठाया गया परन्तु ब्रेडा की घोषणा के द्वारा राजा की विधायिनी शक्ति को सीमित कर दिया। ससद की स्वीकृति के बिना कोई क़ानून नही बनाया जा सकता था। चार्ल्स द्वितीय की मृत्यु से इङ्गलैड का राजनीतिक रगमच फिर सजीव हो उठा। नये उत्तराधिकारी के धार्मिक विचारो के कारण फिर से विवाद उत्पन्न हुआ। विवाद का मूल आधार यद्यपि धार्मिक था फिर भी राजा के अधिकारो का पूर्ण विश्लेषण इस विवाद मे हुआ। जेम्स द्वितीय निरकुश शासन का समर्थन था और अपने अधिकारों पर किसी प्रकार की सीमा स्वीकार करने के लिये तैयार नही था। १६८० मे सर राबर्ट फिल्मर की पेट्रियार्का (Patriarcha) प्रकाशित कराई गई जिसमे शासक के पैतृक अधिकार आदि पुरुष एडम से दर्शाये गये है। १६८८ मे पुन. इङ्गलैड मे "रक्तहीन क्राति" हुई जिसके द्वारा जेम्स द्वितीय को राजगद्दी से उतार दिया गया। गणतंत्र का सिद्धात तो १६६० मे ही समाप्त हो चुका था, इस क्राति के द्वारा भी केवल सीमित राजतंत्र की ही स्थापना की गई।

१६४८ की क्राति से क्राति विरोधी 'लेवियाथान' की रचना प्रभावित हुई तो १६८८ की क्राति की दार्शनिक देन जान लॉक का सिद्धात था, जिसने क्राति को न्याय-

संगत और शासन को सीमित दर्शाने का प्रयास किया। दोनो दार्शनिक दो विरोधी दलो के है। हाब्स ने कठोर तर्क प्रणाली के द्वारा जनसाधारण मे प्रचलित विचारो का विरोध किया, तो लॉक को इन विचारों का समर्थन करने के लिये सामान्य ज्ञान का आलंबन ही काफी था। लॉक उन्ही विचारो का समर्थन करना चाहता था जो रक्तहीन क्राति के आधार थे या उसकी उपज थे और इस कार्य मे उसे कोई विशेष कठिनाई नही हुई। लॉक को अपने उद्देश्य की पूर्ण सामग्री पुनर्स्थापन (Restortaio) काल के विचारो मे मिली। मिल्टन और सिडनी ने सीमित संविदा का समर्थन किया था जिसके अनुसार मनुष्य अपने कुछ अधिकार ही राज्य को समर्पित करता है और शेष बातो मे उसकी स्वतंत्रता पूर्ववत् बनी रहती है। प्रजा राजा की आज्ञा को मानने के लिये केवल उसी समय तक बाध्य है जब तक शासक लोकहित मे कार्य करता है। १६८८ की क्रांति इन सभी विचारो से प्रभावित थी और यह विचार लॉक के ग्रन्थो मे स्पष्ट हुए है।

स्पष्ट रूप मे लॉक का सिद्धान्त उन सभी निष्कर्षो का खडन है जो प्रथम क्रांति के बाद हाब्स ने प्रस्तुत किये थे। 'लेवियाथन' के प्रत्येक पृष्ठ पर क्राति के भयभीत और और अव्यवस्थित जीवन की छाया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है और हाब्स ने मनुष्य स्वभाव का जो चित्रण किया वह क्राति के बीच मानव व्यवहारो से प्रेरित था किन्तु हाब्स ने केवल एक क्राति देखी थी और लॉक का जीवन दो क्रातियो से गुजरा। हाब्स की तरह लॉक को भी अपने जीवन की रक्षा के लिये मातृभूमि को छोडकर यूरोपीय महाद्वीप मे शरण लेनी पडी किन्तु फिर भी दोनो के विचारो मे पूर्ण विरोध पाया जाता है। लॉक के उदारवाद का कारण उसके पारिवारिक जीवन मे और विशेष रूप से उसके पिता के व्यवहार मे निहित है। उसने स्वय इस बात को स्वीकार किया है कि वह अपने पिता के उदार व्यवहार से बहुत अधिक प्रभावित था। जान लॉक का जन्म १६३२ मे एक मध्यमवर्गीय परिवार मे हुआ था। उसके पिता ससदीय आन्दोलन के समर्थक थे तथा उन्होने क्रामवेल की सेना मे कार्य भी किया था, इसलिये यह स्वाभाविक है कि बचपन से ही उसके संस्कार निरकुशता के विरोधी हो गये। लॉक ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से १६५७ मे अपनी उच्च शिक्षा पूरी की और १६६० से क्राइस्ट चर्च मे अध्यापक का कार्य शुरू किया। इस समय आक्सफोर्ड पर उदारवादी विचारो का प्रभाव था। यहा पर १६६७ मे लॉक का सपर्क लार्ड शेफ्ट्सबरी से हुआ और इन दोनो का साथ शेफ्ट्सबरी की मृत्यु तक चलता रहता। इस समय इङ्गलैंड की राजनीति मे दो दल थे—अनुदार और रूढीवादी विचारो का समर्थक टोरी (Tory) दल, जो राजा के दैवी अधिकारो का समर्थन करता था; दूसरा उदार विचारो का

समर्थक व्हिग (Whig) दल, जो व्यक्ति स्वतंत्रता तथा सीमित शासन का समर्थक था। लार्ड शेफ्ट्सबरी व्हिग दल के एक प्रमुख नेता थे। शेफ्ट्सबरी का साथ होने के कारण लॉक को १६८३ से १६८८ तक हालैंड मे निष्कासन का जीवन व्यतीत करना पड़ा। इङ्गलैंड से निकाले गये राजनीतिक शरणार्थियो के बीच रहते हुए और उनसे विचारो का आदान-प्रदान करके इसी अवधि मे लॉक ने अपने दर्शन का वृहत् रूप निश्चित किया। उसके कई लेख १६७२ के पहले भी प्रकाशित हो चुके थे किन्तु सभी प्रधान ग्रन्थ १६८८ की क्राति के बाद ही प्रकाशित हुए। 'टू ट्रीटाइजेज आफ सिविल गवर्नमेन्ट' (Two Treatises of Civil Government) १६६० में प्रकाशित हुई और पुस्तक का मूल उद्देश्य १६८८ की क्राति को न्यायसंगत बतलाना तथा सीमित शासन का समर्थन करना था। प्रथम पुस्तक मे राबर्ट फिल्मर की 'पेट्रियार्का' का खंडन किया गया है और स्वय लॉक के विचार द्वितीय पुस्तक मे है। जो कठोर तर्क पद्धति हाब्स की शैली मे मिलती है लॉक में उसका अभाव है किन्तु लॉक के विचारो की लोकप्रियता का मूल कारण उनकी उपादेयता है और लोकप्रिय विचारो का प्रतिपादन। सामान्य ज्ञान की सहायता से लॉक ने उन विचारो का समर्थन किया जिन्हे अधिकाश लोग पहले ही चाहते थे। जार्ज सेबाइन ने लिखा है कि लॉक की "विद्वत्ता का विशेष गुण न तो ज्ञान ही था न तर्क किन्तु अतुल सामान्य-ज्ञान (Commonsense) जिसके द्वारा उसने महत्वपूर्ण विचारो का सकलन किया।" तार्किक दृष्टिकोण से लॉक के विचार उतने सुदृढ नही है जितने हाब्स के, किन्तु इस सामान्य ज्ञान के कारण लॉक के विचारो का प्रभाव अधिक हुआ। वास्तविकता यह है कि हाब्स प्रगति की धारा के विपरीत जाना चाहता था और लॉक ने धारा के साथ ही बहना चाहा इसलिये उसका प्रभाव अधिक हुआ।

मनोविज्ञान और प्राकृतिक अवस्था—हाब्स की तरह लॉक भी अपने सिद्धात को सामाजिक अनुबंध के द्वारा समझाता है किन्तु उसका अनुबन्ध हाब्स से नही बल्कि हुकर से अधिक प्रभावित है। साधन एक होते हुए भी लॉक का उद्देश्य हाब्स के विपरीत था, और हाब्स के निष्कर्षो का खंडन करने के लिये वह उसके आधारों का विरोध करता है। समाज का संगठन समझौते के स्वरूप पर निर्भर है और समझौता मानव स्वभाव पर, इसलिये लॉक भी हाब्स की तरह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से आरंभ करता है। मानव स्वभाव का चित्रण हाब्स ने किया है, वह न तो नैतिक दृष्टिकोण से सही कहा जा सकता है न अनुभव ही उसका समर्थन करता है। मनुष्य स्वभाव से ही विवेकशील प्राणी है और राज्य का निर्माण होने से पहले भी वह विवेकशील था। रोमन और मध्यकाल मे प्रचलित प्राकृतिक विधि के सिद्धाता

को ग्रहण करके लॉक ने यह दर्शाया कि मनुष्य को ईश्वर की सबसे बड़ी देन विवेक है। यह विवेक हमारे व्यवहार को स्वतः सीमित करता है। इस शक्ति के द्वारा प्राकृतिक अवस्था मे भी मनुष्य को इस बात का ज्ञान रहता है कि हमे क्या करना चाहिये और क्या नही। हाब्स की तरह लॉक यह नही मानता कि मनुष्य के स्वार्थ उसके विवेक को कमजोर कर देते है। विवेक के द्वारा हर व्यक्ति न्याय, नैतिकता और नियमो की कल्पना कर लेता है तथा उनका पालन करता है। जीवन स्वत. संयत है और मनुष्य अपने स्वार्थो के लिये लडते नही है। मनुष्य में क्षमा, दया, सहानुभूति, परोपकार इत्यादि गुण स्वाभाविक रूप मे रहते है और प्राकृतिक अवस्था परस्पर सहयोग, शाति और प्रगति की अवस्था है। हाब्स की तरह लॉक ने अपने मनोवैज्ञानिक आधारो का वर्णन अधिक व्यापक रूप से और अलग से नही किया किन्तु पुस्तक मे अनेक स्थानो पर मानव स्वभाव का जो चित्रण किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकाले जाते है। मनुष्य स्वभाव मे दूसरे मनुष्यो को नुकसान पहुँचाने की इच्छा नही रखता क्योकि हम जिस कार्य को अपने प्रति अच्छा नही समझते उसे दूसरे के प्रति नही करना चाहते। मानव स्वभाव का सरल और उदार चित्रण लॉक ने किया है, हाब्स की तरह मनुष्य को एक जगली जानवर मानने की गलती वह नही करता। हाब्स के जो तार्किक निष्कर्ष थे उनसे बचने के लिये भी मनोवैज्ञानिक आधारो मे परिवर्तन करना आवश्यक था।

इस अवस्था मे मानव समानता को लॉक भी स्वीकार करता है किन्तु यह शक्तियो की समानता नही बल्कि प्राकृतिक और वैधानिक समानता है। सभी मनुष्य इसलिये समान है क्योकि वे एक ही कोटि के प्राणी है। एक ही वर्ग के होने के कारण सभी मनुष्यो को प्रकृति से समान क्षमतायें और समान लाभ प्राप्त होते है। कोई मनुष्य किसी के अधीन नही है, न कोई दास हो सकता है न प्रभु, जब तक कि सबकी सहमति से सत्ता की स्थापना न कर दी जाय। इस समानता के कारण किसी व्यक्ति को किसी व्यक्ति का जीवन लेने का अधिकार नही है। इसलिये प्राकृतिक अवस्था युद्ध की अवस्था नहीं है। लॉक कहता है कि युद्ध का प्रश्न उस समय आता है जब कोई मनुष्य अपने लाभ के लिये दूसरे व्यक्ति के साथ किसी प्रकार का अन्याय करे या बल प्रयोग करे किन्तु विवेकशील होने के नाते मनुष्य प्राकृतिक अवस्था मे भी ऐसा कोई कार्य नही करता जिससे युद्ध की उत्पत्ति हो। युद्ध की अवस्था से भिन्नता दर्शाते हुए लॉक ने प्राकृतिक अवस्था की परिभाषा इन शब्दो मे की है, "सामान्य श्रेष्ठ शक्ति, जो उनके पारस्परिक व्यवहारो का निर्णय कर सके, के बिना विवेक के अनुकूल जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्यो को सही अर्थ मे प्राकृतिक अवस्था कह सकते है।"

प्राकृतिक अवस्था मे विधि का अस्तित्व भी स्वीकार किया गया बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि प्राकृतिक विधि ही लॉक के सिद्वात का मूल आधार है। विवेक की आतरिक शक्ति मनुष्य को उचित-अनुचित का अंतर करने की शक्ति प्रदान करती है और जो अनुचित है उसे करने से रोकती है इसलिये व्यवहार के नियम अपने आप बन जाते है। विवेक का स्वाभाविक गुण है व्यवहार को मर्यादित करना, मर्यादा-हीन व्यवहार मनुष्य को कभी शोभा नही देता। राज्य और समाज की स्थापना से पहले विधि का अस्तित्व इस प्रकार स्वीकार किया गया। यह विधि न केवल राज्य से पूर्व है बल्कि राज्य से श्रेष्ठ है और राजनीतिक संगठन का आधार है। मर्यादित व्यवहार का पहला नियम यह है कि हम अपने प्रति जिस कार्य को अच्छा नही समझते उसे दूसरे के प्रति न करे क्योकि जो कार्य हमारे लिये हानिकारक है वह दूसरो के लिये भी है और यदि हम स्वय दूसरो को नुकसान पहुँचाते है तो दूसरों से अच्छे व्यवहार की आशा भी नही कर सकते। धीरे-धीरे आचरण के सभी नियम स्पष्ट हो जाते है। मनुष्य न तो दूसरो को नुकसान पहुँचाता है न उनके मार्ग मे बाधा उपस्थित करता है बल्कि विवेक के कारण एक दूसरे से सहयोग की भावना बलवान होती है। इस नियम के कारण प्राकृतिक अवस्था का जीवन शाति, सहयोग और प्रगति का जीवन होता है। निरकुश सत्ता का समर्थन करने के लिये हाब्स को भयंकर, असहनीय और नियमहीन प्राकृतिक अवस्था का सहारा लेना पड़ा तो सीमित सत्ता का समर्थन करने के लिये लॉक ने नियमित और शातिपूर्ण जीवन का चित्रण किया है। सीमित शासन का समर्थन करने के लिये लॉक को ऐसे नियम का सहारा लेना पडा जो राज्य की स्थापना से पहले था और राज्य की शक्ति को सीमित करता है। शासन का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि जो उसके सस्थापन से पहले स्वाभाविक रूप से उचित था उसका अनुमोदन करे, अतिक्रमण नही। सत्ताधारी या शासन के द्वारा किसी नई वस्तु का निर्माण नही होता बल्कि प्राकृतिक विधि को स्पष्ट और सरल बनाने का प्रयास है। विधि नैतिकता को नही बल्कि नैतिकता विधि को जन्म देती है और विधि निर्माता के अभाव मे प्रचलित नैतिक नियम सभी राजकीय विधियो के आधार है।

लॉक ने प्राकृतिक अधिकारो का अस्तित्व भी स्वीकार किया है। जहा नियम है वहा अधिकारो का होना भी स्वाभाविक है। वास्तव मे प्राकृतिक अधिकारो का अस्तित्व ही प्राकृतिक नियमो की कल्पना का आधार है। कुछ अधिकारो का अस्तित्व राज्य के निर्माण से पुराना है और इन अधिकारो के पीछे विधि का होना भी स्वाभा-विक है। प्राकृतिक अधिकारो मे सबमे महत्वपूर्ण और सबसे स्पष्ट संपत्ति का अधिकार हैहै यद्यपि कुल तीन अधिकारो का उल्लेख लॉक ने किया है जीवन, संपत्ति और स्वतं-

न्नता। उसने स्पष्ट रूप से यह कहा कि सपत्ति का अधिकार "सामान्य वर्ग के लोगों के स्पष्ट अनुबंध से परे है।" अरस्तू की तरह लॉक भी इस बात को स्वीकार करता है कि संपत्ति मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है, जिसका अस्तित्व राज्य के नही बल्कि कुटुम्ब के समानान्तर है। संपत्ति और कुटुम्ब का अस्तित्व राज्य से पूर्व है क्योंकि कुटुम्ब तो निश्चित रूप से राज्य का पूर्वज है और कुटुम्ब के लिये संपत्ति का होना भी आवश्यक है। इसके अलावा लॉक ने संपत्ति के अधिकार की उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई है कि प्राकृतिक साधन के साथ श्रम का मिश्रण ही सपत्ति का निर्माण करता है। भूमि पर किसी का अधिकार नही था किन्तु जब किसी व्यक्ति ने भूमि के हिस्से मे अपना श्रम लगाया तो वह हिस्सा उसकी सपत्ति हो गई। यह स्वाभाविक है कि कृषि का आविष्कार राज्य से पहले हुआ इसलिये सपत्ति का अधिकार भी राज्य से पहले मान्य था। संपत्ति का अधिकार शातिमय जीवन की आवश्यक शर्त है। संपत्ति की स्थापना मे यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन और स्वातत्र्य का अधिकार भी राज्य से पहले था क्योंकि इन दो अधिकारों के बिना सपत्ति का निर्माण सभव नही है। लॉक का तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपनी इच्छा से ही इन सब अधिकारो को मान्यता दे देते थे।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि प्राकृतिक अवस्था इतनी सुखमय और सुन्दर थी, यदि जीवन मे कोई कठिनाई नही थी, तो मनुष्य ने इस अवस्था का त्याग क्यो किया? प्राकृतिक शाति का आधार प्राकृतिक विधि है किन्तु कुछ ऐसी परिस्थितिया आ जाती हैं जब ये नियम स्पष्ट नही होते अथवा इनका पालन कराने में कुछ कठिनाई होती है। इस गतिरोध को दूर करने के लिये ही राज्य का निर्माण करना पड़ता है। प्राकृतिक विधि के सम्बन्ध मे तीन कठिनाइया उपस्थित होती है। सबसे पहले प्राकृतिक विधि की व्याख्या स्पष्टीकरण की है। इस स्वनिर्मित विधि के अर्थ के बारे मे यदि दो व्यक्तियो मे मत भेद हो जाता है तो स्पष्ट और सर्वमान्य व्याख्या करने वाली कोई शक्ति नहीं है। दूसरी कठिनाई न्याय संबधी थी। यदि किसी व्यक्ति के द्वारा नियमो का उल्लंघन हो जाय तो उसके व्यवहार का निर्णय करने वाली कोई श्रेष्ठ शक्ति स्वयं नही थी; व्यक्ति अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है तो ठीक अन्यथा उसका अपराध सिद्ध नही किया जा सकता था, इसलिये 'व्यक्ति अपने मामले मे न्यायाधीश था।' तीसरी कठिनाई कार्यकारिणी शक्ति का अभाव है। यदि प्राकृतिक विधि की व्याख्या का विवाद सुलझ जाता है और अपराधी अपने दंड को कार्यान्वित करने भी स्वीकार कर लेता है तो भी उस दंड को और विधि का पालन करानेवाली कोई शक्ति नही है। यह बात विचारणीय है कि लॉक ने जो तीन कठिनाइयां यहां प्रस्तुत की है उनका सबध शासन के तीन अगो से है विधायनी, कार्यकारिणी और न्यायपालिका। लॉक का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शात सामाजिक जीवन के लिये

इन तीन शक्तियों का होना आवश्यक है। यह विचार शक्ति पृथक्करण का आधार प्रस्तुत करते है। केवल इन्हीं कठिनाइयो को दूर करने के लिये मनष्य समाज में प्रवेश करता है। लाभ का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण घोर व्यक्तिवादी (Egoistic) है। राज्य और समाज का निर्माण व्यक्ति के लिये हुआ है। राज्य की उपादेयता केवल सुरक्षा तक सीमित नही है बल्कि संपूर्ण क्षेत्र मे व्याप्त है और उपयोगितावाद का ऋण हाब्स नहीं बल्कि लॉक के प्रति अधिक है।

सामाजिक संविदा—प्राकृतिक अवस्था मे मनुष्य को स्वतंत्रता तो थी किन्तु यह स्वतत्रता निश्चित नही थी, इसलिये लोगो ने अपनी स्वतंत्र इच्छा से एक ऐसी शक्ति का निर्माण किया जो प्राकृतिक नियमो के पालन के लिये उत्तरदायी है। यही शक्ति राजनीतिक शक्ति है और इसकी परिभाषा लॉक ने इस प्रकार की है, "मृत्युदड के साथ विधि निर्माण का अधिकार ......सपत्ति (प्राकृतिक अधिकार) को नियमित और सुरक्षित रखने के लिये, और विधि पालन के लिये समाज की शक्ति का प्रयोग ....यह सब केवल जनहित के लिये।" लॉक का उद्देश्य यह था कि राज्य का निर्माण इस प्रकार से दर्शाया जाय कि शासन व्यक्ति के अधिकारो और स्वतत्रता को सुरक्षित रखने के लिये बाध्य हो। इस प्रकार की शक्ति सामूहिक ही हो सकती है और सबकी सहमति से ही निर्मित हो सकती है। इस कारण सामाजिक सविदा की आवश्यकता होती है, एक ऐसी सविदा जिसमे हर व्यक्ति अपनी इच्छा से शामिल होता है। लॉक के सिद्धात मे यह स्पष्ट नही है कि राज्य के निर्माण के लिये एक समझौता हुआ या दो। संविदा का यह वर्णन समाज के उदय तक ही सीमित है और दूसरी ओर लॉक यह भी कहता है कि राजनीतिक शक्ति का निर्माण सबकी सहमति से ही हो सकता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि लॉक के सिद्धांत मे दो संविदाये निहित है। लॉक ने स्वय दूसरे समझौते का वर्णन नही किया यद्यपि समाज और सरकार को वह भिन्न मानता है। सर अर्नेस्ट बार्कर ने यह दर्शाया है कि लॉक के सिद्धात मे केवल एक ही सविदा है जिसके द्वारा समाज का निर्माण हुआ और शासन केवल एक प्रन्यासी है जिसके साथ समाज का कोई समझौता नही और न समझौते की आवश्यकता है। इसके विपरीत जार्ज सेबाइन ने दो समझौते माने है। प्रन्यास (Trust) स्वीकार कर लेने के बावजूद भी दूसरे समझौते को मानना आवश्यक हो जाता है। समाज और राज्य का अस्तित्व अलग-अलग है सरकार का अत हो जाने से समाज का अंत नही हो जाता इसलिये इन दोनो सस्थाओं का उद्गम अलग-अलग मानना पड़ेगा। प्रथम संविदा के द्वारा लोग अपनी शक्तियो का समर्पण संपूर्ण समाज को ही करते है परन्तु इन कार्यो की पूर्ति सरकार के द्वारा ही होती है। सरकार को यह कार्य समाज ने कब और कैसे किये इसका स्पष्टीकरण लॉक के

सिद्धात में नही मिलता। शासन केवल एक प्रन्यासी (Trustee) है, किन्तु यह केवल शासन की सीमित शक्ति और उत्तरदायित्व का स्पष्टीकरण करने के लिये है, किन्तु फिर भी यह प्रश्न तो रहता ही है कि समाज ने इस प्रन्यास की स्थापना और अधिकारो का हस्तातरण किस प्रकार किया। लॉक यह तो स्वीकार करता है कि शक्ति हस्तातरण का समझौते के अलावा कोई दूसरा मार्ग नही है। इसमे यह आभास होता है कि लॉक के सिद्धात मे दो सविदाओ का सिद्धात निहित है। इसके अतिरिक्त लॉक को प्रभावित करने वाले विचारको अल्युसियस और पफेन्डर्फ ने दो संविदाओ को स्वीकार किया है। इसलिये लॉक के सिद्धात मे भी दो समझौते निहित माने जाते है। प्रथम सामाजिक समझौता है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने अधिकारो का समर्पण सपूर्ण समाज को कर देता है और द्वितीय समझौता राजनीतिक है जिसमे समाज के ये अधिकार शासन को सौंपे जाते है। शासन का अत होने से केवल इस दूसरे समझौते का खंडन होता है और समाज का अस्तित्व बना रहता है। मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को वापिस नही लौटता।

प्रथम सविदा जिसके द्वारा राज्य की स्थापना हुई उसमे सबका एकमत होना आवश्यक है, किन्तु समाज की स्थापना के बाद सभी निर्णय बहुमत के द्वारा लिये जा सकते है। बहुमत का निर्णय ही सबको स्वीकार करना होता है। लॉक लिखता है, जो समुदाय है "उनके लिये यह आवश्यक है कि वह एक ही दिशा मे चले; यह आवश्यक है कि समाज उस ओर जावे जहा अधिक शक्ति उसे ले जावे, जो कि बहुमत की इच्छा है अन्यथा यह असभव है कि वह (समाज) कार्य कर सके और एक सगठन बनी रहे।" लॉक की सविदा का स्वरूप भी हाब्स से भिन्न है। इस समझौते द्वारा लोग अपनी संपूर्ण शक्तियो का समर्पण नही करते न यह समर्पण एक व्यक्ति के प्रति होता है। समझौते का स्वरूप इन शब्दो मे स्पष्ट किया कि प्राकृतिक अवस्था के मनुष्यो ने 'एक समूह के रूप मे इकट्ठे और सगठित होकर अपने सुखी, सुरक्षित और शात जीवन की प्राप्ति सपत्ति के अधिकार का उपयोग, और बाहरी शक्तियो से सुरक्षा के लिये" स्वेच्छा से एक समझौता किया। इस सविदा के द्वारा लोग केवल उन शक्तियो का समर्पण करते है जो शाति, सुरक्षा और प्राकृतिक अधिकारो के लिये आवश्यक है। प्राकृतिक विधि के सबध मे जो कठिनाइया आती है उन्हे दूर करने की शक्ति हस्तातरित की जाती है प्राकृतिक विधि को नष्ट करने या उसका खडन करने की शक्ति नही। इस समझौते के परिणाम स्वरूप समाज को यह सीमित अधिकार प्राप्त हो जाते है। समाज स्वयं इन अधिकारो का प्रयोग नही करता बल्कि एक प्रन्यास का निर्माण करता है और यह कार्य शासन को सौंप देता है। राज्य के अधिकार मौलिक नही है बल्कि समाज के

से प्राप्त है इसलिये यह सीमित भी है। शासन को समाज केवल वही अधिकार प्रदान कर सकता है जो उसे प्राप्त हुए थे, इनसे अधिक नही। इस प्रकार समाज और राज्य के अधिकार सीमित है। लॉक ने सामाजिक सविदा को ऐतिहासिक सत्य माना है, उसका यह विश्वास है कि राज्य की स्थापना इस प्रकार के समझौते से सभव है किन्तु यह उसकी भूल है क्योकि जिन मनुष्यो ने कभी किसी सगठित जीवन का अनुभव नहीं किया—वे एकाएक राज्य जैसे विशाल सगठन का निर्माण नही कर सकते। लॉक ने संविदा की ऐतिहासिकता के पक्ष मे रोम, वेनिस और अमेरिका के उदाहरण प्रस्तुत किये किन्तु यह सभी उदाहरण ऐसे लोगो के है जिन्हे राज्य रूपी सगठन का ज्ञान था। लॉक संविदा के माध्यम से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राज्य का निर्माण अन्य किसी तरीके से न्यायसंगत नही कहा जा सकता। शक्ति और युद्ध के द्वारा राज्य का निर्माण होता है और हार जाने वाली जाति को आज्ञा मानने के लिये बाध्य भी किया जा सकता है किन्तु ऐसे प्रदेश के निवासी शासक के आदेशो को मानने के लिये बाध्य नही है क्योकि शासन उनकी सहमति पर आधारित नही है और यदि वे शासन का विरोध करते है तो यह न्याय के विरुद्ध नही होगा। लॉक कहना चाहता है कि जो शासन जनता की सहमति पर आधारित नही है उसे बदलने का अधिकार समाज के बहुमत को है।

लॉक ने स्पष्ट और अस्पष्ट सहमति का वर्णन किया है। समाज के बन्धन मनुष्य स्पष्ट या अस्पष्ट सहमति से स्वीकार कर सकता है। जब कोई व्यक्ति किसी शासन के द्वारा प्रदान किये गये सरक्षण, व्यवस्था व अधिकारो का लाभ प्राप्त करना स्वीकार कर लेता है तो इसका अर्थ यही है कि उसने शासन के बन्धन स्वीकार करने के लिये अपनी सहमति प्रदान कर दी है यद्यपि वह इस प्रकार की कोई स्पष्ट घोषणा नही करता। इस प्रकार लॉक इस आपत्ति का उत्तर प्रदान करता है कि सविदा या सहमति आनेवाली पीढियो का किस प्रकार बाध्य कर सकती है। सभ्य समाज मे शामिल होनेवाला व्यक्ति अपनी सपत्ति और अधिकार भी समाज के सरक्षण मे दे देता है इसलिये उस सपत्ति का उत्तराधिकार जो व्यक्ति स्वीकार करता है वह समाज के बन्धन स्वीकार करने के लिये बाध्य है। उत्तराधिकार ग्रहण करने मे ही आनेवाली पीढ़ी की सहमति निहित है।

समाज, राज्य और शासन—समाज और राज्य के उद्गम के सम्बन्ध मे लॉक के विचार भले ही अस्पष्ट हो किन्तु यह स्पष्ट है कि क्रांति के द्वारा जब सरकार भग होती है तो समाज का अत नही होता। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सरकार के भग होने से मूल संविदा पर कोई असर नही होता। शासन के भंग

होते ही सारी शक्तिया संपूर्ण समाज को वापिस हो जाती है व्यक्ति को नही, मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को वापिस नही लौटता न उसे फिर से समझौता करने की आवश्यकता होती है बल्कि समाज के बहुमत के द्वारा फिर से शासन की स्थापना कर दी जाती है। इन विचारो को स्पष्ट करने के लिये ही लॉक के सिद्धांत मे दो संविदायें स्वीकार कर लेना अधिक उचित दिखता है। द्वितीय या राजनीतिक संविदा टूटती है, प्रथम संविदा नही।

लॉक के सिद्धात मे समाज की अपनी शक्ति अलग है जो शासन से अधिक महत्वपूर्ण है। व्यवस्था और विधि पालन का अधिकार मौलिक रूप से समाज को प्राप्त है क्योंकि समझौते के द्वारा लोगो ने अपने अधिकार संपूर्ण समाज को ही समर्पित किये है। किन्तु समाज स्वयं शासन का संचालन स्वयं नही करता बल्कि अपने अभिकर्त्ता को प्रदान कर देता है। संप्रभु के रूप मे शासन केवल एक ही कार्य करता है—वैधायिनी शक्ति का निर्माण। शासन की स्थापना हो जाने के बाद समाज स्वयं कोई कार्य नहीं करता बल्कि सरकार ही करती है। शासन की शक्तिया इस प्रकार, मौलिक नही है बल्कि प्रदत्त हैं इसलिये इनका सीमित होना स्वाभाविक है। सर्वप्रथम समाज की शक्तिया ही सीमित है क्योंकि समझौते के द्वारा समाज को केवल ऐसे कार्य सौंप गये है जो प्राकृतिक विधि की तीन कठिनाइयो से संबधित है। अधिकारो का समर्पण नही है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि समर्पण का उद्देश्य केवल जीवन-रक्षा प्राप्त करना नही है बल्कि अपने प्राकृतिक अधिकारो की सुरक्षा प्राप्त करने के लिये। इस प्रकार समाज की शक्ति सीमित भी है और उत्तरदायी भी शासन को अपने अधिकार समाज से मिलते है, इसलिये ये शक्तिया भी सीमित और उत्तरदायी है। शासन यदि अपने क्षेत्र से बाहर जाने की कोशिश करता है, व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो का अतिक्रमण करता है अथवा अपना उत्तरदायित्व नही निभा सकता तो समाज शासन को बदल सकता है। इस आधार पर राज्य की विधि बनाने की शक्ति ही सीमित है, कोई भी संसद या राजा प्राकृतिक विधि के विरुद्ध कानून नहीं बना सकती, जब तक शासन अपने सीमित क्षेत्र मे कार्य करता है उसे भंग नही किया जा सकता। लॉक के सिद्धात मे समाज केवल सुषुप्त सत्ताधारी (Sleeping Sovereign) है, जो शासन के निर्माण करने के बाद निद्रा मग्न हो जाता है और जब तक शासन कोई अनाचार नही करता तब तक नही जागता। शासन की गलतियो से जागकर समाज शासन को भंग करता है, नये शासन का निर्माण करता है और पुनः निद्रा मग्न हो जाता है।

लॉक की व्यवस्था मे शासन का अस्तित्व एक प्रन्यासी के रूप मे है। जिस प्रकार प्रन्यासी किसी दूसरे के अधिकारों का प्रयोग केवल उसी के हित में करता है

उसी प्रकार शासन समाज की शक्तियो का प्रयोग समाज के लिये करता है। शासक किसी अधिकार का प्रयोग अपने लिये या किसी वर्ग विशेष के लिये नही कर सकता, प्रन्यासी की तरह शासन के अधिकारो की तुलना मे कर्त्तव्य अधिक महत्वपूर्ण है। यह कर्त्तव्य है प्राकृतिक नियमो की व्याख्या करना, उन्हे लागू करना और उनके आधार पर व्यक्ति के व्यवहार का निर्णय करना तथा व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो की रक्षा करना। इस कार्य की पूर्ति के लिये शासन को उचित शक्तिया प्रदान की गई है किन्तु यह सप्रभु शक्ति नही है। राज्य मे सप्रभुता नाम की कोई शक्ति नही है वास्तव मे लॉक संप्रभुता (असीम और सर्वोच्च शक्ति) का इतना विरोधी था कि उसने कही भी संप्रभुता शब्द का प्रयोग नही किया। लॉक का सिद्धांत एकसत्तावाद का पूर्णरूपेण खंडन है। सपूर्ण शक्ति किसी भी स्थान पर नही है, प्राकृतिक अवस्था मे स्वयं व्यक्ति के पास भी सपूर्ण शक्ति नही है क्योकि प्राकृतिक अवस्था "स्वतन्त्रता की अवस्था है अनियमित स्वतन्त्रता की अवस्था नही।" विवेक और प्राकृतिक नियमो के द्वारा व्यक्ति की शक्तिया सीमित है। इसलिये असीम शक्ति व्यक्ति समाज को नही दे सकता और समाज राज्य को नही। सीमित क्षेत्र मे राज्य के आदेशो का पालन आवश्यक है। राज्य की विधायिनी शक्ति अदेय अवश्य है क्योकि समाज ने उसे निश्चित हाथो मे सौपा है और समाज के द्वारा ही इसका परिवर्तन किया जा सकता है केवल उस समय जब शासन अपने अधिकारो का दुरुपयोग करे।

लॉक के सिद्धात मे शक्ति विभाजन का भी स्पष्ट वर्णन मिलता है। समाज के बहुमत की इच्छा से विधायिनी शक्ति का निर्माण होता है, कार्यपालिका और न्याय-पालिका बाद मे आती है। इनका निर्माण किस प्रकार होता है यह स्पष्ट नही किन्तु यह दोनो शक्तियां विधानमंडल के अधीन है। लॉक ने यह बात स्पष्ट रूप से कही कि व्यक्ति स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये विधायिनी और कार्यकारिणी शक्तियो का अलग-अलग हाथो मे रहना आवश्यक है और कार्यपालिका का विधानमडल के अधीन रहना भी आवश्यक है। विधायिनी और कार्यकारिणी के सम्बन्धो पर लॉक के विचार १६८८ की क्राति मे प्रचलित धारणाओं को स्पष्ट करते है और क्राति का समर्थन करते है। लॉक यह मानता है कि इन शक्तियो का विभाजन संपूर्ण और कठोर नही हो सकता क्योकि कभी कार्यकारिणी को भी कानून बनाने की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु कार्यकारिणी का यह अधिकार स्वाभाविक नही है। इस आधार पर लॉक ने यह दर्शाना चाहा कि इङ्गलैंड की दोनो क्रातियो का उत्तरदायित्व राजा को ही है। सरकार मे परिवर्तन की आवश्यकता दो कारणो से होती है, यदि विधायिनी शक्ति का स्थान बदल जाये या प्रन्यास का खंडन हो। इङ्गलैंड के राजा ने संसद की सहमति

के बिना कानून बनाना शुरू कर दिया जिसके कारण विधायिनी शक्ति का स्थान बदल गया, इसलिये क्रांति आवश्यक हो गई।

लॉक का यह वर्णन पूर्णरूपेण व्यक्तिवादी और उपयोगितावादी है। राज्य और समाज का अस्तित्व व्यक्ति के अधिकारों और उपयोगिता से सीमित है। व्यक्ति के कुछ ऐसे मौलिक अधिकार है जिनका अतिक्रमण किसी भी हालत में नहीं किया जा सकता। लॉक का व्यक्तिवाद हमें प्रजातंत्र की ओर नहीं ले जाता बल्कि केवल सीमित शासन की ओर ले जाता है। शासन के स्वरूप से राज्य का कोई संबंध नहीं है, उसका उद्देश्य हर प्रकार के शासन को सीमित करना है। १६८८ की क्रांति का भी यही उद्देश्य था इसलिये लॉक ने पहली संविदा के बाद शक्तियां समाज के पास ही नहीं रखी बल्कि शासन-रूपी न्यास की स्थापना आवश्यक मानी। रूसो यह आपत्ति करता है कि इस न्यास के द्वारा समाज स्वयं अपनी शक्ति को क्यों सीमित कर लेता है? इसका कारण यही है कि इस न्यास के बिना समाज में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र अनिवार्य हो जाता है जैसा रूसो के साथ हुआ किन्तु समकालीन इङ्गलैंड की परिस्थिति में यह विचार निरर्थक होता। संपूर्ण समाज की शक्ति को सीमित करके लॉक हमें आधुनिक प्रजातंत्रों की सबसे महत्वपूर्ण कठिनाई का ध्यान दिलाता है। हमें अपनी व्यवस्था में भी संसद के अत्याचार दल की तानाशाही व प्रतिनिधियों के अनुत्तरदायित्व के प्रति कितना सतर्क रहना पड़ता है। हम अपने प्रतिनिधियों को भी असीम अधिकार प्रदान करने के लिये तैयार नहीं है यही लॉक के सीमित शासन का सबसे बड़ा समर्थन है।

लॉक के व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद का आधार उसका मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान में लॉक ने अनुभववाद (Empiricism) को स्वीकार किया है। मनुष्य कोई विचार लेकर पैदा नहीं होता बल्कि अपने अनुभव से ग्रहण करता है। उसके सभी कार्य निश्चित उद्देश्य से प्रेरित होते हैं और स्वयं के लाभ या संतोष के लिये होते हैं। राज्य का निर्माण भी एक ऐसा ही कार्य है इसलिये राज्य का अस्तित्व इस उपयोगिता पर आधारित है कि वह व्यक्ति को जीवन, संपत्ति और स्वतंत्रता की सुरक्षा दे सके। यदि व्यक्ति को प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा नहीं मिलती तो उसे समाज के बन्धन स्वीकार करने में हानि ही होगी, लाभ नहीं। हाब्स की तरह लॉक का उपयोगितावाद शासन की स्थापना तक ही सीमित नहीं है और न सुरक्षा की उपयोगिता के लिये व्यक्तित्व का बलिदान करता है बल्कि शासन का अस्तित्व और कार्यक्षेत्र व्यक्ति के उन्नत जीवन की उपयोगिता से सीमित है। राज्य की उपयोगिता का सबसे बड़ा आधार यह है कि अनुपयोगी हो जाने से उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

संप्रभुता—लॉक का सिद्धात लिखित तत्वो के कारण जितना महत्वपूर्ण है उतना ही महत्पूर्ण उन तत्वो के लिये भी है जिनका उल्लेख ही नही किया गया। सबसे प्रधान विचार, जिसको लॉक ने कोई स्थान नही दिया, राजसत्ता है। संपूर्ण और अविभाज्य सत्ता से लॉक का विरोध इतना अधिक था कि उसके राज्य मे कोई ऐसी शक्ति ही नही है जिसे सप्रभु कहकर सबोधित किया जा सके। लॉक और शक्तिहीन क्राति का विरोध राजतत्र से या राजा से नही था बल्कि निरकुश सत्ता से ही था ; इसलिये किसी भी प्रकार की सपूर्ण शक्ति को लॉक के सिद्धात मे कोई स्थान नहीं है। मेक्सी का कहना है कि "राजनीतिक शक्ति को गौरवान्वित करना उसका कार्य नही था, वरन उसकी सीमाये दर्शाना।" परिणाम स्वरूप लॉक का दर्शन अनुबध का दर्शन न होकर प्रतिबन्धो का दर्शन है। प्रतिबधो का ऐसा जाल लॉक ने बिछाया कि कोई शक्ति सपूर्ण नही रह गई। संप्रभुता का अर्थ यदि किसी सपूर्ण और सर्वोच्च शक्तिवाले मानव अधिकारी से है तो लॉक के सिद्धात मे उसका कोई अस्तित्व नहीं। राज्य मे यदि कोई अभेद्य शक्ति है तो प्राकृतिक विधि। राज्य का ताना-बाना इन्ही नियमो के आसपास बिना गया है। यह प्राकृतिक विधि राज्य की सभी शक्तियो को सीमित करती है।

राजनीतिक शक्ति को लॉक ने तीन स्तरो मे विभाजित किया और प्रत्येक स्तर पर शक्ति सीमित है। व्यावहारिक रूप मे सबमे पहला सत्ताधारी शासन है। एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत कार्य करने का संपूर्ण अधिकार इस शासन को है। यह सीमा प्राकृतिक विधि के द्वारा ही निर्धारित होती है। जब तक सरकार इस सीमा का उल्लंघन नही करती, अन्याय और अत्याचार नही करती, उसके आदेशो का पालन करना अनिवार्य है। इस आज्ञा पालन मे ही व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो की सुरक्षा है और जब तक शासन अधिकारो का अतिक्रमण या विधियो का उल्लंघन नही करता वह सत्ताधारी है किन्तु यही शासन की सत्ता की सीमा भी है। इस सीमा के बाहर कदम रखने पर शासन केवल अनाधिकार ही नही हो जाता बल्कि समाज के द्वारा बदला जा सकता है। सरकार की शक्ति मौलिक नही है और उसका प्रयोग करने के लिये वह समाज के प्रति उत्तरदायी है। इस प्रकार सत्ता का दूसरा स्तर समाज है जो केवल शासन का निर्माण और परिवर्तन करते समय अपनी शक्तियो का प्रयोग करता है। समाज की शक्तिया दो प्रकार से सीमित है। प्रन्यास के द्वारा समाज ने अपने ही हाथ बाध लिये और जब तक शासक अपनी सीमा मे प्राकृतिक विधि के अनुकूल कार्य कर रहा है ; समाज किसी शक्ति का प्रयोग नही कर सकता। दूसरी सीमा यह है कि समाज को अपने अधिकार समझौते के द्वारा मिले और समझौते से संपूर्ण अधिकारो का समर्थन नही हुआ। व्यक्ति ने समाज को सीमित अधिकार ही सौंपे है इसलिये समाज को व्यक्ति पर केवल सीमित शक्ति ही

हो सकती है। समाज सुपुप्त भले ही हो उसकी अवहेलना नही की जा सकती क्योंकि वह राज्य और व्यक्ति के बीच की अनिवार्य कड़ी है। व्यक्ति ने अपने अधिकार समाज को समर्पित किये इसलिये जब तक व्यक्ति अपने अधिकार वापिस नही ले लेता समाज ही प्रभू है। शासन भग होते ही लोग प्राकृतिक अवस्था को वापिस नही पहुँचते और उन्हे अपने अधिकार वापिस नही मिलते। यह अधिकार समाज के पास वापिस आते है और समाज पुन: नये प्रन्यास की स्थापना कर देता है। सप्रभुता का तीसरा स्तर व्यक्ति स्वय है, जिसमे सप्रभुता का कुछ अंश निहित है। मौलिक रूप से सभी शक्तिया व्यक्ति की है किन्तु एक अनुबंध के द्वारा उसने अपनी कुछ शक्तियां हस्तातरित कर दी और स्वयं शासित बन कर रह गया। शासित होकर भी व्यक्ति दास नही है, न युद्ध के भय से गुलामी करने के लिये बाध्य है। उसे अत्याचार और अनाचार का विरोध करने का अधिकार है। राज्य और समाज का अस्तित्व एक उपयोगिता पर आधारित है, और जिस दिन यह उपयोगिता समाप्त हो जाती है इनमे परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति को मिल जाता है। किन्तु यह सत्ता भी सपूर्ण नही है और सबसे अधिक सीमाये व्यक्ति की स्वेच्छा पर ही लगाई गई है। प्राकृतिक विधि के कारण व्यक्ति को अपने ही ऊपर संपूर्ण शक्ति नही है। शासन के अनाचार से सत्ता पहले समाज को लौटती है और समाज के असफल होने पर ही व्यक्ति को यह अधिकार वापिस मिलते है। इस प्रकार सत्ता विभाजित और सीमित है और सबसे बडी सीमा प्राकृतिक नियम है जो शाश्वत और सपूर्ण है।

क्रांति—व्यक्तिवाद का चरमोत्कर्ष क्रांति का अधिकार है। व्यक्ति स्वतंत्रता की रक्षा इतनी महत्वपूर्ण है कि उसके लिये क्राति भी की जा सकती है। व्यक्ति के अधिकार और हित इतने महत्वपूर्ण है कि राजनीतिक संगठन के लिये उन्हे बलिदान नही किया जा सकता बल्कि इनके लिये राजनीतिक संगठन भले ही बलिदान कर दिया जाय। शासक के अत्याचारो से व्यक्ति को बचाने के लिये लॉक कहता है, "यदि किसी ऐसे विषय पर, जिस पर विधि शात या सदिग्ध है, राजा और जनता मे कोई मतभेद होता है और विषय अधिक महत्वपूर्ण है, तो मैं यह सोचता हूँ कि ऐसे मामले में जनसमूह ही उचित निर्णायक होगा।" शासन यदि अपना कार्य ठीक से नही कर पाता या कोई अनुचित कार्य करता है तो जनता को यह निर्णय करने का भी अधिकार है कि शासन का कार्य उचित है या नही तथा शासन को बदलने का भी अधिकार है। लॉक कहता है, "विधायिनी केवल एक प्रन्यासी शक्ति है एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये ; इसलिये जनता मे उसे भंग करने या बदलने की श्रेष्ठ शक्ति है, जब वे यह देखे कि विधायिनी प्रन्यास के विरुद्ध कार्य कर रही है।" यदि शासन जनता की ...

छीनने की कोशिश करता है या उन्हे सुरक्षा देने के योग्य नही रह जाता तो उसे बदलने का अधिकार समाज को निश्चित रूप से है। शासन मे परिवर्तन किसी भी समय किया जा सकता है यदि वह व्यक्ति के लिये उपयोगी नही रह जाता। यह उपयोगिता केवल एक व्यक्ति के स्वार्थ मे नही वल्कि सपूर्ण समाज के हितो मे निहित है। व्यक्ति के स्वार्थ हाव्स की तुलना मे लॉक के सिद्धात मे अधिक सुरक्षित है। हाव्स जीवन रक्षा के लिये सभी अधिकारों का समर्पण करा देता है किन्तु लॉक अधिकारो की रक्षा के लिये राज्य को भी भग करने का अधिकार प्रदान कर देता है। हाव्स का दर्शन अधिकार समर्पण का दर्शन है, लॉक का दर्शन अधिकार सरक्षण का। वहान (Vaughan) का यह विचार है "व्यक्ति की सप्रभुता वनाये रखने के लिये ही उसके चारो ओर की वस्तुए सजाई गई है।" शासन मे परिवर्तन का अधिकार समाज को है और समाज के असफल होने पर ही व्यक्ति इस अधिकार का प्रयोग कर सकता है किन्तु लॉक ने इस सभावना को अधिक महत्व नही दिया। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शासन भग होने से व्यक्ति को अपने अधिकार वापिस नही मिलते, अत. दो संविदाये होनी चाहिये। प्रन्यास के खडन से दूसरी सविदा टूटती है, पहली नही। लॉक कहता है कि कोई भी चाहे वह विधायक ही क्यो न हो यदि जनता के संपत्ति और स्वतत्रता पर अतिक्रमण करता है तो "समाज को स्वयं को ऐसे कार्यो से बचाने की श्रेष्ठ शक्ति है।"

क्राति की अनेक संभावनाओ का उल्लेख लॉक ने किया है। सबसे पहली संभावना यह है कि विधायिनी शक्ति का स्थान वदल जाय। लॉक ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह १६८८ की ही क्राति का उदाहरण है। यदि राजा विधायिनी के द्वारा वनाये गये कानून के स्थान पर अपनी इच्छा लागू करने का प्रयत्न करता है तो विधायिनी शक्ति के स्थान में परिवर्तन हो जाता है। यदि शासक विधानमंडल को उचित समय पर संगठित होने से रोकता है या उसके कार्यो मे बाधा उपस्थित करता है तो भी विधायिनी का स्थान बदल जाता है, "क्योंकि विधायिनी का अस्तित्व एक निश्चित संख्या के व्यक्तियों मे या उनकी बैठक मे नही है, जब तक कि उन्हे विवाद करने की स्वतत्रता नही है, और समाज की भलाई का निर्णय करने का अवसर नही है।" जब शासक अपनी इच्छा से निर्वाचक मंडल या निर्वाचन के तरीके में परिवर्तन कर देता है तो विधायिनी का स्थान बदल जाता है। राजा या विधानमंडल के द्वारा किसी बाहरी शक्ति के सम्मुख समर्पण कर देने से भी क्रांति का अधिकार मिल जाता है। यदि प्रमुख कार्यपालिका अधिकारी निर्मित विधियों को उचित रूप से कार्यान्वित नही करता तो भी क्रांति की आवश्यकता हो सकती है। विधायक यदि संपत्ति की सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता तो प्रन्यास भंग हो जाता है और शासन मे परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

क्रांति से अधिकार का प्रयोग अत्यंत सतर्कता के साथ करना चाहिये। सबसे पहले अनुचित शासन को शांतिपूर्ण या संवैधानिक तरीकों से बदलना चाहिये। यदि वैधानिक उपाय संभव नहीं या शासक अपना अधिकार बनाये रखने के लिये शक्ति का प्रयोग करता है तो जनता को भी सशस्त्र क्रांति करने का अधिकार है। शासक के द्वारा अनुचित शक्ति का प्रयोग पाशविक है और ऐसी स्थिति में जनता शासक का सशस्त्र विरोध कर सकती है और उसकी हत्या भी कर सकती है। क्रांति शुरू करने से पहले यह निश्चित कर लेना आवश्यक है कि क्रांति करना आवश्यक है, अन्य कोई उपाय नहीं है, और क्रांति उचित उद्देश्य से की जा रही है। लॉक यह निश्चित कर लेना चाहता है कि क्रांति के अधिकार का दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। यह आवश्यक है कि शासन इतना हानिकारक हो गया है कि उसे बदलना ही एकमात्र मार्ग रह गया है और समाज का बहुमत क्रांति चाहता है। यह एक बहुत बड़ी सीमा है जो क्रांति के अधिकार को लुप्तप्राय बना देती है। प्रजातंत्र में तो इस प्रकार की क्रांति अर्थहीन है क्योंकि बहुमत तो हमेशा शासन में संवैधानिक उपायों से परिवर्तन कर सकता है। बहुमत जिस शासन का समर्थन नहीं करता वह अपने-आप समाप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि लॉक केवल एक विशेष क्रांति १६८८ की क्रांति को न्याय-संगत बतलाना चाहता था। वह क्रांति के सिद्धांत का समर्थक नहीं है। क्रांति के ये सभी कारण १६८८ में उपस्थित थे और क्रांति का संचालन बहुमत का प्रतिनिधित्व करनेवाली संसद ही कर रही थी। वास्तविकता यह है कि लॉक १६८८ की क्रांति को न्यायसंगत सिद्ध करना चाहता है किन्तु इसके आगे व्यक्ति की स्वच्छंदता, उच्छृंखलता और अराजकता पर सीमा लगाना चाहता है। अत: वह केवल उन्हीं परिस्थितियों में क्रांति को न्यायसंगत दर्शाता है जो परिस्थितियाँ इङ्गलैंड में थीं। क्रांति और व्यक्ति-वाद का समर्थक होते हुए भी लॉक प्रजातन्त्र का समर्थक पूर्ण रूप से नहीं है। शासन में भी वह उन्हीं विचारों का समर्थन करता है जो इस क्रांति में सर्वमान्य थे। किसी नये विचार की स्थापना लॉक ने नहीं की, इसलिये जार्ज सेबाइन ने लिखा है, "यद्यपि परिस्थितियों ने उसे एक क्रान्ति का समर्थक बना दिया, वह किसी तरह भी उग्रवादी नहीं था।" लॉक का यह विश्वास है कि क्रान्ति में जो परेशानियाँ और संकट मनुष्य को झेलना पड़ते हैं उनके कारण मनुष्य स्वयं क्रान्ति के अधिकार का प्रयोग बहुत कम करता है यद्यपि यह अधिकार उसे स्थाई रूप से प्राप्त है। जब शासन इतना असह्य हो जाता है कि उसके आगे क्रान्ति की कठिनाइयाँ बहुत छोटी दिखने लगती हैं तभी व्यक्ति क्रान्ति करता है। सामान्य रूप से मनुष्यों में शासन का विरोध करने की अपेक्षा उसका

पालन करने की प्रवृत्ति अधिक तीव्र होती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य स्वभाव से परम्पराओं का पोषक और नये परिवर्तन का विरोधी होता है।

क्रान्ति का विचारक होते हुए भी लॉक ने कोई नया दर्शन प्रस्तुत नही किया और यह उसका प्रयोजन भी नही था। इङ्गलैंड की दोनो क्रान्तियो मे एक ही प्रश्न रहा है कि राजा के अधिकार सीमित होना चाहिये अथवा नही। पहली क्रान्ति के बाद हाब्स ने राजा के सपूर्ण अधिकारो का समर्थन किया और क्रान्ति को अनुचित व अनाधिकार दर्शाया। दूसरी क्रान्ति के बाद लॉक ने हाब्स के प्रत्येक विचार का खंडन करना चाहा किन्तु उसमे हाब्स जैसी तार्किक क्षमता नही थी जिसके कारण उसके विचारो मे अनेक दोष और आत्मविरोध पाये जाते है। किन्तु उसके सिद्धात का मूल गुण सरलता है। तार्किक होते हुए भी हाब्स के विचार लॉक के समान सरलता से समझ मे नही आते। यही सरलता लॉक के विचारो की लोकप्रियता का कारण है। इस लोकप्रियता का सबसे बडा कारण है क्रान्ति का समर्थन। आनेवाले वर्षों मे फ्रांस, अमेरिका व अन्य स्थानो पर क्रान्ति करने की ओर उसे न्यायसगत बतलाने की आवश्यकता हुई और उन्हे लॉक के विचारो से प्रेरणा मिली।

तार्किक दृष्टिकोण से उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह कभी किसी निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँच पाता। सीमित सत्ता के वर्णन मे सत्ता के तीन स्तर मानता है और यह निश्चित नही कर पाता कि अतिम शक्ति किसकी है। क्राति के समर्थन मे भी एकाएक इस अधिकार पर अनेक बधन लगा देता है जिनके कारण इस अधिकार के प्रयोग की संभावना बहुत कम रह जाती है। इसी प्रकार अधिकारो के वर्णन से भी लॉक व्यक्तिवाद का समर्थन तो करता है किन्तु प्रजातत्र तक उसका तर्क नही पहुँच पाता। उसके सभी विचार १६८८ की क्रान्ति पर आकर रुक जाते है और इसके आगे जाने की कोशिश वह नही करता।

लॉक ने इस क्रान्ति मे प्रचलित सभी विचारो का समन्वय करना चाहा किन्तु इस कार्य को भी वह पूर्ण रूप से नही निभा सका। ससदात्मक पक्ष मे जितने भी विचार प्रचलित थे उन्हे लॉक ने स्वीकार कर लिया और सकलित कर दिया। उसने यह जानने का प्रयत्न नही किया कि यह विचार सत्य है अथवा नही तथा इनमे पारस्परिक सम्बन्ध क्या है। मध्ययुग और हुकर के माध्यम से इस क्रान्ति मे मानव अधिकारो का प्राकृतिक सिद्धात प्रवेश कर चुका था और लॉक ने भी इस सिद्धात को ग्रहण कर लिया। प्राकृतिक विधि और अधिकार को स्वीकार करते हुए वह यह भूल गया कि राज्य से पूर्व विधि और अधिकार किस प्रकार हो सकते है। यह विधि और अधिकार

केवल नैतिक ही हो सकता है। यह विचार लॉक के दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण अंग है क्योंकि वह पूर्व-राजनीतिक मनुष्य को नैतिक प्राणी मानता है जिसके कारण अधिकार, समाज, राज्य, सभी संस्थाओं का नैतिक अस्तित्व स्थापित हो जाता है। इसी नैतिक दृष्टिकोण के कारण लॉक का उपयोगितावाद हाब्स या बेन्थम की तरह निर्दनीय नहीं दिखता। प्राकृतिक अवस्था का यह चित्रण असत्य भले ही हो किन्तु सिसरो से लेकर हुकर तक अनेक दार्शनिक पीढ़ियां उसके साथ थीं। लॉक का दर्शन पूर्व-घटित काण्ड का समर्थन है किन्तु फिर भी आनेवाले युग को उसने अनेक विचार प्रदान किये। व्यक्ति स्वतंत्रता, सीमित शासन, शक्ति पृथक्करण, धार्मिक सहिष्णुता, सपत्ति के क्षेत्र मे हम लॉक के ऋणी हैं। लॉक का अध्ययन हम सेबाइन के इन शब्दों के साथ समाप्त कर सकते हैं, "उसकी ईमानदारी, गहन नैतिक मान्यता, स्वतंत्रता, मानव अधिकार और मनुष्य के स्वभाव की श्रेष्ठता मे सच्चे विश्वास ने उसकी नेक बुद्धि और उदारता के साथ मिश्रित होकर उसे मध्यवर्गीय क्रान्ति का आदर्श प्रतिनिधि बना दिया।"

—:o:—

अध्याय १४

फ्रांस—स्वतंत्रता की खोज

(Fiance—Search for Liberty)

कुछ समय के लिये हमारा अध्ययन पुन यूरोपीय महाद्वीप पर, विशेष रूप से फ्रास पहुँच जाता है। इङ्गलैण्ड की शक्तिहीन क्राति के करीब सौ वर्ष बाद फ्रांस मे राज्य क्राति हुई। इङ्गलैण्ड की क्रातियों का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव फ्रास पर नही दिखता, कम से कम फ्रास मे कोई महत्वपूर्ण सैद्धांतिक विवाद उत्पन्न नही हुआ यद्यपि इङ्गलैण्ड से भागे हुए राजनीतिक शरणार्थी पेरिस भी आये। १८वी शताब्दी के आरम्भिक वर्षो मे लुई चौदहवे (Louis XIV) के शासन के अंतिम दिनो मे एकतन्त्र की कमजोरियां स्पष्ट होने लगी जिसके परिणामस्वरूप राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ पर विचार शुरू हुआ। क्राति के कुछ वर्षो पूर्व यह अध्ययन इतना महत्वपूर्ण बन गया कि हर श्रेणी के बुद्धिजीवी राजनीतिक समस्याओ पर विचार व्यक्त करने लगे थे।

राजतंत्र की असफलताओ ने फ्रास मे भी सीमित शासन की भावना जागृत की और इङ्गलैण्ड के सिद्धातो ने फ्रास मे प्रवेश किया। राजा के कार्यो को सीमित करने का अधिकार ससद के लिये मागा गया, किन्तु दुर्भाग्यवश फ्रांस की संसद कभी उतनी प्रभावशाली नही हो सकी जितनी इङ्गलैण्ड की संसद पिछली शताब्दी मे थी। फिर भी लॉक के विचार फ्रांस के साहित्य मे प्रवेश कर चुके थे और उनका महत्व बढ रहा था। १७२६ मे फ्रास का मशहूर कवि वाल्टेयर (Voltaire) और कुछ वर्षो बाद मान्टेस्क्यू (Montesquieu) इङ्गलैण्ड गये और वहां की शासन व्यवस्था तथा राजनीतिक विचारों से प्रभावित हुए और सेबाइन के शब्दो में "लॉक का दर्शन फ्रांसीसी जागृति का आधार बन गया और इग्लिश शासन की प्रशंसा फ्रासीसी उदारवाद का मूलमंत्र।" स्वतंत्रता की खोज फ्रास मे शुरू हो चुकी थी और इङ्गलैण्ड से व्यक्ति के प्राकृतिक या मूलभूत अधिकारों का विचार फ्रास आ गया था किन्तु हाब्स और लॉक की तरह यह विचार अनुभववाद और उपयोगितावाद पर आधारित नही था बल्कि विवेक और स्वच्छंदता से प्रेरित था।

१६८६ मे फ्रांस वोर्दो (Bordeaux) मे मान्टेस्क्यू का जन्म हुआ था और २७ वर्ष की आयु मे उस अपने चाचा की उपाधि और संपत्ति का उत्तराधिकार मिला। उसने वकालत की शिक्षा पाई, कुछ समय तक वकालत भी की फिर राजनीतिक पद पर कार्य भी किया। यूरोप के अनेक देशो का उसने भ्रमण किया और इङ्गलैण्ड मे जिस बात ने वह सबसे अधिक प्रभावित हुआ वह थी अंग्रेज नागरिक की स्वतंत्रता। उसका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'दि स्पिरिट आफ दि लॉज' (The Spirit of the Laws) १७४८ मे प्रकाशित हुआ और यह ग्रन्थ करीव १४ वर्ष के निरंतर परिश्रम का परिणाम है। मान्टेस्क्यू के विचार अस्पष्ट, अनिश्चित और अस्थिर है तथा उसने अपने ग्रंथ के विषयक्षेत्र को इतना व्यापक बना दिया कि पुस्तक का मूल उद्देश्य ही प्रायः लुप्त हो जाता है। पुस्तक मे इतने विभिन्न विषयो का उल्लेख किया गया है कि पढते-पढते उसके राजनीतिक उद्देश्य का ध्यान ही नही रहता। किन्तु उसने जो विशाल सामग्री संकलित की है केवल उसके कारण ही यह प्रयास महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ के दो महत्वपूर्ण हिस्से है। पहला राज्य का समाजशास्त्रीय सिद्धात (Sociological Concept of the State), जिसके अतर्गत उसने यह दर्शाना चाहा कि राजनीतिक सगठन पर भौगोलिक वातावरण, प्रजातीय गुण, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियो का भी प्रभाव होता है। दूसरा अंश व्यक्ति स्वातंत्र से संबध रखता है जिसमे स्वतत्रता का महत्व भी दर्शाया गया है और उसकी रक्षा के उपाय भी। पुस्तक मे यह दोनो विचार एक दूसरे से अलग नही है न पुस्तक दो पृथक खंडो मे लिखी गई है। सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि मान्टेस्क्यू दो ऐसे विचारो को साथ लेकर चलता है जिनमे कोई पारस्परिक सबंध नही है। इसके परिणाम स्वरूप मान्टेस्क्यू अपने विचारो मे पूर्णता प्राप्त नही कर सका। एक ओर व्यक्ति स्वतत्रता का विचार उदारवाद और प्रगतिवाद का प्रतीक है तो दूसरी ओर उसका समाजशास्त्र रूढीवाद और प्रतिक्रियावाद का समर्थक है। समाजशास्त्र के अध्ययन मे उसने यह दर्शाया कि भिन्न परिस्थितियों में विभिन्न शासन व्यवस्थायें उचित होती है जिसमे प्रतिक्रियावादियो को हर प्रकार के शासन के समर्थन का अवसर मिल जाता है।

विधि—पुस्तक का नाम ही यह दर्शाता है कि अध्ययन का मूल विषय विधि होना चाहिये। मान्टेस्क्यू विधि की वहुत व्यापक परिभाषा प्रेषित करता है, "वस्तुओं की प्रकृति से उत्पन्न अनिवार्य संबंध" विधि है। यह परिभाषा केवल मानवीय नहीं वल्कि सभी विधियो पर लागू होती है। कोई भी घटना आकस्मिक नही होती वल्कि ईश्वरीय विधान से निर्धारित होती है और यह विधान भी निश्चित है। सिसरो की तरह मान्टेस्क्यू भी इसका आधार विवेक को ही मानता है, 'इस प्रकार एक प्रधान विवेक है;

इसके और अन्य वस्तुओ के बीच प्रचलित सबंध और इन वस्तुओ के पारस्परिक सबंध ही विधि है।" भौतिक जगत जिसमे बुद्धि जैसी कोई चीज नही है कुछ अचूक नियमो से संचालित है। बौद्धिक प्राणी के पास स्वय नियम बनाने की शक्ति है किन्तु फिर भी सभी नियम निर्मित नही होते। मान्टेस्क्यू कुछ प्राकृतिक विधियो को स्वीकार करता है जिन्हे किसी मानवीय अधिकारी ने कभी निर्मित नही किया किन्तु फिर भी उनका पालन सभी करते है। इन नियमो का स्वाभाविक अस्तित्व इसलिये है कि मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार सीमित होने चाहिये। मान्टेस्क्यू कहता है, "यह कहना कि विधि के द्वारा जो आदेश या निषेध किया जाता है उसके अलावा कुछ न्याय या अन्याय नही है, यह कहने के बराबर है कि वृत्त खीचने से पहले सभी त्रिज्याये (Radii) बराबर नही थी।" फिर भी मनुष्य इन प्राकृतिक विधियो का पालन इतनी शुद्धता से नही करता जैसे निर्जीव जगत मे होता है। समकालीन यूरोप मे जो वैज्ञानिक विकास हो रहा था उसका प्रभाव मान्टेस्क्यू पर स्पष्ट है। यहाँ तक कि अन्य प्राणी भी प्राकृतिक विधि का इतना उल्लघन नही करते जितना मनुष्य करता है। मनुष्य और पशु का अतर यही है कि मनुष्य स्वय सोचकर कार्य करता है, इसी मे मानव प्रगति के लाभ और हानियाँ निहित है। पशु मे "हमारी तरह आशाये नही होती, किन्तु वे हमारी आशकाओ से भी स्वतत्र है मनुष्य मे निर्जीव और सजीव का मिश्रण है। निर्जीव वस्तुओ की तरह हम प्राकृतिक विधि से सीमित है तो बुद्धिमान होने के नाते इन विधियो के विपरीत भी जा सकते है। मानव स्वभाव के दो लक्षण उसे प्राकृतिक विधि के विरुद्ध ले जाते है, मनुष्य विचारशील प्राणी होने के नाते गलती कर सकता है और स्वतत्र शक्ति होने के नाते विधि के विरुद्ध कार्य कर सकता है। मनुष्य ईश्वर को न भूल जाये इसलिये धार्मिक विधि का अस्तित्व है, अपने को न भूल जाय इसलिये नैतिक और समाज के अन्य लोगो को न भूल जाय इसलिये सामाजिक और राजनीतिक विधि है। मान्टेस्क्यू ने चार प्राकृतिक विधियाँ स्वीकार की है जो मानव स्वभाव के विश्लेषण पर आधारित है। प्राकृतिक अवस्था की पहली आवश्यकता सुरक्षा है। हाब्स की तरह मान्टेस्क्यू भय को तो स्वीकार करता है किन्तु शक्तियो की समानता और निरतर युद्ध की आवस्था को स्वीकार नही करता। उसका तर्क यह है कि भय के कारण हर मनुष्य अपने को असहाय पाता है, अतः पहला प्राकृतिक नियम शान्ति है। दूसरा नियम सतोष है, अपनी मौलिक आवश्यकताओ की पूर्ति, तीसरी विधि परिवार की स्थापना की ओर ले जाती है और चौथी विधि समाज का निर्माण करती है।

समाज मे प्रवेश करने से मनुष्य को नये नियमो की आवश्यकता होती है और विधियो का निर्माण शुरू होता है। 'जैसे ही मनुष्य सामाजिक अवस्था मे प्रवेश करता

है, वह अपनी कमजोरी त्याग देता है , समानता पहले युद्ध को समाप्त और फिर शुरू करती है ।" मान्टेस्क्यू का अर्थ यह है कि समाज मे सभी व्यक्ति समान है क्योकि समाज के संरक्षण मे मृत्यु का भय नही रह जाता, इसलिये मनुष्य अपने-आप को असहाय नही समझता । समाज मे पहले शाति की स्थापना की जाती है जिससे युद्ध की अवस्था समाप्त हो जाती है किन्तु युद्ध एक नये रूप मे शुरू होता है, सगठित समाजों और राज्यो का युद्ध । ऐसी अवस्था मे तीन प्रकार की निर्मित विधियाँ आवश्यक हो जाती है । अंतर्राष्ट्रीय विधि जो राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को सीमित करती है ; राजनीतिक विधि जो शासक और शासित के सम्बन्ध नियंत्रित करती है , अत मे नागरिक विधि (Civil Law) जो समाज के विभिन्न सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करती है । राजनीतिक विधि से मान्टेस्क्यू का तात्पर्य सवैधानिक नियमो से है । विधि मानवीय विवेक की अभिव्यक्ति है और किसी राज्य की राजनीतिक और नागरिक विधि उसे देश के निवासियो के विवेक की अभिव्यक्ति है । नागरिक विधि समस्त नागरिको की इच्छाओ का सम्मिलन है । विधि राज्य के शासन, जलवायु, भूमि सामाजिक वातावरण और निवासियो के मुख्य धधे के अनुकूल होती है। विधि का सम्बन्ध नागरिको की स्वतत्रता, सपत्ति, सख्या, धर्म, व्यवसाय और रीति-रिवाजो से होता है । विधि का यह अध्ययन समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से किया गया है और इसी को मान्टेस्क्यू 'विधि की भावना' (The Spirit of the Laws) कहता है । मान्टेस्क्यू के विस्तृत भ्रमण का यह परिणाम हुआ कि उसने विभिन्न देशों मे अलग-अलग कानून प्रचलित देखे और इस भिन्नता का आधार भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियो मे खोजना चाहा ।

शासनों का वर्गीकरण--विधि का अध्ययन मान्टेस्क्यू को शासन व्यवस्थाओं के वर्गीकरण पर ले आता है । हर सगठित समाज मे शासन का होना अनिवार्य है और विभिन्न समाजो मे शासन का स्वरूप अलग-अलग होता है । अरस्तू की तरह मान्टेस्क्यू भी यह मानता है कि किसी समाज की शासन व्यवस्था सदस्यो के विचारो और भावनाओं का परिणाम होती है । "वह शासन प्रकृति के अधिक अनुकूल है जो जनता की बुद्धि और प्रकृति से अधिकतम सहमत है ।" वह तीन प्रकार की शासन व्यवस्थाओं का वर्णन करता है—गणतंत्र, राजतंत्र और अत्याचारतंत्र । यह वर्गीकरण सभी प्राचीन विचारो से भिन्न है और राज्यो के विकृतरूप का भी अस्तित्व अलग से स्वीकार नही किया गया । विकृत राज्यो मे वह केवल अत्याचारतंत्र का वर्णन करता है । गणतन्त्र वह शासन है जिसमे अधिकार संपूर्ण समाज मे या उसके किसी हिस्से मे रहता है । इस आधार पर गणतंत्र के दो वर्ग हो जाते है—प्रजातंत्र और कुलीनतंत्र । राजतन्त्र एक व्यक्ति का शासन है जो निश्चित नियमों के अनुसार शासन करता है और

अत्याचारतंत्र (Despotism) एक व्यक्ति का शासन जो विधि के द्वारा नही बल्कि शासक की स्वेच्छा से संचालित होता है। शासन व्यवस्थाओं का यह विभाजन किसी निश्चित सिद्धात पर आधारित नही दिखता क्योंकि एक ओर प्रजातंत्र और कुलीनतंत्र या एक ही साथ मिला दिये गये है तो राजतंत्र और अत्याचारतंत्र मे भेद शासन के गुणो का है। मान्टेस्क्यू इस संभावना को नही देख सका कि कुलीनतंत्र और प्रजातत्र मे भी अन्याय हो सकता है। मान्टेस्क्यू ने शासन की प्रकृति और सिद्धात (आधार) का अलग-अलग वर्णन किया है। शासन की प्रकृति का तात्पर्य सरकार के सगठन से है; शासन कितने व्यक्तियो के द्वारा चलाया जाता है, शासन का सैद्धातिक आधार वे मानवीय गुण है जो उसे गति प्रदान करते है। प्रजातत्र का आधार नागरिक सद्गुण (Civic Virtue) है। नागरिक सद्गुण के बिना प्रजातंत्र की स्थापना और सचालन करना सभव नही। मान्टेस्क्यू इङ्गलैड की क्रातियो का उल्लेख करते हुए कहता है कि क्राति संपन्न हो जाने के बाद भी न तो शासन स्थायी हो सका न राजतंत्र का अत हो सका और राजतंत्र के पुर्नस्थापन की आवश्यकता हुई। इसका कारण यही है कि वहां के नागरिको मे सद्गुणो का अभाव था। राजतत्र मे यदि शासक पथभ्रष्ट हो जाता है तो उस एक आदमी को सुधारना सरल है किन्तु प्रजातंत्र के भ्रष्ट हो जाने से राज्य की आत्मा ही नष्ट हो जाती है। प्रजातत्रीय सद्गुणो का सबसे अच्छा उदाहरण पेरिक्लीज युग का एथेन्स है जब कि वहा के थोड़े से निवासियो ने अनेक शक्तिशाली आक्रमणो से अपनी रक्षा की। समाज से सद्गुण समाप्त हो जाने पर लोगो मे आकाक्षा और स्वार्थ प्रवेश कर लेते हैं और शासन कमजोर पड जाता है। यही कारण है कि वही एथेन्स बाद मे परास्त हो गया और यश जिसका नाम एथेन्स था समाप्त हो गया।

कुलीनतत्र का सैद्धातिक आधार सद्गुण और उदारता (Moderation) है। दोनो शासन गणतंत्र के ही स्वरूप होने के कारण, इनमे समान लक्षण स्वाभाविक है। कुलीनतंत्र में ये सद्गुण संपूर्ण समूह मे नही बल्कि केवल शासको मे रहता है किन्तु अपने-आप को स्वार्थी और अत्याचारी बनने से रोकने के लिये इन शासको मे उदारता होना भी आवश्यक है। राजतत्र मे सद्गुण आवश्यक नही है, शासक मे सद्गुण हो सकते है किन्तु प्रजा मे संभव नही। सद्गुण का स्थान विधि ले लेती है। शासन का सैद्धातिक आधार सम्मान है और आकाक्षा जो गणतंत्र के लिये हानिकारक है राजतंत्र मे उपयोगी है। मान्टेस्क्यू मानता है कि यश और प्रशसा के बदले मनुष्य से बड़े से बड़े कार्य कराये जा सकते है। हर मनुष्य सम्मान प्राप्त करने के लिये सामाजिक हितो के लिये स्वत. कार्य करता है। "सम्मान राजनीतिक सावयव के सभी अंगो को क्रियाशील बना देता है, और अपने ही कार्य से उन्हे सगठित

भी कर देता है ; इस प्रकार हर व्यक्ति सामाजिक हितो मे वृद्धि करता है, जब कि वह केवल अपने हितों के बारे मे ही सोचता है।" अत्याचारतंत्र का आधार भय है क्योंकि इस व्यवस्था मे "सद्गुण के लिये कोई स्थान नही और सम्मान अत्यंत हानिकारक होगा।" यह आवश्यक है कि शासक की शक्ति का भय हमेशा बना रहे क्योंकि भय की मात्रा मे कमी होते ही शासक का विरोध शुरू हो जायगा। सामान्य लोगों का जीवन सुरक्षित होना चाहिये तथा प्रजा के कार्यो का निर्णय विधि के अनुसार होना चाहिये तथा सामंतो और नेताओ को अधिक भयभीत रखना चाहिये। शासक को धार्मिक नियमो का विरोध नही करना चाहिये क्योकि किसी भी आदेश से व्यक्ति धार्मिक नियमों का खडन स्वीकार नही करता। मनुष्य इस जीवन मे दुख सहना सरल समझता है किन्तु अगले जीवन मे ईश्वरीय दंड से बचना चाहता है। ईश्वरीय दड के भय के सामने अत्याचारी शासक का भय कम महत्व रखता है। विभिन्न व्यवस्थाओ के यह सैद्धातिक आधार उनमे हमेशा उपस्थित नही रहते बल्कि मान्टेस्क्यू केवल यह कहता है कि कोई भी शासन अपने आधार के बिना अपूर्ण ही रहेगा।

हर शासन व्यवस्था मे विधि का स्वरूप भी अलग होगा। प्रजातत्र मे समानता और संयम (temperance) को अधिक महत्व दिया जाता है इसलिये विधि के द्वारा आर्थिक विषमताओ को सीमित रखना चाहिये। आर्थिक समानता आवश्यक नही है किन्तु अधिक असमानता हानिकारक है। कुलीनतत्र मे विधि के द्वारा कुलीन और सामान्य वर्ग के सम्बन्धो को उदार बनाने की कोशिश करनी चाहिये। राजतत्र मे कानून सामत और जागीरदार वर्गो की संपत्ति और सम्मान के अनुकूल होना चाहिये। प्रजा को व्यापार की स्वतत्रता होनी चाहिये। अत्याचारतत्र मे विधि का कोई अस्तित्व ही नही है; विधि का प्रयोग केवल दमन के लिये होता है। मान्टेस्क्यू ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक इस बात का वर्णन किया है कि किसी विशेष शासन की विधियां किस प्रकार होनी चाहिये तथा व्यापार, सपत्ति, सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्ध किस प्रकार नियत्रित और निर्देशित होने चाहियें।

राजनीतिक स्वतंत्रता : शक्ति पृथक्करण—मान्टेस्क्यू के दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण अंश स्वतत्रता की खोज है जो उसे शक्ति पृथक्करण के सिद्धात की ओर ले जाती है। शासन मे विधायनी, कार्यकारिणी और न्यायपालक शक्तियो का अस्तित्व अरस्तू के समय से स्वीकृत था और इंगलैंड की क्राति के दर्शन में तथा विशेषरूप से लॉक के सिद्धान्त मे तीन शक्तियो का स्पष्ट वर्णन मिलता है किन्तु मान्टेस्क्यू का स्थान इस संबंध मे अद्वितीय है। इसका कारण यह है कि उसने इन शक्तियो के निश्चित

पृथक्करण का सिद्धान्त स्वीकार किया और व्यक्ति स्वतंत्रता के लिये यह पृथक्करण आवश्यक माना। जो अट्ठारह महीने मान्टेस्क्यू ने इगलैड मे विताये उनमें उसने इगलैड की संवैधानिक व्यवस्था को जानने की कोशिश की और वह सबसे अधिक अंग्रेजो की स्वतत्रता से प्रभावित हुआ। यह एक ऐसा गुण था जिससे फ्रास के निवासी वचित थे और जो किसी जाति के उत्थान के लिये आवश्यक था। मान्टेस्क्यू यह स्वीकार करता है कि इस शब्द के अनेक अर्थ लिये जाते हैं किन्तु स्वतंत्रता का अर्थ बधनहीन अवस्था से नही है बल्कि उस कार्य को करने से है जिसकी आज्ञा विधि देती है। यदि मनुष्य को विधि के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार दे दिया जाय तो किसी व्यक्ति की स्वतत्रता सुरक्षित नहीं रह जायगी। स्वतत्रता नम्र शासन मे ही प्राप्त हो सकती है किन्तु वहा भी पूर्ण से नही। व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग न हो किन्तु यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह शक्ति का दुरुपयोग करता है। इसलिये मान्टेस्क्यू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि शक्ति का दुरुपयोग रोकने के लिये यह आवश्यक है कि एक शक्ति को दूसरी शक्ति रोके। स्वतत्रता को रक्षा के लिये प्रधान मार्ग यह है कि नागरिक को "कोई ऐसा कार्य करने के लिये बाध्य न किया जाय जो विधि के अनुसार आवश्यक नही है, तथा ऐसा कार्य करने से रोका न जाय जिसकी अनुमति विधि देती है।"

हर शासन का एक निश्चित उद्देश्य मान्टेस्क्यू ने माना है और इतिहास मे अनेक राज्यो के उदाहरण दिये किन्तु एक राज्य ऐसा है जिसका उद्देश्य ही स्वतत्रता है। यह राज्य इंगलैड था और स्वतत्रता की खोज मे मान्टेस्क्यू इगलैड के शासन का विश्लेषण करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इगलैड मे नागरिको को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है क्योकि वहाँ शासक के किसी अग का अधिकार सम्पूर्ण नही है। हर शक्ति सीमित है, राजा, ससद और न्यायाधीश कोई अपनी मनमानी नही कर सकता। शक्तियो का विभाजन न होने से फ्रास का शासक बहुत शक्तिशाली था और वहा के निवासियों की स्वतत्रता सुरक्षित नही थी। इसलिये मान्टेस्क्यू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है, "जब विधायिनी और कार्यकारिणी शक्तिया एक ही व्यक्ति मे अथवा एक ही समिति मे केन्द्रित रहती है तो स्वतत्रता नही रह सकती, क्योकि यह भय उत्पन्न हो सकता है कि वही राजा या समिति अत्याचारी विधि का निर्माण करे, उन्हे अत्याचारी तरीको से कार्यान्वित करे।

"पुनः, यदि न्यायपालिका को विधायिनी और कार्यकारिणी से पृथक नही किया गया तो स्वतत्रता नही हो सकती। यदि उसे विधायिनी के साथ जोड दिया गया तो प्रजा का जीवन और स्वातन्त्र्य निरंकुश नियत्रण के संकट मे होगे, क्योकि विधायक

ही न्यायाधीश होगा। यदि उसे कार्यकारिणी के साथ जोड दिया गया तो न्यायाधीश हिसा और दमन का व्यवहार कर सकता है।"

स्वतंत्रता की रक्षा के लिये शासको की संख्या का कोई महत्व नही है क्योंकि प्रजा की किसी परिषद मे यदि यह तीनों शक्तियां निहित हैं तो सभी अधिकारो का अंत हो जाता है। मान्टेस्क्यू उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहता है कि इटली के गणतंत्र मे तीनों शक्तियों का केन्द्रीयकरण होने से लोगों को अधिक स्वतंत्रता नहीं है इसकी तुलना मे अन्य राजतंत्रों मे अधिक स्वतंत्रता है।

यह स्पष्ट है कि मान्टेस्क्यू को इग्लिश संविधान के संबंध मे कुछ भ्रम था। शक्तियो का विभाजन जिस रूप मे मान्टेस्क्यू ने दर्शाया और आज जिस रूप मे प्रचलित है इंगलैड के सविधान मे कभी नही रहा। मान्टेस्क्यू के विचारो का दूसरा हिस्सा अधिक उचित है कि शासन की प्रत्येक शक्ति हर दूसरी शक्ति को सीमित करे और उनके द्वारा सीमित हो। इङ्गलैड की दोनो क्रातियो का यही उद्देश्य था और सवैधानिक राजतत्र मे राजा के अधिकारो को संसद के द्वारा सीमित करने का प्रयास किया जा रहा था तथा न्यायाधीश की स्वतत्रता का भी उल्लेख किया जाने लगा था। राजा और ससद तथा राजा और सामान्य विधि के न्यायालयो मे शक्तियो का संतुलन बनाने का प्रयत्न किया जा रहा था और क्राति में हर शक्ति को सीमित व नियंत्रित बनाने का प्रचार किया गया। हेरिग्टन और लॉक ने शक्तियों को सीमित बतलाने का सैद्धांतिक प्रचार किया था। इस समय तक कार्यकारिणी के रूप मे मत्रिमडल की स्थिति स्पष्ट नही हुई थी इसलिये मान्टेस्क्यू भी कार्यकारिणी शक्तिया राजा को ही प्रदान करने का समर्थन करता है ससद सदस्यो की किसी सीमित को नही। ब्रिटिश पद्धति के प्रभाव में वह इस बात का भी समर्थन करता है कि विधानमंडल की बैठक कार्यपालिका के द्वारा आमंत्रित होनी चाहिये और कार्यकारिणी को किसी भी विधि को निषेध (veto) करने का अधिकार होना चाहिये। यह एक ऐसा अधिकार है जिसका समर्थन वर्तमान प्रजातंत्र के समर्थक नही कर सकते।

ब्लेकस्टोन के माध्यम से मान्टेस्क्यू का यह सिद्धांत संयुक्त-राज्य अमेरिका पहुँचा और वहा के सविधान मे अपना लिया गया। समकालीन यूरोप की राजनीति और विचारधारा पर उसका कोई विशेष प्रभाव नही हुआ यद्यपि उसकी पुस्तक बहुत लोकप्रिय हुई और दो वर्ष मे ही इसके बाइस संस्करण प्रकाशित हुए। फ्रास में यद्यपि स्वतंत्रता की भावना जागृत हो गई थी और लोग स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते थे किन्तु मान्टेस्क्यू के विचार स्वतंत्रता का विश्लेषण ही कर सके, प्रेरणा नही दे सके। अंत मे, सभी शासन व्यवस्थाये न्यायसगत है यदि वे अपने वातावरण के अनुकूल हों।

आनेवाले वर्षो मे फ्रास मे स्वतंत्रता की भावना राजतंत्र की विरोधी बन गई इसलिये मान्टेस्क्यू के विचार अधिक प्रभावशाली नही हो सके।

मान्टेस्क्यू का समकालीन वाल्तेयर व्यावहारिक राजनीति को प्रभावित करने मे अधिक सफल हुआ। वाल्तेयर भी उन्ही वर्षो मे इङ्गलैंड मे था जब मान्टेस्क्यू वहा गया किन्तु दोनों विचारकों ने अलग-अलग प्रभाव ग्रहण किये। वाल्तेयर के लिये शासन पद्धति अधिक महत्वपूर्ण नही थी बल्कि इङ्गलैंड के नागरिको को जो विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्राप्त थी उसका महत्व अधिक था। फ्रांस मे लुई चौदहवे के दमनकारी शासन काल मे राजनीतिक और धार्मिक विचारो के प्रकाशन पर कठोर प्रतिबन्ध लगाये गये, जिसके विरुद्ध आवाज उठाने वालो मे वाल्तेयर का स्थान प्रमुख था। उसका मूल क्षेत्र राजनीति नही था और वह किसी भी अर्थ मे जनतत्र का समर्थन नही था किन्तु धार्मिक स्वतंत्रता के माध्यम से उसने विचारो की स्वतंत्रता का समर्थन किया। उसने समकालीन फ्रास की विधियो का विरोध किया। इस कारण से ही फ्रांस की राज्य क्राति पर वाल्तेयर का प्रभाव हुआ। धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन करने के लिये वाल्तेयर ने भी फ्रास मे लॉक के विचारो का समर्थन किया।

कारण उसके जीवन में स्नेह की भी कमी रही। परिवार की आर्थिक स्थिति के कारण उसे छोटी आयु में ही श्रम करना पड़ा किन्तु उसे किसी नौकरी से संतोष नही मिला और जीविका की खोज मे वह मातृभूमि छोड़कर भटकते हुए पेरिस पहुँच गया जहां उसका जीवन पतन के गर्त मे पहुंच गया किन्तु ऐसी स्थिति मे भी रूसो ने अपने विचारों की पवित्रता और श्रेष्ठता बनाये रहा। रूसो विभक्त व्यक्तित्व का ज्वलंत उदाहरण है। अपने जीवन में पतन और अभाव के अनुभव के बावजूद भी उसके विचार श्रेष्ठता की ओर ही बढ़ते गये। जीवन से असतुष्ट होकर और समाज से तिरस्कार पाकर भी उसने मानव स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया है। रूसो ने अपनी "आत्मकथा" (Confessions) में लिखा है, "मेरी रुचि और विचार हमेशा पुनीत और पतित के बीच डोलते प्रतीत होते थे।" जीवन के सारे निम्न विचारो की अभिव्यक्ति उसने अपने जीवन और वातावरण मे पाई, बचे हुए पुनीत और सुन्दर विचारों का वर्णन करने के लिये उसने दर्शन का सहारा लिया। जो वह अपने जीवन मे नही पा सका उसकी स्थापना उसने अपनी कल्पना से की। रोमां रोलाँ (Romain Rolland) ने बहुत ही सुन्दर शब्दो में इसका चित्रण किया है, "मातृहीन बालक, १० वर्ष की उम्र मे अपने पिता के द्वारा त्यागा हुआ, जीवन मे असगत, जीवन से भागकर अपने स्वप्नो मे शरण पा गया।"

१७४९ मे दि जान अकादमी ने एक लेख प्रतियोगिता की घोषणा की जिसका विषय था 'कला और विज्ञान के पुनर्स्थापिन ने नैतिकता को शुद्ध करने मे सहायता दी है अथवा भ्रष्ट करने मे।' यह रूसो के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना है जिसने उसके जीवन की धारा मोड़ दी। एक दिन रूसो अपने मित्र दिदरो (Diderot) से मिलने जा रहा था जो इस समय बंदी गृह मे था। गर्मी बहुत थी और रास्ता भी लम्बा था। अपनी गति को कम करने के लिये उसने एक साहित्यिक पत्रिका के पन्ने पलटना शुरू किया, जिसमे उसे इस प्रतियोगिता का विज्ञापन मिला। रूसो लिखता है कि एकाएक उसे 'प्रकाश की हजारो किरणो' का आभास हुआ और अगणित सक्रिय विचार उसके मस्तिष्क मे छा गये। एक पेड़ के नीचे बैठकर उसने इस विषय पर विचार करते हुए कुछ समय विचारों की उत्तेजना (Delirium) मे बिताया और जब उसे होश आया उसकी जैकेट का सामने का हिस्सा आँसुओं से भीग चुका था। वह लिखता है, "उस अवसर पर मैं दूसरा व्यक्ति था और मै दूसरी दुनिया में खो गया था।"

इस विषय पर लिखने में रूसो की उन्मुक्त प्रतिभा को व्यक्त होने का अत्यंत सुन्दर अवसर मिला। उसने यह दर्शाया कि प्राकृतिक मनुष्य जो अपनी भावनाओ से प्रेरित होकर कार्य करता था, एक सहृदय प्राणी था किन्तु विभिन्न कलाओं और विज्ञान के ज्ञान ने उसे स्वार्थी बना दिया। समकालीन समाज की यह शक्तिशाली आलोचना

थी। रूसो ने उन्मुक्तवाद कैसे ग्रहण किया इसका वर्णन भी वह 'कन्फेशन्स' में करता है। उसके पिता उसे उन्मुक्तवादी और साहसी कहानिया पढाया करते थे जिसके कारण उसने "केवल पढ़ने और समझने की विशाल क्षमता ही ग्रहण नही की" बल्कि यह लिखता है, "मै समझता कुछ नही था, मै हर चीज महसूस करता था" और इसके परिणाम स्वरूप "मुझमे बुद्धि का एक विशेष लक्षण निर्मित हो गया और मुझे जीवन के आश्चर्य-जनक और रोमाचकारी प्रतिबिम्ब दिये जिन्हे अनुभव और मनन भी नही सुधार सका।" इस निबध से रूसो ने सभ्य और शिक्षित समाज मे तहलका मचा दिया। स्पर्धा मे उसका लेख पुरस्कृत किया गया और उसे दर्शन की प्रेरणा मिली। १७५४ मे उसका दूसरा निबध प्रकाशित हुआ जिसका विषय था "असमानता की उत्पत्ति क्या है" जिसमे उसने सपत्ति को असमानता का कारण बतलाया। १७६२ मे "कान्ट्रैक्ट सोशल" (Contract-Social) और "एमिली" (Emile) दोनो प्रकाशित हुई—पहला ग्रन्थ राजनीति पर और दूसरा शिक्षा पर लिखा गया है। इन पुस्तको को तुरन्त प्रतिबंधित घोषित कर दिया गया और दड के भय से उसे फ्रास छोड़ना पड़ा। वह जिनीवा गया किन्तु वहा भी उसकी रचनाये जलाई गई और इङ्गलैड के दार्शनिक डेविड ह्यूम के साथ वह इङ्गलैड चला गया। १७६७ मे वह फ्रास वापिस आ गया किन्तु उसका मस्तिष्क विकृत हो चुका था यद्यपि उसकी लेखनी चलती रही। दस वर्ष बाद उसका जीवन समाप्त हो गया।

व्यक्ति और समाज—राजदर्शन मे रूसो का ध्येय हाब्स और लॉक द्वारा प्रचारित उस व्यक्तिवाद का खडन करना था जिसने समाज को एक उपयोगिता की वस्तु बना दिया था—स्वार्थ पूर्ति का साधन मात्र। दूसरी ओर वह समाज के उस रूप का भी विरोध करना चाहता था जिसने पेरिस और फ्रास मे व्यक्ति को पतन के गर्त मे फेक दिया था। उसके आरम्भिक लेख फ्रासीसी समाज पर कटाक्ष थे और ऐसे समाज की तुलना मे स्वच्छन्द समाजहीन जीवन सुन्दर बतलाने का प्रयत्न किया गया। 'कान्ट्रैक्ट सोशल' संपूर्ण राजदर्शन है जिसमे प्रस्तुत समाज के विरोध के साथ ही नये या आदर्श समाज का भी चित्रण किया गया है। रचनाओ की इस भिन्नता के कारण रूसो के प्रारंभिक लेखो और 'कान्ट्रैक्ट सोशल' मे विचारो का परिवर्तन दिखाई देता है और वहान (Vaughan) तो कहते है कि असमानता पर लेख मे घोर व्यक्ति-वाद और 'कान्ट्रैक्ट सोशल' मे घोर समष्टिवाद मिलता है। अपनी आत्मकथा मे रूसो ने यह स्पष्ट किया है कि उसके विचारो मे कोई परिवर्तन नही हुआ और 'कान्ट्रैक्ट सोशल' का हर विचार असमानता पर लेख मे व्यक्त किया जा चुका है। परिवर्तन का यह भ्रम इसलिये होता है कि प्रारंभिक लेखो मे समाज की कटु आलोचना की गई है किन्तु यह आलोचना पूर्ण योजना का एक अंश है। लेखो मे जिनका विषय सीमित

था संपूर्ण दर्शन तो स्पष्ट नही हो सकता था। 'कान्ट्रैक्ट सोशल' में उसका आदर्श-वाद स्पष्ट है और नये समाज की कल्पना उन्हीं आधारो पर की है जो पहले के लेखों में प्रस्तुत किये जा चुके है। एक कारण यह भी है कि रूसो की रचनाओं मे विरोधाभास (Paradox) बहुत अधिक है जिसके कारण उसके उद्देश्य के बारे में भ्रम होने लगता है।

एक ओर पतनशील फ्रांसीसी समाज और दूसरी ओर प्रचलित स्वार्थवाद का विरोध करने के लिये रूसो ने प्लेटो और यूनानी दर्शन का सहारा लिया। यहां पर यह बात उल्लेखनीय है कि फ्रांस मे लॉक के प्रभाव मे उपयोगितावाद प्रवेश कर चुका था और हेल्वेशे (Helvetius) ने सुख-दुख के सिद्धात का समर्थन किया था। इस कारण व्यक्तिवाद स्वार्थवाद की सीमा मे जा पहुँचा था और प्रस्तुत समाज के विरोध मे उसका समर्थन नही किया सकता था ; क्योकि समाज मे स्वार्थी भावनाएँ पहले से ही उपस्थिति थी और वही असमानता और समाज के पतन का कारण थी। समाज और व्यक्ति दोनो को गौरवान्वित करने के लिये रूसो ने प्लेटो के दर्शन से प्रेरणा पाई। मनुष्य एक पृथक इकाई नही है बल्कि सामाजिक सावयव का अग है। अध्ययन की मूल इकाई व्यक्ति नही नागरिक है। नागरिक गौरव का चरमोत्कर्ष समाज मे है। समाज और व्यक्ति की नैतिक कल्पना, समाज का गौरव और राज्य का आदर्शवादी सिद्धात रूसो ने यूनानी दर्शन से ग्रहण किया। पूर्वराजनीतिक जीवन का जो सुन्दर चित्रण रूसो के सिद्धात मे मिलता है वह केवल उसकी शैली की विशेषता है। इस चित्रण से वह केवल इतना दर्शाना चाहता है कि असमानता पर आधारित समाज नैतिक नही है और 'कान्ट्रैक्ट सोशल' मे जाकर यह स्पष्ट हो जाता है कि आदर्श समाज मे स्वतंत्रता और समानता का सुरक्षित रहना आवश्यक है। प्राकृतिक अवस्था के सुन्दर चित्रण से रूसो प्रकृति की ओर वापिस जाने के लिये नही कहता बल्कि स्वतंत्रता और समानता पर आधारित समाज की स्थापना के लिये। समाज के बंधन अटल और अटूट है, तथा प्राकृतिक अवस्था काल्पनिक।

रूसो के सिद्धात मे यूनानी आदर्शवाद और आधुनिक व्यक्तिवाद का समन्वय पाया जाता है। आदर्शवाद से उसने समाज की अनिवार्यता का सिद्धात ग्रहण किया। नैतिक जीवन के लिये समाज आवश्यक है अन्यथा मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था का त्याग करने की आवश्यकता ही क्यों होती। प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भी यही दर्शाता है कि समाज बनने से पहले भी मनुष्य का जीवन सामाजिक था। इसके बावजूद भी रूसो ने समाज के लिये व्यक्ति का त्याग नही किया और लॉक से व्यक्ति-वाद भी ग्रहण किया। यद्यपि रूसो ने लॉक की तरह प्राकृतिक अधिकारों का अस्तित्व

स्वीकार नही किया फिर भी स्वतंत्रता और समानता को मनुष्य का स्वाभाविक सद्गुण माना और उसके सिद्धांत मे व्यक्ति-स्वतंत्रता लॉक से भी अधिक महत्वपूर्ण है। एक नैतिक संस्था के निर्माण के लिये नैतिक सद्गुणो का समर्पण नही किया जा सकता। समाज का गौरव दर्शानेवालो के लिये रूसो ने यह दर्शाया कि समाज के बिना भी नैतिक सद्गुण संभव है और समाज को बधन माननेवालो को उसने यह दर्शाया कि बन्धन होते हुए भी समाज अनिवार्य और नैतिकता के अनुकूल है। समाज और राज्य एक दूसरे मे विलीन हो जाते है। उनमे कोई अतर नही रह जाता। यदि नैतिक इकाई नागरिक है तो नैतिक सगठन राज्य है। इस प्रकार से रूसो के लिये स्वावलंबी और स्वचालित समाज ही आदर्श है। एक छोटा राज्य जिसमे सप्रभुता संपूर्ण समूह मे निहित है और प्रत्यक्ष रूप से इसका प्रयोग होता है, जिसमे राज्य की नैतिकता और व्यक्ति की स्वतत्रता एक साथ रह सकती है, यही समाज की पुर्नस्थापना (Rediscovery of the Community) है।

मानव प्रकृति और प्राकृतिक अवस्था—रूसो के विचारो की अभिव्यक्ति का माध्यम सामाजिक अनुबन्ध है, पुस्तक का नाम 'कान्ट्रेक्ट सोशल' ही इस बात को स्पष्ट कर देता है। प्रारंभिक निबन्धो के विचार आगे बढाने के लिये और उन्मुक्तवाद को अभिव्यक्ति का उचित अवसर देने के लिये सामाजिक समझौते का सहारा लेना ही उचित था यद्यपि इङ्गलैंड मे यह सिद्धात इतना कमजोर पड़ गया था कि समकालीन अंग्रेज दार्शनिक डेविड ह्यूम इस माध्यम से कोई प्रभाव नही डाल सके। प्राकृतिक अवस्था का चित्र रूसो ने लॉक से ग्रहण किया और उसे अधिक आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया किन्तु लॉक की तरह इस अवस्था को तथा सामाजिक समझौते को ऐतिहासिक सत्य नही मानता। यदि लॉक की प्राकृतिक अवस्था सुन्दर जीवन का चित्र है तो रूसो की अवस्था पलायनवादियो का स्वर्ग। रूसो के लिये प्राकृतिक अवस्था केवल नैतिक आवश्यकता है। मानव समानता नैतिक है, मनुष्य के नाते सभी व्यक्ति समान है। इस समानता को दर्शन के लिये प्राकृतिक अवस्था आवश्यक है।

लॉक का मनोविज्ञान रूसो के उन्मुक्तवाद के अनुकूल नही था इसलिये उसे ठुकरा दिया गया। मानव का स्वाभाविक गुण विवेक नही है बल्कि सद्भावना की प्रवृत्ति। प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य स्वार्थी नही था और यह न अवस्था युद्ध की अवस्था थी। पारस्परिक सम्बन्ध, शाति, सहयोग और माधुर्य पर आधारित थे। प्राकृतिक शाति का आधार प्राकृतिक विधि नही है, न मनुष्य के आचरण को किसी नियम से सीमित करने की आवश्यकता है। सहयोग और सद्भावना मनुष्य की प्रवृत्तिया (instincts) है जिस प्रकार भूख और सुरक्षा। दूसरे के दुख मे दुखी होना मनुष्य का

स्वभाव है। प्रकृति ने आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन इतनी प्रचुर मात्रा मे दिये हैं कि उनकी प्राप्ति के लिये स्पर्धा या वैमनस्य उत्पन्न नही होता। जीवन मे कोई अभाव नहीं है बल्कि मनुष्य आवश्यकता आने पर एक दूसरे की सहायता करते है जिसके कारण यह जीवन उन्नतिशील भी है।

पूर्व-सामाजिक जीवन को नैसर्गिक रूप देनेवाली शक्तिया है—स्वतंत्रता और समानता। मनुष्य के नाते सभी व्यक्ति समान थे और एक व्यक्ति को दूसरे को दास बनाने का अधिकार नही था। इन गुणों के कारण ही कोई व्यक्ति किसी पर अन्याय नही कर सकता था। जीवन मे न कोई बन्धन था, न चिन्ता, न उत्तरदायित्व। संक्षेप मे यह अवस्था उन्मुक्तवादी स्वर्ग थी। कला और विज्ञान पर लेख मे ही उसने यह प्रमाणित कर दिया था कि कला, विज्ञान और ज्ञान के अभाव में मनुष्य का स्वभाव सरल होता है किन्तु विवेक के उदय से छल, कपट और स्पर्धा की उत्पत्ति होती है और विभिन्न विज्ञान कलाये स्वार्थ पूर्ति का और दूसरों को नीचा दिखाने का साधन हैं। "विवेक और प्रकृति एक दूसरे के विरोधी है" और "सोचने वाला मनुष्य गिरा हुआ प्राणी है।" पेरिस के सामाजिक जीवन मे उसने यह अनुभव किया कि अपने-आप को श्रेष्ठ, सभ्य और शिक्षित कहनेवाले वर्ग मे आकांक्षा, स्पर्धा और स्वार्थ ही प्रमुख थे जब कि अशिक्षित लोग इतने चालाक नही होते न उनमे धोखा देने की इतनी शक्ति होती है। इसके विपरीत प्राकृतिक अवस्था मे रहनेवाला मनुष्य विनम्र असभ्य (noble savage) है। ज्ञान, कला, विज्ञान इत्यादि सभ्यता के लक्षण उसमे नही है किन्तु फिर भी वह स्वभाव से विनम्र और उदार है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य इस प्राकृतिक अवस्था को त्यागकर सामाजिक बंधनो को क्यो स्वीकार करता है? इस परिवर्तन का एक ही कारण है स्वतंत्रता और समानता का ह्रास। प्राकृतिक अवस्था मे सुख और शाति के दो कारण थे—मानव स्वभाव की विनम्रता और स्वतंत्रता तथा समानता के सद्गुण। विवेक के उदय ने मनुष्य को चालाक और उद्यमी बना दिया और उसने संपत्ति की स्थापना की। विवेक-हीन और ज्ञानहीन मनुष्य को न तो भविष्य की चिन्ता थी, न संपत्ति का लालच। संपत्ति का उदय इस अवस्था के लिये सबसे घातक घटना है। लॉक से संपत्ति के उदय का कारण तो रूसो ने ग्रहण कर लिया किन्तु संपत्ति की अनिवार्यता और महत्व को स्वीकार नही किया। संपत्ति मानव अधिकारो की शिरोमणि नही है बल्कि एक दुर्घटना है। संपत्ति का निर्माण भूमि और श्रम के मिश्रण से ही होता है किन्तु रूसो यह कहता है कि जिस व्यक्ति ने पहली बार भूमि के किसी हिस्से मे अपना श्रम मिलाया और उसे संपत्ति कहा वही मनुष्य के पतन का जिम्मेदार है। मनुष्य इतने सरल हृदय के थे

कि उन्होने इस दावे को स्वीकार कर लिया। असमानता पर लिखित निबंध में रूसो ने यह सिद्ध किया है कि संपत्ति के निर्माण के बाद मनुष्य ने अपनी बौद्धिक शक्तियों के प्रयोग से अपनी संपत्ति बढाने के तरीके खोजे और संपत्ति का विकास असमान हुआ और संपन्न व्यक्तियों ने धनहीन व्यक्तियो पर शासन करना चाहा और समानता तथा स्वतंत्रता दोनों सद्गुण समाप्त हो गये तथा इनके साथ ही प्राकृतिक अवस्था की शांति और आकर्षण का भी अंत हो गया। इस कारण से मनुष्य को समाज की स्थापना करने की आवश्यकता हुई, क्योंकि इतिहास का चक्र विपरीत दिशा मे नही चलाया जा सकता इसलिये प्रारंभिक अवस्था को जाने की कोई संभावना नही थी।

सामाजिक संविदा—असमानता का उदय हो जाने से प्राकृतिक अवस्था का जीवन एकाएक इतना निर्भय हो जाता है कि मनुष्य की सुरक्षा ही संदिग्ध हो जाती है। रूसो यह मान लेता है कि जीवन रक्षा के अनुकूल शक्तियो की तुलना मे प्रतिकूल शक्तियां अधिक बलवान हो जाती है और "यदि मनुष्य जीवन का तरीका नही बदलता तो नष्ट हो जायगा।" नये परिवर्तन का मार्ग खोजना अधिक कठिन नही था। अनेक अग्रेज और यूरोपीय लेखको ने समझौते का सिद्धात जनसाधारण तक पहुँचा दिया था किन्तु समझौते का अंतिम निष्कर्ष समाज की संप्रभुता स्थापित नही की गई थी। लॉक का प्रयत्न भी समाज को केवल सुपुप्त सत्ताधारी ही बना सका इसलिये रूसो ने संविदा को एक नया रूप देने का प्रयास किया। समाज के निर्माण के लिये संविदा के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नही है "क्योंकि मनुष्य नई शक्तियों का निर्माण नहीं कर सकता, बल्कि उपस्थित शक्तियो को केवल संगठित और निर्देशित कर सकता है।" समाज की स्थापना शक्ति से नही हो सकती "क्योकि किसी व्यक्ति को अपने साथियो पर स्वाभाविक शक्ति नही है, और क्योकि शक्ति से अधिकार उत्पन्न नही होते, मानव समाज मे वैधानिक सत्ता का एकमात्र आधार अनुबंध ही रह जाता है।"

'कान्ट्रैक्ट सोशल' का प्रथम वाक्य ही बहुत महत्वपूर्ण है, "मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है, और हर जगह वह बंधनो मे पाया जाता है।" यह वाक्य असमानता पर निबंध का निष्कर्ष है और 'कान्ट्रैक्ट सोशल' का संदेश भी। यह मूल प्रश्न है जो रूसो अपने सामने प्रस्तुत करता है और जिसका उत्तर खोजना चाहता है। रूसो आगे लिखता है, "यह परिवर्तन कैसे आया? मै नही जानता। इसे न्यायसंगत क्या बनाता है? मेरा यह विश्वास है कि इसका समाधान मैं कर सकता हूँ।" सामाजिक अनुबंध ऐतिहासिक सत्य नही रह जाता क्योकि इसका उद्देश्य यह दर्शाना नही है कि परिवर्तन वास्तव मे किस प्रकार हुआ बल्कि यह दर्शाना कि समाज के बंधन न्यायसगत इसलिये है कि मनुष्य ने यह बंधन स्वतः अपनी इच्छा से स्वीकार किये है। इस समस्या का निदान रूसो ने दो

प्रकार से किया है। सर्वप्रथम वह इस विचार को अस्वीकार कर देता है कि समाज के नियम बंधन स्वरूप हैं, इसके अतिरिक्त यह सिद्ध करता है कि इन बंधनो को स्वीकार करके मनुष्य ने कुछ खोया नही पाया है। ऐच्छिक समझौते के द्वारा कोई मनुष्य अपनी स्वतंत्रता का समर्पण नहीं कर सकता, क्योंकि स्वतंत्रता मनुष्य का स्वाभाविक गुण है और "जब मनुष्य अपनी स्वतंत्रता का समर्पण करता है वह अपने मनुष्यत्व को ही त्याग देता है।" रूसो की समस्या थी व्यक्ति-स्वतंत्रता और सामाजिक एकता का समन्वय करना, ..."समुदाय का एक ऐसा स्वरूप खोजना चाहिये जो सामूहिक शक्ति से अपने प्रत्येक सदस्य के शरीर और सपत्ति की रक्षा करे और जिसमें हर व्यक्ति सबके साथ संगठित होकर भी, अपनी ही आज्ञा का पालन करे और पूर्ववत स्वतंत्र बना रहे।" इस उद्देश्य से रूसो ने एक ऐसे समझौते का वर्णन किया जिसमे मनुष्य अपने अधिकार संपूर्ण समाज को समर्पित कर देता है। जैसे अ, ब, स, द अपने सारे अधिकार अ+ब+स+द को सौंप दे। इस समझौते के द्वारा व्यक्ति की समानता और स्वतंत्रता पुनः प्राप्त हो जाती है। हर व्यक्ति ने अपने सारे अधिकार त्याग दिये जिसके कारण उनकी असमानता का अंत हो जाता है और सभी व्यक्ति अधिकारविहीन हो जाते हैं। स्वतंत्रता भी सुरक्षित रहती है क्योंकि हर व्यक्ति ने अपने अधिकार संपूर्ण समाज को समर्पित किये जिसमे वह स्वयं भी शामिल है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत रूप मे जो प्रदान करता है सामूहिक रूप मे उसे प्राप्त भी कर लेता है। इस समझौते के द्वारा मनुष्य कुछ खोता नही है बल्कि पाता है। प्राकृतिक अवस्था के दोनो सद्गुण समाज के संरक्षण मे अधिक निश्चयपूर्वक मिल जाते है। समाज मे प्रवेश करना बन्धन नही है, बल्कि नैतिक जीवन की ओर एक महत्वपूर्ण कदम है। संविदा के बारे मे रूसो स्पष्ट शब्दो मे लिखता है "मनुष्य उस दिन को वरदान स्वरूप मानेगा जिसने उसे हमेशा के लिये प्राचीन अवस्था से छुटकारा दिलाया।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति की ओर वापिस जाने का कोई प्रश्न नही उठता और नैतिक दृष्टिकोण से स्वच्छन्द जीवन की अपेक्षा समाज का जीवन अच्छा है। इस समझौते के द्वारा व्यक्तियों का योग नहीं होता बल्कि एक सावयव एकता स्थापित होती है। सदस्यो का व्यक्तिगत अस्तित्व समष्टि में विलीन हो जाता है।

रूसो का समझौता हाब्स और लॉक के समझौतो का समन्वय है। हाब्स से संपूर्ण समर्पण और लॉक से समाज के प्रति समर्पण का विचार रूसो ने ग्रहण किया। व्यक्ति से उसकी स्वतंत्रता अलग नही की जा सकती। किसी ऐसी संविदा की कल्पना नही की जा सकती जिसके द्वारा व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की दासता स्वीकार कर ले। इस तरह की कल्पना खोखली और स्वतः विरोधी है। यह वास्तव में स्वतंत्रता और

संप्रभुता का समन्वय है क्योंकि मनुष्य संप्रभुता स्वीकार कर लेने के बाद भी स्वतंत्र बना रहता है। हाब्स की तरह रूसो केवल एक ही समझौते को स्वीकार करता है जिससे समाज और राज्य दोनो का निर्माण होता है। यह कहना अधिक उचित होगा कि राजनीतिक समाज की स्थापना होती है। हाब्स के साथ रूसो इस बात से भी सहमत है कि सविदा केवल मनुष्यो को सगठित ही नही करती बल्कि उनकी इच्छाओं का विलीनीकरण भी होता है, किन्तु यह विलीनीकरण किसी एक व्यक्ति की इच्छा मे नही बल्कि संपूर्ण समाज की सार्वजनिक इच्छा मे होता है। समाज एक सावयव है जिसकी स्वयं की इच्छा है। मूल समझौते के लिये सबकी स्पष्ट सहमति अनिवार्य है। अस्पष्ट सहमति को वह स्वीकार नही करता और जो व्यक्ति सविदा मे शामिल नही है वह समाज के सरक्षण की आकाक्षा भी नही कर सकता। राज्य का निर्माण हो जाने के बाद एकमत आवश्यक नही। राज्य का कार्य एक सामान्य इच्छा के द्वारा चलाया जाता है।

रूसो के अनेक विचार यूनानी दर्शन से प्रभावित है किन्तु समझौते का सिद्धात नही। यूनानियो की तरह रूसो भी समाज का नैतिक आधार खोजना चाहता है, समाज और राज्य के अंतर को भूल जाता है और छोटे नगरराज्य का समर्थन करता है। फिर भी वह इस विचार से सहमत नही है कि मनुष्य स्वभाव से राजनीतिक प्राणी है। "सामाजिक व्यवस्था एक नैतिक अधिकार है जो अन्य सभी अधिकारों का आधार है। फिर भी इस अधिकार (समाज) का स्रोत प्रकृति नही है, यह सविदा पर आधारित है।" वास्तविकता यह है कि समकालीन परिस्थिति मे राज्य को स्वाभाविक विकास बतलाने की अपेक्षा, उसे सहमति पर आधारित दर्शाना आवश्यक था। दूसरी ओर शक्ति सिद्धात का खडन भी आवश्यक था जिसके लिये राज्य के नैतिक स्वरूप का सहारा लिया। शक्ति भौतिक होती है और उसका प्रभाव कभी नैतिक नही हो सकता क्योंकि शक्ति से बाध्य होकर जो कार्य किया जाता है वह स्वेच्छा से नही किया जाता, इसलिये उसका नैतिक मूल्यांकन नही होता। मनुष्य शक्ति के भय से आज्ञा का पालन करता है किन्तु इससे न तो अधिकार स्थापित होते है न कर्त्तव्य। "शक्ति को समर्पण मजबूरी का कार्य है, इच्छा का नही। इसे बुद्धिमत्ता के कार्य के अलावा कुछ नहीं कहा जा सकता। इसे किस अर्थ मे कर्त्तव्य कहा जा सकता है?" रूसो यह दर्शाता है कि जो व्यवस्था शक्ति पर आधारित है उसका पालन करना व्यक्ति का कर्त्तव्य नही है। ऐसी व्यवस्था के विरुद्ध क्राति की जा सकती है। "यदि शक्ति ही अधिकार बनाती है, तो कारण में परिवर्तन होने से परिणाम मे परिवर्तन हो जाता है," शक्ति को अधिक शक्ति के प्रयोग से बदला जा सकता है।

समाज, राज्य और शासन—केवल एक संविदा का उल्लेख होने के कारण रूसो के सिद्धांत में भी समाज और राज्य का अंतर नही मिलता। इसी संविदा के द्वारा समाज और राज्य दोनों का निर्माण हो जाता है। रूसो स्वयं इन संस्थाओं में कोई अंतर नही करना चाहता था। राज्य को नैतिक संस्था वतलाने के लिये उसे समाज के अनुरूप मान लेना आवश्यक हो जाता है। इसलिये रूसो की संविदा से एक ऐसे समाज का निर्माण होता है जो स्वतः सप्रभु है, यही समाज ही राज्य है या राजनीतिक समूह (Body Politic) है। सभी शक्तियां संपूर्ण समाज को समर्पित की गई अतः समाज से पृथक किसी राजनीतिक शक्ति का अस्तित्व नही हो सकता। रूसो यूनानी संस्थाओं से इतना सीमित है कि वह नगर-राज्य की कल्पना से आगे नही निकल पाता। फिर भी हाव्स की तरह रूसो इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता कि शासन के विघटन मे मनुष्य प्राकृतिक अवस्था को वापिस हो जाता है। एक वार राज्य की स्थापना हो जाने के बाद उसके भंग हो जाने से का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि राज्य अचूक है, कभी गलती नही करता। गलतिया और परिवर्तन की आवश्यकता शासन मे हो सकती है। रूसो राज्य और शासन मे अतर अवश्य मान लेता है जव कि हाव्स निरंकुश शासन का समर्थन करने के लिये शासन को ही समाज और राज्य का आधार मान लेता है। रूसो राज्य और शासन को अलग मान लेता है जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य की नैतिक अनिवार्यता वनी रहती है। सविदा के द्वारा राज्य की उत्पत्ति होती है शासन की नहीं, और शासन के भग होने से राज्य पर कोई असर नही होता। शासन केवल एक यंत्र है, कर्मचारी है जिसका कोई पृथक अस्तित्व नही। समाज अपने अधिकार शासन को हस्तांतरित नही करता और रूसो को इस वात पर आश्चर्य होता है कि लॉक ने प्रन्यास की आवश्यकता क्यो समझी? समाज अपने हाथ स्वयं क्यों वाध लेती है? रूसो के सिद्धांत में समाज स्वयं अपनी शक्तियो का प्रयोग करता है और विशेप कार्यो के लिये शासन की नियुक्ति कर लेता है। नियुक्ति करनेवाला अधिकारी उस कर्मचारी को सेवामुक्त भी कर सकता है। शासन को वदलने के लिये ऐसे समाज मे क्राति की आवश्यकता भी नही। शासन का यह स्वरूप इसलिये बन सका कि रूसो शासन को केवल कार्यपालिका मानता है। विधायिनी शक्ति समाज मे निहित है और हर व्यक्ति अपने इस अधिकार का प्रयोग स्वयं करता है।

रूसो का आदर्श यूनानी नगर का प्रत्यच प्रजातंत्र है। एक ऐसा समाज जो संगठित होकर कानून वनाता है और उनका पालन कराने के लिये कुछ अधिकारियो और न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। व्यक्ति समाज का कर्मठ सदस्य है, तथा जो अधिकार उसे मिले है उनका प्रयोग वह स्वयं ही करता है। इन अधिकारो का न तो हस्तांतरण हो

सकता है न प्रतिनिधित्व। संप्रभुता या विधि निर्माण का अधिकार हम अपने प्रतिनिधियो को नही दे सकते, क्योंकि कार्यो का प्रतिनिधित्व हो सकता है इच्छा का नहीं। इच्छा व्यक्ति के अंतःकरण की वस्तु है जिसकी अभिव्यक्ति वह स्वय कर सकता है, उसकी ओर से कोई दूसरा नही। प्रतिनिधित्व का सैद्धांतिक आधार ही गलत है। रूसो ने इङ्गलैंड की प्रतिनिधात्मक प्रणाली पर भी आचेप किये है। वह लिखता है, "अग्रेज लोग यह सोचते है कि वे स्वतंत्र है, किन्तु यह विश्वास पूर्ण रूप से गलत है। वे केवल उसी समय स्वतंत्र है जब वे संसद सदस्य चुनते हैं। एक बार चुनाव संपन्न हो जाने पर वे पुनः दासता की अवस्था में आ जाते है।" विधि निर्माण का कार्य संपूर्ण समाज की इच्छा या सार्वजनिक इच्छा से ही हो सकता है। विधि निर्माण एक समान्य कार्य है जो सामान्य शक्ति के द्वारा संपादित होता है और विशेष कार्य विशेष शक्ति या शासन के द्वारा होने चाहिये। समाज के द्वारा शासन को अपनी इच्छा हस्तातरित नही की जा सकती उसे क्रियान्वित करने का अधिकार दिया जा सकता है ; इसीलिये शासन का रूप केवल कार्यकारिणी का है। यही कारण है कि रूसो के सिद्धात मे शासन के विरोध और क्राति का प्रश्न नही उठता। शासन सार्वजनिक इच्छा के आदेश पर चलने वाला एक आयोग (Commission) है जिसे इसी इच्छा के आदेश से बदला जा सकता है। शासन के परिवर्तन से न तो संविदा का खंडन होता है न प्रन्यास का विरोध। इस राज्य के निर्माण मनुष्य को प्राकृतिक अवस्था से अस्थायी और अनिश्चित जीवन से मुक्ति दिलाकर, स्थाई नैतिक जीवन प्रदान किया।

आदर्शवादी होते हुए भी रूसो ने स्वतत्रता की रक्षा का उचित प्रबंध किया है। राज्य एक नैतिक सस्था अवश्य है किन्तु उसे गौरवान्वित करने का प्रयत्न रूसो ने नही किया, न ही नैतिक सस्था की नीव व्यक्ति के अधिकारो की लाश पर बनाई है। राज्य व्यक्ति को दास बना कर उसकी नैतिक उन्नति नही कर सकता बल्कि नैतिकता के विकास के लिये इच्छा की स्वतंत्रता आवश्यक है। राज्य एक सावयव एकता जरूर है किन्तु उसके प्रत्येक अंग मे अपनी इच्छा शक्ति है जिसे उसके व्यक्तित्व से अलग नही किया जा सकता, जिसकी अवहेलना नही की जा सकती।

संप्रभुता—समझौते की तरह संप्रभुता पर भी रूसो के विचार हाब्स और लॉक के विचारो का मिश्रण है। हाब्स ने निरंकुश सत्ता को स्वीकार करते हुए राजतंत्र का समर्थन किया तो लॉक ने सीमित और उत्तरदायी शासन की कल्पना करने के लिये संप्रभुता के सिद्धात को पूर्ण रूप से ठुकरा दिया। रूसो संप्रभुता की श्रेष्ठता और निरंकुशता की रक्षा करते हुए प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहता है इसीलिये उसने संप्रभु समाज की कल्पना की। प्राकृतिक अवस्था मे हर व्यक्ति को अपने ऊपर पूर्ण अधिकार

थे जो किसी नियम से सीमित नही थे ; समझौते के द्वारा इन्हीं अधिकारो का संगठन हुआ, अतः समाज की यह शक्ति संपूर्ण है । व्यक्ति को संप्रभु के आदेश की अवहेलना या विरोध करने का अधिकार नही है, वल्कि व्यक्ति की स्वतंत्रता इसी आज्ञा पालन में निहित है, क्योंकि समाज के आदेश मे हर व्यक्ति की इच्छा छिपी हुई है । सत्ता तथा स्वतंत्रता एक दूसरे की पूरक है ।

संप्रभुता हाब्स की तरह निरंकुश, अविभाज्य, अदेय और सर्वव्यापी है । अधिकारों का संपूर्ण समर्पण होने के कारण सप्रभुता का निरंकुश हो जाना स्वाभाविक है । व्यक्ति के पास कोई अधिकार नहीं वच रहता, सभी शक्तियां संप्रभु समाज मे केन्द्रित हो जाती है । रूसो का मौलिक और अधिक महत्वपूर्ण तर्क सार्वजनिक इच्छा पर आधारित है । संप्रभु सार्वजनिक इच्छा है जिसमे हर व्यक्ति की इच्छा शामिल है ; अतः संप्रभु के आदेश मे हर व्यक्ति की इच्छा व्यक्त होती है । अपनी ही इच्छा का विरोध असंगत है । सप्रभुता अनुत्तरदायी और अत्याचारी नही है क्योकि रूसो कहता है, "राज्य ... अपनी प्रजा पर ऐसे भार नही लाद सकता जो समाज के लिये अनुपयोगी है ।" रूसो का यह विचार अस्पष्ट व भ्रमात्मक है । शायद वह यह कहना चाहता है कि राज्य मे ऐसा कोई नियम कभी नही वनेगा क्योकि उसे सवकी स्वीकृति नही मिलेगी क्योंकि रूसो यह भी स्वीकार करता है कि "संप्रभु ही इस बात का निर्णय कर सकता है कि वह (समाज की भलाई) क्या है ।" रूसो का अर्थ यह है कि समाज के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति ही नही है जो उसे सीमित कर सके और हर विशाल समूह का प्रत्येक निर्णय स्वतः ही सीमित होता है ।

रूसो राजसत्ता को अविभाज्य भी मानता है क्योकि यह शक्ति सार्वजनिक इच्छा मे निहित है और इच्छा का विभाजन नही किया जा सकता । समाज मे वहुमत और अल्पमत हो सकते है किन्तु उनमें से केवल एक ही सामाजिक उन्नति का सही पथ निर्देशित करता है । अविभाज्य मानने का दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति ने अपने सभी अधिकार संपूर्ण समाज को समर्पित किये और समाज दो हिस्सो मे वंटकर कार्य नही करता । समाज एक सावयव सगठन है जिसके टुकड़े नही किये जा सकते । विभिन्न समुदाय एक ही समाज के अंग है ।

संप्रभु शक्ति अदेय अथवा अहस्तातरणीय (non-transferable) भी है । सप्रभुता की स्थापना एक निश्चित समझौते के द्वारा होती है और उसके स्थान परिवर्तन का अर्थ होगा सविदा का खंडन । लॉक ने हाब्स का विरोध करने की उत्तेजना मे इस तर्क को भी भुला दिया और इन शक्तियो का हस्तातरण शासन को कर दिया । रूसो इन अधिकारों का प्रयोग समाज के द्वारा ही चाहता है । संप्रभु ही विधायक है और विधि

निर्माण एक सार्वजनिक कार्य है। रूसो यह मानता है कि सार्वजनिक कार्य सार्वजनिक शक्ति के द्वारा ही किये जाने चाहिये अत. समाज इन्हे किसी विशेष शक्ति को प्रदान नही कर सकता। समाज से अधिक व्यापक कोई दूसरा संगठन सभव नही है। इसके अतिरिक्त संप्रभुता सार्वजनिक इच्छा मे निहित है और इच्छा अदेय है। इच्छा केवल अदेय ही नही है बल्कि उसका प्रतिनिधि भी नही हो सकती। अतः प्रत्यक्ष प्रजातंत्र आवश्यक हो जाता है।

मौलिक अनुबध सब लोगो ने एकमत से किया था इसलिये संप्रभुता का क्षेत्र सर्वव्यापी है। उसके आदेश के पालन से कोई व्यक्ति मुक्त नहीं है। असहमत होने वाला अल्पमत सप्रभु के आदेशो को मानने से इन्कार नही कर सकता क्योकि सार्वजनिक इच्छा मे हर व्यक्ति की इच्छा शामिल है और समाज की भलाई मे हर एक की भलाई है।

अंत मे रूसो का यह विश्वास भी उल्लेखनीय है कि सप्रभु कभी अन्याय नही कर सकता। संप्रभु के द्वारा किसी व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि नहो पहुँचाई जा सकती। सप्रभु की इच्छा मे हर व्यक्ति की इच्छा शामिल है। अत. कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से अपनी हानि कभी नही करेगा। किन्तु इसके बावजूद भी रूसो यह स्वीकार करता है कि सप्रभु अपने ही बनाये कानून को बदलने का भी अधिकार रखता है।

सार्वजनिक इच्छा—सार्वजनिक या सामान्य इच्छा (General Will) का सिद्धात रूसो के दर्शन का निष्कर्ष भी है और आधार भी। राजदर्शन को यह रूसो की महानतम देन है जिसके कारण उसका स्थान अमर बन गया है। इस सिद्धात के बारे मे मेवसी ने लिखा है, "एक ऐसा सिद्धात जिसे तर्क अनुचित बतला सकता है किन्तु नष्ट नही कर सकता।" रूसो ने सभी प्रस्तुत समस्याओ का हल इसी विचार मे दर्शाया है। राजनीतिक शक्ति और व्यक्ति-स्वतत्रता का समन्वय करने के लिये रूसो ने व्यक्ति और समाज की इच्छा में एकरूपता स्वीकार कर ली। इस इच्छा का पालन करने मे व्यक्ति स्वतत्र है और आदेश देनेवाला समाज सर्वश्रेष्ठ नैतिक सस्था है।

सामाजिक सविदा केवल अधिकार समर्पण या सगठन के निर्माण के लिये नही होती बल्कि उपस्थित स्वतंत्र इच्छाओ को एकत्रित करके नई सामाजिक इच्छा का निर्माण करती है जिसे सार्वजनिक इच्छा कहा जाता है। समाज शासन या नियमो का आधार व्यक्ति की इच्छा ही हो सकती है। उन्मुक्तवादी होने के नाते रूसो व्यक्ति की स्वतत्रता समर्पित करने के लिये तैयार नही और आदर्शवादी होने के नाते समाज का नैतिक महत्व कम नही करना चाहता। उन्मुक्तवाद और आदर्शवाद के इस मिश्रण से रूसो के दर्शन में सार्वजनिक इच्छा का एक नया विचार निर्मित हुआ जो पूर्वकालीन आदर्शवाद

में नही था और भविष्य की आदर्शवादी पीढियों में उन्मुक्तवाद से मुक्ति मिल जाने पर भी स्थायी हो गया। यहां तक कि हीगेल और ग्रीन जैसे गंभीर आदर्शवादी इस सिद्धांत का समर्थन करते है। व्यक्ति की इच्छा की स्वतंत्रता बनाये रखने के लिये तथा सामाजिक बन्धनों को न्याय संगत बनाने के लिये रूसो ने सार्वजनिक इच्छा की कल्पना की जिसके आदेश का पालन हर व्यक्ति के लिये अनिवार्य है और जिसके पालन मे ही हर व्यक्ति की स्वतंत्रता निहित है।

सार्वजनिक इच्छा का पूर्णरूप रूसो स्पष्ट नही कर सका अधिक-से-अधिक उसे सबकी इच्छा सबके लिये कहा जा सकता है। सार्वजनिक इच्छा को समाज के प्रत्येक सदस्य की इच्छा का योग नही कहा जा सकता क्योकि व्यक्ति की इच्छा मे व्यक्तिगत और विशेष तत्व रहता है, जब कि सार्वजनिक इच्छा सामान्य कार्यो को ही ध्यान मे रख सकती है। सार्वजनिक इच्छा के विचार को स्पष्ट करने का प्रयत्न रूसो ने किया है। वह इच्छा के विभाजन से आरंभ करता है; हर व्यक्ति में दो प्रकार की इच्छाएं होती हैं—वास्तविक इच्छा (Actual Will) और यथार्थ इच्छा (Real Will)। वास्तविक इच्छा अस्थायी, स्वार्थी और अनुचित है जो मनुष्य को असामाजिक कार्यो की ओर ले जाती है। यह वास्तविक इसलिये कही जाती है कि किसी विशेष क्षण के लिये ही इसका अस्तित्व रहता है, यह मानव मस्तिष्क का स्थायी लक्षण नहीं है। यथार्थ इच्छा स्थायी सत्य है जो अधिकाश कार्यो को प्रेरित करती है इसलिये यह स्थायी, सामाजिक और नैतिक इच्छा है। दो इच्छाओ का वर्णन कदाचित रूसो के जीवन मे व्याप्त विरोधाभासो का परिणाम है। अपने जीवन मे उसने हमेशा उचित और अनुचित का संघर्ष ही प्रबल पाया, और दो इच्छाओं का सिद्धात अपनाया किन्तु दो इच्छाओं का यह सिद्धांत वर्तमान आदर्शवाद मे स्थायी हो गया। रूसो यह मानता है कि हर व्यक्ति अपनी उन्नति समाज की उन्नति के माध्यम से करना चाहता है। सामान्य रूप से अपने लाभ के लिये दूसरो की हानि पहुँचाना व्यक्ति के स्वभाव मे नही है। यद्यपि रूसो इस गुण को विवेक नही मानता किन्तु हम इस सामाजिक भावना को ही विवेक कहते है। इस दृष्टिकोण से यथार्थ इच्छा विवेकशील इच्छा ही है और रूसो उन्मुक्तवादी की अपेक्षा विवेकवादी अधिक है। सामाजिक प्राणी होते हुए भी मनुष्य मे कुछ निम्न प्रवृत्तियां पाई जाती है जो उसे निपट स्वार्थी और समाज विरोधी बना देती है। इन्हें मनुष्य का स्थाई या स्वाभाविक गुण नही कहा जा सकता किन्तु फिर भी किसी विशेष समय पर ये इतनी बलवान हो जाती है कि यथार्थ इच्छा धुधली पड़ जाती है और उस समय इस प्रेरणा को मानने से इन्कार नही किया जा सकता। इस अस्थाई अस्तित्व के कारण ही इस प्रेरणा को वास्तविक इच्छा कहा गया है। व्यक्ति

का विकास केवल समाज मे ही संभव है समाज से बाहर नही। इसलिये स्वार्थी इच्छा नैतिकरूप से अनुचित है।

सार्वजनिक इच्छा सभी सदस्यो की यथार्थ इच्छाओं का समन्वय है, साधारण योग नही।। यथार्थ इच्छा मे कुछ व्यक्तिगत और विशेष तत्व शामिल रहता है इसलिये इनका योग कर देने से उसमे यह तत्व बने रहेगे और इसे केवल सबकी इच्छा ही कहा जा सकता है। समन्वय मे व्यक्तिगत और विशेष तत्व समाप्त हो जाते हैं और एक शुद्ध इच्छा का निर्माण होता है जो समाज की उन्नति का एकमात्र उचित मार्ग है। समन्वय का वर्णन रूसो ने इन शब्दो मे किया है, "इन पृथक इच्छाओ की अभिव्यक्ति मे से धन और ऋण को निकाल दो जो एक दूसरे को नष्ट करते हैं, जो योग बच रहता है वही सार्वजनिक इच्छा है।" योग मे धन और ऋण राशियो का पृथक योग हो जाता है वे एक दूसरे को नष्ट नही करती। इस सिद्धात की सबसे बड़ी समस्या इसकी अभिव्यक्ति हैं। सार्वजनिक इच्छा अनिवार्य रूप से बहुमत की इच्छा नही है, न मतदान के द्वारा इसका निर्णय ही किया जा सकता है। यह कठिनाई इस लिये प्रस्तुत होती है कि रूसो सार्वजनिक इच्छा के दो पक्षो का वर्णन करता है—गुणात्मक और संख्यात्मक। सामान्य इच्छा का गुणात्मक पक्ष यह है कि इसके पालन से सपूर्ण समाज की उन्नति होनी चाहिये। यह किसी व्यक्ति या वर्ग-विशेष के हितो की पूर्ति का साधन नही बन सकती क्योकि इच्छाओ के समन्वय मे व्यक्तिगत स्वार्थ एक दूसरे का अंत कर देते है। रूसो के अनुसार गुणात्मक पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि यथार्थ और वास्तविक इच्छाओ का अंतर ही गुणात्मक है। संख्यात्मक पक्ष का अर्थ केवल यही है कि सामान्य इच्छा सब की इच्छा है और इसकी अभिव्यक्ति बहुमत के द्वारा होनी चाहिये। मौलिक अनुबन्ध के समय सबका एकमत होना आवश्यक है, बाद मे सभी निर्णय बहुमत के द्वारा लिये जाते हैं। रूसो इस सभावना को भी स्वीकार करता है कि बहुमत भी भटक सकता है और उसका निर्णय गलत हो सकता है। इस संभावना के नाते सार्वजनिक इच्छा का गुणात्मक पहलू ही प्रधान है। यदि कभी अल्पमत या एक व्यक्ति ही समाज की प्रगति का सही मार्ग दर्शाता है तो वही सामान्य इच्छा को व्यक्त करता है और उसके विरोध मे बहुमत के निर्णय को स्वीकार नही किया जाना चाहिये। इसका निष्कर्ष यह है कि समष्टिगत एकता की अपेक्षा सामाजिक कल्याण की चेतना अधिक महत्वपूर्ण है। रूसो के सिद्धांत मे अनेक उलझनें और कमजोरियां इसी विश्वास के कारण आ गई है किन्तु रूसो इस बात से भी अवगत था कि गलत नेतृत्व और भावावेश के कारण बहुमत भी किसी समय डिग सकता है।

यह निश्चित है कि ऐसी परिस्थिति कम ही आ सकती है इसलिये सामान्य रूप से बहुमत का निर्णय ही स्वीकृत होना चाहिये।

सार्वजनिक इच्छा में वे सभी गुण है जो संप्रभु शक्ति में बतलाये गये है। यही इच्छा संप्रभु है। सामान्य इच्छा प्रत्येक समाज मे स्थाई रूप से पाई जाती है। यह संभव है कि किसी विशेष अवसर पर हमें इसका आभास न हो परन्तु यह भ्रम दूर होते ही हमे अपनी गलती स्पष्ट हो जाती है। राज्य के सामान्य कार्यों के पीछे यह शक्ति छिपी होती है चाहे स्पष्ट रूप से हम उसे देख सके या नही। रूसो का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हर व्यक्ति मे अपने हितो की प्राप्ति की भावना स्थाई रूप से रहती है, उसी प्रकार हर समूह मे सामूहिक हित पूर्ति की भावना स्थाई है। सामान्य इच्छा हमेशा उचित मार्ग दर्शन करती है क्योकि उसका उद्देश्य है - व्यक्ति की उन्नति समाज के अवयव के रूप मे करना। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि सामान्य इच्छा ने गलत मार्ग दर्शाया तो कि वह सवकी इच्छा मे भ्रमित हो रहा है अथवा अपने स्वार्थ के कारण अपनी यथार्थ इच्छा को भूल गया है। अन्य आदर्शवादियो की तरह रूसो भी यह मानता है कि हर व्यक्ति के हित सामाजिक हितो मे संलग्न है और उनके माध्यम से ही प्राप्त हो सकते है।

समाज मे सार्वजनिक इच्छा ही सप्रभु है और विधि निर्माण का कार्य सार्वजनिक इच्छा के आदेश से ही होता है। विधायक कुछ विशेष कार्य भी करते है, जैसे पदाधिकारियो की नियुक्ति इनके लिये सार्वजनिक इच्छा का प्रयोग नही होता। रूसो ने सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है उसका प्रत्यक्ष निष्कर्ष यह निकलता है कि सार्वजनिक इच्छा कभी गलत नही हो सकती तथा हमेशा सामान्य हितो की प्राप्ति मे सहायक होती है। रूसो इसे स्वीकार करता है कि जन समूह की हर इच्छा सामान्य इच्छा के अनुकूल नही होती। अनुचित नेतृत्व जन-समूह को गलत रास्ते पर ले जाता है; इसलिये रूसो लिखता है, "मनुष्य हमेशा अपना भला सोचते है किन्तु उसे हमेशा समझ नही पाते, मनुष्य कभी भ्रष्ट नही होते किन्तु धोखा खा जाते है और ऐसी स्थिति मे ही वे अनुचित कार्य की इच्छा करते दिखाई देते है।" इस कारण रूसो राजनीतिक दलों का भी विरोध करता है। उसका यह विचार है कि दलवन्दी सार्वजनिक इच्छा के स्वरूप को धुँधला कर देती है। हमे राजनीतिक दलों का विरोध भले ही आपत्तिजनक दिखे किन्तु जिनीवा की स्वतंत्र भूमि मे पले हुए दार्शनिक के इन शब्दो को हम नही भूल सकते कि दलवन्दी के कारण "जितने मनुष्य हैं उतने मतदाता नही होते बल्कि केवल उतने मतदाता होते है जितने दल है।" रूसो के इस विचार को यह कहकर टाल दिया जाता है कि दलविहीन व्यवस्था नगर-राज्य के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र मे ही संभव

है और हम यह मानने के अभ्यस्त हो गए है कि 'प्रतिनिधात्मक सरकार दलीय सरकार है। किन्तु फिर भी दलबन्दी के प्रभाव में व्यक्ति की इच्छा दल की नीति मे विलीन हो जाती है। वर्तमान भारतीय दलबन्दी के संदर्भ मे रूसो का यह वाक्य उल्लेखनीय है, "जब इनमे से एक समुदाय इतना विशाल हो जाता है कि वह अन्य सभी को प्रभावित कर लेता है, परिणाम स्वरूप आपके सामने छोटे मतभेदो का योग नहीं रह जाता वल्कि एकमात्र मतभेद; इस समय सार्वजनिक इच्छा नही रह जाती और जो विचार प्रचलित है वह केवल एक विशेष विचार है।।"

यही इच्छा विधि की स्रोत भी है। न्याय और अधिकारो की स्थापना के लिये समाज मे विधि और अभिसमय (Conventions) का होना आवश्यक है। विधि का निर्माण सपूर्ण समूह के द्वारा संपूर्ण समूह के लिये किया जाता है। सार्वजनिक इच्छा के आदेश सपूर्ण समाज के लिये होते है और सभी व्यक्तियो पर समान रूप से लागू भी होते है और "विधि मे इच्छा की सर्वव्यापकता तथा वस्तु (object) की सर्वव्यापकता का मिश्रण होता है।" सपूर्ण समाज का निर्णय जो सपूर्ण समाज पर लागू हो वही विधि है। जिस राज्य मे इस प्रकार की विधि सर्वश्रेष्ठ है वही गणतंत्र है, शासन का स्वरूप चाहे जो भी हो।

इस इच्छा के सिद्धात के कारण रूसो की योजना मे शासन और सप्रभुता का स्वरूप भी नैतिक हो जाता है। सप्रभु कोई ऐसा नियम नही वना सकता जो वर्ग विशेष के लिये हो या किसी व्यक्ति के लिये हानिकारक हो। सप्रभु स्वय नैतिक और सामाजिक वंधनो से वधा हुआ है। इस प्रकार रूसो यह सिद्ध करता है कि समझौते के द्वारा मनुष्य कुछ खोता नही है, उसकी स्वतंत्रता वनी रहती है वल्कि अधिक निश्चित हो जाती है और समाज के नियम बंधन नही कहे जा सकते क्योंकि इन्हे व्यक्ति स्वयं वनाता है।

सार्वजनिक इच्छा व्यावहारिक रूप मे सत्य नही है वल्कि केवल एक कल्पना है। फिर भी रूसो के सिद्धात मे इस कल्पना का महत्व वहुत अधिक है और यही प्रजातत्र का आधार है। अंतिम निष्कर्ष यह निकलता है कि राज्य की आज्ञा का पालन हम इसलिये नही करते कि हम किसी अनुवन्ध से वाध्य है या राज्य की शक्ति का भय है वल्कि इसलिये कि राज्य के आदेश मे हमारी इच्छा व्यक्त होती है किन्तु यह श्रेय वास्तव मे ग्रीन का है रूसो का नही। इस कल्पना का उद्देश्य एक आदर्श समाज का वर्णन करता है जो व्यावहारिक रूप से प्राप्य भले ही न हो किन्तु प्लेटो की तरह जो विचारो के स्वर्ग मे बना हुआ है और जिसकी तुलना मे हम अपने समाज का मूल्याकन कर सकते है। रूसो यह दर्शाना चाहता है कि यदि समाज व्यक्ति की स्वतंत्रताओ पर

सीमा लगाता है तो इसलिये नही कि वह समाज है ; बल्कि इसलिये कि वह भ्रष्ट है और सामान्य इच्छा के आदर्श से गिर चुका है।

इस सिद्धांत की बड़ी तीव्र आलोचना हुई है। शाब्दिक रूप से सुन्दर और आकर्षक दिखाई देनेवाला यह सिद्धांत राजनीतिक विवाद का विषय रहा है। इसे न केवल गलत और निराधार बल्कि स्वतः विरोधी और हानिकारक भी दर्शाया गया है। इस सिद्धांत की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि यह सिद्धांत अति भावात्मक (abstract) है। इच्छा एक आंतरिक शक्ति है जिसे ठोस रूप मे प्रस्तुत नही किया जा सकता, सामाजिक हित स्वय दुविधापूर्ण है, जिसका अर्थ हर व्यक्ति अलग-अलग दर्शाता है। प्रायः हर समाज मे सामाजिक हित की अनेक कल्पनाये प्रचलित रहती है इसलिये इस शब्द का अर्थ निश्चित करना हमेशा सरल नही रह जाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिये ही रूसो ने राजनीतिक दलो का विरोध किया है किन्तु इसके कारण उसके विचार और भी अधिक उलझ गये। रूसो की उलझन उस समय और भी अधिक बढ़ जाती है जब सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति का प्रश्न आता है। सार्वजनिक इच्छा का गुणात्मक लक्षण बहुमत के निर्णय को अनिश्चित बना देता है किन्तु यदि अल्पमत इस इच्छा को व्यक्त करता है तो व्यावहारिक रूप मे वह निष्फल हो जाता है। जब तक बहुमत का समर्थन प्राप्त न हो जाये इसका पालन कराना कठिन है। यह विचार हमें गलत निष्कर्षों की ओर भी ले जाता है। यह मान लेने से कि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति एक व्यक्ति द्वारा भी हो सकती है हम तानाशाही की ओर अग्रसर हो जाते है। तानाशाहियो का वास्तविक आधार भी यही है। एक हिटलर या मसोलिनी अपने-आप को राष्ट्र का रक्षक और समाज का पोषक घोषित करके सामाजिक हितो के नाम मे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का नाश करता है और राष्ट्र को गलत मार्ग पर ले जा सकता है। यह सिद्धांत एक दोधारी तलवार है। इसके प्रभाव मे एक ओर इङ्गलैड मे ग्रीन जैसे आदर्शवादी प्रजातंत्र की ओर मुखरित हुए तो हीगेल ने इसी आधार पर राज्य को पृथ्वी का ईश्वर दर्शाया और व्यक्ति स्वतंत्रता का बलिदान कर दिया।

यह सिद्धांत निराधार इसलिये माना जाता है कि इच्छाओ का मौलिक विभाजन ही गलत है। इच्छा एक वस्तु है उसका विभाजन नहीं किया जा सकता। किन्तु रूसो वास्तव में यह दर्शाना चाहता है कि मनुष्य मे दो विरोधी भावनाये या प्रेरणायें होती हैं स्वार्थी और सामाजिक और इसे मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता। कभी मनुष्य एक दिशा में जाता है तो कभी दूसरी ओर। इस दृष्टिकोण से रूसो का यह वर्णन उचित है। रूसो का सिद्धांत मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से लॉक के समान स्पष्ट नहीं हो सका और तार्किक दृष्टिकोण से हाब्स की तरह सुदृढ़ नहीं हो सका। लॉक के

व्यक्तिवाद और हाब्स के निरंकुशतावाद का मिश्रण करने के लिये ही रूसो ने संप्रभु शक्ति सार्वजनिक इच्छा को प्रदान की। दोनो पूर्ववर्तियो की तुलना में रूसो को यह आभास मिला कि एक राज्य के लिये व्यक्ति को, दूसरा व्यक्ति के लिये राज्य को समर्पित कर देता है, रूसो ने इन दोनो का समन्वय करना चाहा इसीलिये यह कहा जाता है कि "हाब्स के राज्य मे शक्ति वास्तविक है, लॉक के राज्य मे सार्वजनिक और रूसो के राज्य मे वह वास्तविक और सार्वजनिक दोनो है।" रूसो के सिद्धात को 'विपरीत हाब्सवाद' (Inverted Hobbesism) भी कहा जाता है तथा सार्वजनिक इच्छा को 'सिर कटा लेवियाथान' कहते हैं। रूसो का राज्य उतना ही शक्तिशाली है जितना हाब्स का लेवियाथान किन्तु यह शक्ति जीवधारी के सिर मे केन्द्रित नही है बल्कि संपूर्ण शरीर मे व्याप्त है।

वर्तमान विशाल राज्यो के लिये रूसो का सिद्धात अव्यावहारिक है क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रजातंत्र तक ही सीमित है। रूसो का आदर्श अपने समय मे ही पुराना पड़ गया था और यूरोप के अधिकाश देशो के लिये उसकी व्यावहारिक उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। सामान्य इच्छा का सिद्धात आज के युग मे ग्रीन की व्याख्या के अनुसार मान्य हो सकता है रूसो की कल्पना के अनुसार नही। वर्तमान राज्यो मे न तो समाज द्वारा प्रत्यक्ष शासन सभव है, न दलहीन प्रजातत्र, फिर भी सार्वजनिक इच्छा का स्थान जनमत ने ले लिया है। प्रजातत्रात्मक शासन की कल्पना गुणात्मक की अपेक्षा संख्यात्मक अधिक होती जा रही है।

यह कहा जाता है कि सार्वजनिक इच्छा न तो सार्वजनिक है न इच्छा, बल्कि केवल एक कल्पना है। इसे सार्वजनिक इसलिये नही कहा जा सकता क्योकि यह अनिवार्यरूप से बहुमत की इच्छा नही है; इसे इच्छा इसलिये नही कहा जा सकता कि इच्छा हमेशा मस्तिष्क मे निर्मित होती है और सामाजिक मस्तिष्क जैसी कोई चीज नही होती। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र मे ही चिन्तन व्यक्तिगत ही होता है सामूहिक नही और हर व्यक्ति अपना निर्णय स्वयं लेता है। इच्छा कोई सख्या नही जिसका हम योग कर सके और न ही कोई वस्तु या द्रव्य है जिसका समन्वय किया जा सके।

स्वतंत्रता का विरोधाभास—सार्वजनिक इच्छा की यह कमजोरी इतनी महत्वपूर्ण है कि इसका वर्णन अलग से करना आवश्यक हो जाता है। रूसो की शैली विरोधाभासो से भरी हुई है किन्तु यह विरोधाभास सबसे महत्वपूर्ण है। रूसो की सबसे बडी कमजोरी यही है कि वह न तो स्वतंत्रता को त्यागना चाहता है न राजसत्ता को भुला सकता है। एक ओर व्यक्ति को स्वतत्र मानता है और दूसरी ओर राज्य को नैतिक

संस्था भी मानता है जिसके कारण उसके सिद्धांत मे स्वतंत्रता का विरोधाभास आ जाता है। राज्य का महत्व अधिक है क्योंकि नैतिकता का विचार समष्टिगत जीवन मे ही उत्पन्न होता है और भटके हुए मनुष्य को राज्य की सामूहिक शक्ति ही रास्ते पर ला सकती है। स्वतंत्रता के विरोधाभास का अर्थ यह है कि राज्य मनुष्य को स्वतंत्र होने के लिये वाध्य कर सकता है। स्वतंत्र होना और वाध्य किया जाना विरोधी शब्द है फिर भी रूसो के लिये यह संभव है। इस विरोधाभास को सुलझाने के लिये रूसो स्वतंत्रता की नई व्याख्या प्रस्तुत करता है। स्वतंत्रता का अर्थ है नैतिक कार्य करना या अपनी यथार्थ इच्छा से प्रेरित होकर कार्य करना। यथार्थ इच्छा ही मनुष्य की नैतिक और सही इच्छा है क्योंकि यह स्थायी और सामाजिक है। मनुष्य एक सामाजिक और नैतिक प्राणी है। दूसरे मनुष्यों के प्रति अन्याय और अनाचार तो वह प्राकृतिक अवस्था मे भी नही करता था फिर समाज मे रहकर अनैतिक कार्य क्यों करे? रूसो यह मानता है कि जो व्यक्ति अपनी यथार्थ इच्छा का पालन नही करता वह अपनी असामाजिक और निम्न प्रवृत्तियों का गुलाम बन जाता है। किसी व्यक्ति या समूह के अधीन होना इन कुत्सित भावनाओं की दासता की तुलना मे अच्छा है। पथभ्रष्ट व्यक्ति को सही रास्ते पर लाना, उसे यथार्थ इच्छा का आभास कराना ही उसे स्वतंत्र वनाना है। राज्य का निर्णय सार्वजनिक इच्छा का निर्णय है और सार्वजनिक इच्छा मे हर व्यक्ति की यथार्थ इच्छा शामिल है; इसलिये जो व्यक्ति सार्वजनिक इच्छा का विरोध करता है वह अपनी यथार्थ इच्छा का विरोध करता है। सार्वजनिक इच्छा का विरोध करना ही अनुचित और त्रुटिपूर्ण है। रूसो लिखता है, "जब मेरे विरोधी विचार (समाज को) मान्य हो जावें तो यह इससे अधिक और कम कुछ भी सिद्ध नही करता कि मैं गलत हूँ और जिसे मैं सार्वजनिक इच्छा समझता था वह नहीं है।" इस आधार पर जब राज्य किसी नागरिक को विधि पालन करने के लिये वाध्य करता है तो वह उसे स्वतंत्र होने के लिये वाध्य करता है। अपराधी को दंड देने मे भी राज्य उसी की यथार्थ इच्छा को क्रियान्वित करता है क्योंकि हर व्यक्ति की यथार्थ इच्छा यह चाहती है कि समाज विरोधी तत्वों को दंडित किया जाय। इस विरोधाभास को स्वयं रूसो ने इन शब्दो मे प्रस्तुत किया है—"इसलिये कि सामाजिक सविदा अर्थहीन न हो जाय, इसमे एक घोपणा होनी चाहिये .....कि जो भी सार्वजनिक इच्छा का पालन करने मे इन्कार करेगा, संपूर्ण नागरिक समूह के द्वारा इसके लिये वाध्य किया जायगा; जिसका अर्थ इससे अधिक नही है कि एक मनुष्य को स्वतंत्र होने के लिये वाध्य करने की आवश्यकता हो सकती है—स्वतंत्रता का अर्थ उस अवस्था से है जिसमे व्यक्ति अपने को देश को सौप कर व्यक्तिगत दासता से सुरक्षित हो जाता है।"

यह सिद्धात विशेषकर हीगेल (Hegel) के हाथो मे बहुत घातक वन गया। कठोर से कठोर तानाशाही या अत्याचारी शासन को इस सिद्धात के आधार पर न्याय-सगत ठहराया जा सकता है। सामाजिक हित या राष्ट्रीय उन्नति के नाम मे व्यक्तिगत स्वतंत्रताओ को नष्ट किया जा चुका है, यह कहकर कि वास्तविक स्वतंत्रता वही है जो राज्य दे रहा है। कठोर शासक के हाथ मे व्यक्ति स्वतत्रता एक कठपुतली वनकर रह जाती है और जैसा मिल ने दर्शाया सगटित वहुमत से भी उतना ही भय हो सकता है। शासक शान के साथ कह सकते है कि हमारा आदेश ही सार्वजनिक इच्छा है। जातीय श्रेष्ठता का वहाना लेकर हिटलर जैसा तानाशाह न केवल अत्याचारी वल्कि विश्व-शांति के लिये घातक भी वन सकता है। रूसो का उद्देश्य केवल यह दर्शाना है कि अवज्ञा की भावना सामाजिक एकता के लिये हानिकारक है। रूसो के इस सिद्धात को हम यदि अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखे तो अधिक अच्छा होगा। समाज मे व्यक्ति की स्वार्थी और कुत्सित भावनाये हानिकारक है और इन पर नियंत्रण रखना आवश्यक है।

रूसो का उचित मूल्याकन करना वडा कठिन है। सुन्दर भाषा और लुभावने विचारो के कारण वह फ्रास की राज्यक्राति की प्रेरणाओ मे शामिल हो जाता है। जनसाधारण के लिये ये विचार इतने आकर्षक है कि इनके प्रभाव को कम करना अति कठिन है। वर्गसाँ (Bergson) का कहना है कि रूसो का प्रभाव "डेकार्ट (Descarte) के वाद मानव मस्तिष्क ने जिन प्रभावो का अनुभव किया है उनमे सवसे शक्तिशाली है। दूसरी ओर समकालीन वाल्टेयर ने उसे असभ्य और शैतान से कम नही माना। अपनी लोकप्रियता के वावजूद भी रूसो के सिद्धात मे अनेक तार्किक कमजोरिया पाई जाती है जिनके कारण उसके विचार अस्पष्ट, असवद्ध और स्वत: विरोधी हो गये है। इन कमजोरियो का मूल कारण यह है कि रूसो समन्वयवादी विचारक है। अपने आस-पास उसने अनेक विरोधी विचार पाये और उनका समन्वय करना चाहा। इनमे सबसे महत्वपूर्ण प्रयास साहित्यिक उन्मुक्तवाद और राजनीतिक आदर्शवाद का समन्वय है। यह समन्वय अत्यन्त कठिन है क्योकि उन्मुक्तवाद किसी प्रकार के वन्धन, नियम विवेक को स्वीकार नही करता; दूसरी ओर आदर्शवाद राज्य को सर्वोच्च नैतिक सस्था और मानव जीवन को नैतिक वन्धनो से सीमित मानता है। सार्वजनिक इच्छा इन दोनो पद्धतियो का समन्वय न होकर केवल मिश्रण ही रह गया है जिसका प्रयोग अपनी सुविधानुसार किसी भी दिशा मे किया जा सकता है। हीगेल और ग्रीन के विरोधी विचार इसका प्रमाण है। इसी कारण से समालोचको मे भी विरोधी मत वन जाते है। एक ओर रूसो व्यक्ति स्वतंत्रता और सप्रभु समाज का समर्थक दिखाई देता

है जिसके कारण सेवाइन उसके दर्शन को "समाज का पुनरान्वेषण" (Rediscovery of the community) कहा है। दूसरी ओर राजसत्ता और आज्ञापालन का सिद्धांत निरंकुश राज्य की ओर ले जाते है जिसमें व्यक्ति स्वतंत्रता की सुरक्षा का कोई उपाय नही है। इस लक्षण से प्रभावित होकर दिग्वी (Dugut) ने रूसो को स्वेच्छाचारी शासन, तानाशाही का जनक तथा कान्ट और हीगेल के निरंकुशसत्तावाद का प्रेरक माना है। इसी प्रकार लास्की का विश्वास है कि "रूसो प्रगति मे पूर्ण विश्वास रखता था" तो दूसरी ओर कोबन (Cobban) के विचार में "प्रगति का विचार निश्चित रूप से उसके श्रेय में नही सौंपा जा सकता है।" रूसो का प्रत्यक्ष और स्थायी प्रभाव जनसत्ता की ओर ही स्वीकार किया जाना चाहिये क्योंकि एक ओर उसने फ्रांस की क्रांति को प्रभावित किया तो दूसरी ओर वर्तमान राजनीति का सार्वजनिक इच्छा का सिद्धांत प्रदान किया। रूसो के इस सिद्धात से हम सहमत भले ही न हो किन्तु आधुनिक प्रजातंत्रों में समाज-कल्याण व जनमत (Public opinion) का जो प्रभाव बढ़ता जा रहा है वह इस सिद्धात से अधिक भिन्न नही है। इसीलिये प्रोफेसर डनिग लिखते है, "सामान्य हित और सार्वजनिक इच्छा उसके प्रयासो से उससे अधिक निश्चित और महत्वपूर्ण बन गये जितना कि अभी तक दर्शन ने इन्हे बनाया था। वे करीब-करीब हर राज्य की केन्द्रीय नीति बन गये।" जी. डी. एच. कोल ने रूसो की 'कान्ट्रेक्ट सोशल' को "अभी तक राजनीतिक दर्शन की पाठ्य पुस्तकों में सर्वोत्तम" कहा तथा यह विचार व्यक्त किया है कि रूसो का राजनीतिक प्रभाव कम होने की अपेक्षा प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और प्रत्येक नई पीढ़ी रूसो के दर्शन को अपनी आवश्यकता के अनुसार ढाल लेती है। इसके ठीक विपरीत लार्ड मार्ले का यह विचार है, "क्या यह अच्छा न होता यदि रूसो पैदा ही न होता ?" इन विरोधी मतो का मूल कारण यही है कि रूसो के दर्शन मे दोनो तत्व पाये जाते हैं जैसा कि व्हान ने लिखा है, "एक ओर राज्य का घोर समर्थक और दूसरी ओर व्यक्ति का उग्र प्रचारक, वह एक आदर्श को दूसरे के प्रति बलि करने के लिये अपने को कभी तैयार नही कर सका।" वास्तविकता यही है कि उसने एक ऐसे समाज को सुधारने का प्रयत्न किया जो बहुत अधिक भ्रष्ट हो गया था जैसा बोनाल्ड (Boneld) ने लिखा है कि उसने "अस्थिर को स्थिर और अव्यवस्थित को व्यवस्थित बनाने का प्रयत्न किया।" फ्रांस की राज्यक्रांति को घोर उन्मुक्तवाद की आवश्यकता थी और यह पृष्ठभूमि रूसो ने तैयार की।

———

अध्याय १६

इङ्गलैंड : अनुदार शताब्दी

(England—The Conservative Century)

१६८८ की क्राति के वाद आग्ल दर्शन प्रतिक्रियावाद की छाया में आ गया। क्रांति से राजनीतिक सस्थाओ मे अवश्य परिवर्तन हो गया किन्तु विचारो की धारा मे कोई नई गति नही आई। क्राति व प्राकृतिक अधिकारो के समर्थकों मे लॉक ही अंतिम दार्शनिक था। करीव-करीव एक पूरी शताब्दी तक आंग्ल दर्शन प्रतिक्रियावाद से प्रभावित रहा। फ्रांस मे राजनीनिक दर्शन एक क्राति की ओर प्रगति कर रहा था किन्तु उन्ही दिनो इङ्गलैड में व्यक्तिवाद का विरोध किया जा रहा था। स्वतन्त्रता की जो प्रेरणा इङ्गलैड ने फ्रांस को दी थी वह स्वत: इङ्गलैड मे ही लुप्त हो चुकी थी और इङ्गलैड को फ्रास की क्राति से वापिस मिली। संपूर्ण दर्शन पर रूढिवाद का प्रभाव हो चुका था। वास्तविकता यह थी कि इङ्गलैड के समाज मे रूढिवाद ही अधिक उपयुक्त था। क्रांति ने शासन व्यवस्था मे वाछित परिवर्तन कर दिया किन्तु सामाजिक व्यवस्था सामंतवादी ही वनी रही और ये सामंत प्रगतिवादी नही बल्कि प्रतिक्रियावादी थे। व्यावहारिक राजनीति मे भी इङ्गलैड मे दो दल थे—व्हिग (Whig) और टोरी (Tory)। पहला दल उदारता का समर्थक था दूसरा अनुदार और रूढीवादी था।

१७३९-४० मे डेविड ह्यूम (David Hume) की पुस्तक 'ट्रीटाइज़ आफ ह्यूमन नेचर' (Treatise of Human Nature) प्रकाशित हुई। यह पुस्तक प्राकृतिक विधि और जान लॉक के मनोवैज्ञानिक आधारो का खडन करती है। प्राय: सभी प्रचलित मान्यताओं—धार्मिक, नैतिक, राजनीतिक—का पुन: मूल्याकन किया गया। विश्व के दार्शनिक ग्रन्थो मे यह पुस्तक एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। डेविड ह्यूम का जन्म १७११ मे एडिनवरा (Edinburgh) मे एक संपन्न परिवार में हुआ था। उसे विधि की उच्च शिक्षा के लिये भेजा गया किन्तु उसका झुकाव साहित्य की ओर था। इसलिये उसने शिक्षा अधूरी ही छोड़ दी। परिवार से अलग होकर वह फ्रास चला गया जहां दो वर्ष के कठिन परिश्रम के वाद उसने अपनी यह महान् रचना केवल २७ वर्ष की आयु में प्रकाशित कर दी। यह पुस्तक कोई लोकप्रियता प्राप्त नही कर सकी और ह्यूम स्वयं

कहता है कि 'प्रेस से ही मृत निकली।' यह पुस्तक पढने और समझने मे अत्यंत कठिन है। १७४१ मे उसने एक लेख संग्रह प्रकाशित किया जिससे उसकी लोकप्रियता भी बढ़ी और आय भी।

ह्यूम के विचार धर्म और राजनीति मे विरोध ही आमंत्रित कर सके। धार्मिक लोगो ने उसे अनीश्वरवादी तथा राजनीतिज्ञो ने अवसरवादी कहा। ह्यूम ने धर्म का विरोध करते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि धर्म के प्रचार से व्यक्ति और समूह का पतन ही होता है इसलिये धर्म समाज के लिये कोई उपयोगिता नही रखता। सभी मान्यताओ को उसने उपयोगिता की कसौटी पर परखना चाहा यद्यपि वह उपयोगिता का संपूर्ण सिद्धात प्रस्तुत नही कर सका जैसा कि बेन्थम ने किया। ह्यूम ने सभी दर्शन के आधार विवेक की ही नई व्याख्या प्रस्तुत की। उसने यह दर्शाया कि प्रचलित सिद्धांतो मे विवेक शब्द का गलत प्रयोग हो रहा था जिसके कारण अनेक दार्शनिक भ्रम उत्पन्न हो गये थे। सबसे पहले विवेक शब्द का प्रयोग एक निश्चित तार्किक निष्कर्ष से निकलता है जिस प्रकार गणित मे एक मान्यता के कुछ निश्चित निष्कर्ष निकलते है। दूसरे अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग कारण-क्रिया-संबध (Cause-effect-relationship) मे होता है। निश्चित कारण प्रस्तुत होने पर एक निश्चित घटना आवश्यक है; किन्तु राजनीति तथा अन्य व्यावहारिक विज्ञानो मे यह सभव नही है। अत मे इस शब्द प्रयोग विशेष रूप मे प्राकृतिक विधि के सिद्धात मे संपूर्ण न्याय के लिये भी किया जाता है। यह सभी अर्थ भ्रमात्मक है और किसी वस्तु या कार्य की अच्छाई उसकी उपयोगिता मे निहित है। विवेक स्वय कोई मापदंड प्रस्तुत नही करता और किसी वस्तु की उपयोगिता उसकी विवेकशीलता पर निर्भर नही है। इस आधार पर उसने प्राकृतिक विधि के सिद्धात का खडन किया और इसके विपरीत सभी विधियो व संस्थाओ को अभिसमय (Conventions) पर आधारित किया। अतिम रूप से न्याय और नैतिकता का विचार भी विवेक पर नहीं बल्कि अभिसमयो और रूढियो पर आधारित है। इन रूढ़ियो का औचित्य समाज को प्राप्त होनेवाली उपयोगिता पर निर्भर है। यह बात उल्लेखनीय है कि ह्यूम का उपयोगितावाद बेन्थम की तरह स्वार्थवादी नही है।

ह्यूम का मनोविज्ञान अनुभववादी ज्ञान के सिद्धात (Empirical Epistemology) पर आधारित है जो सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र मे परम्परावाद का रूप ले लेती है क्योकि सामाजिक परम्पराये अनुभव के द्वारा प्रमाणित है। आदर्शवादी और काल्पनिक दार्शनिको का उल्लेख करते हुए वह कहता है कि उन्हें अपनी कल्पना को प्राचीन व्यवस्था के अनुकूल ही रखना चाहिये, "स्थापित शासन को एक अनिश्चित लाभ यह रहता है कि वह स्थापित है; मानव जाति का विशाल हिस्सा सत्ता से शामिल होता है,

विवेक से नहीं, और किसी ऐसी वस्तु को सत्ता प्रदान नहीं करता जो भूतकाल से प्रमाणित नहीं है।" इसी आधार पर ह्यूम ने प्राकृतिक विधि और प्रचलित सामाजिक समझौते के सिद्धांत का विरोध किया। सामाजिक समझौते के निष्कर्षों को वह उल्टा कर देता है। राज्य का आरंभ अस्पष्ट और अनिश्चित है, तथा किसी विशेष घटना का परिणाम नहीं है। मूल संविदा पर लेख में उसने यह दर्शाया है कि संविदा सिद्धांत भी उतना ही असत्य है जितना दैवी सिद्धांत। ह्यूम यह मानने के लिये तैयार है कि किसी राज्य का निर्माण प्रजा की सहमति के बिना नहीं हो सकता, इस अर्थ में कि प्रारंभिक अवस्था में कोई व्यक्ति अनेक व्यक्तियों पर शासन करने का अधिकार उनकी स्वीकृति के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। संविदा सिद्धान्त की मूल गलती यह है कि वह वर्तमान समय में भी शासक की सत्ता को जनता की सहमति पर आधारित मानता है। इस वर्तमान व्यवस्था को सहमति से प्रमाणित करने के केवल दो तरीके रह जाते हैं। प्रथम, यह मान लिया जाय कि मूल समझौता हर पीढ़ी पर लागू होता है जिसका निष्कर्ष यह होगा कि आनेवाली पीढ़ियों का स्वतः निर्णय करने का अधिकार नहीं मिल सकेगा। द्वितीय, हर पीढ़ी शासक को अपनी अप्रत्यक्ष अनुमति प्रदान करती है, ऐसी स्थिति में हम शासक की सत्ता को पहले ही मान लेते हैं और संविदा के द्वारा उसका विरोध करने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। ह्यूम यह मानने के लिय भी तैयार नहीं कि असभ्य लोगों में सामाजिक समझौता जैसी कोई चीज हो सकती है। विश्व की अधिकांश सरकारें सहमति पर नहीं बल्कि सत्ता पर आधारित हैं। शासन और सत्ता सामाजिक विकास (Social Evolution) पर आधारित हैं, न संविदा पर न शक्ति पर। इस आधार पर शासन के आदेश स्वीकार करना हर व्यक्ति और हर पीढ़ी का कर्त्तव्य है अन्यथा सामाजिक विकास का क्रम टूट जायगा। ह्यूम यह भूल जाता है कि क्रांति से कभी सामाजिक विकास का क्रम टूटता नहीं है बल्कि केवल एक नया रूप लेता है। वह व्यक्ति स्वतन्त्रता और क्रांति के अधिकार को स्वीकार कर लेता है किन्तु बहुत ही आवश्यक समय पर, ऐसे अवसर पर जो शायद कभी नहीं आते। स्वतन्त्रता प्रिय अवश्य है किन्तु न्याय, व्यवस्था और सुरक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। यदि स्वतंत्र राज्य में यह सुविधायें नहीं है तो वह राज्य व्यक्ति को कोई उपयोगिता प्रदान नहीं कर सकता। अंत में ह्यूम यह भी दर्शाना चाहता है कि केन्द्रित सत्ता हानिकारक होती है और व्यक्ति दल में संगठित होकर अधिक स्वार्थी हो जाता है, किन्तु साथ-साथ यह भी कहता है कि इङ्गलैंड में कामन्स सभा में अधिक शक्तियां केन्द्रित हो गई हैं। इन सभी कारणों से उसे अनुदारवादी और रूढ़िवादी माना जाता है। ह्यूम के विचारों का कोई विशेष प्रभाव नहीं हो सका जिसका कारण भाषा और विचारों की क्लिष्टता तथा उसका

निष्क्रिय दृष्टिकोण है। उसने प्राय: सभी क्षेत्रों मे मान्यताओं पर समान रूप से आक्रमण किया जब कि उसका तात्पर्य मान्यताओं को तोड़कर नया मार्ग अपनाने से नही था। जो तीव्र तर्क शक्ति उसे प्राप्त थी उसकी सहायता से उसने आलोचनाएं की किन्तु किसी नये दर्शन का निर्माण नही कर सका। परिणाम स्वरूप राजनीति मे यह कोई निश्चित स्थान नहीं बना सका और जैसा उसने स्वयं स्वीकार किया है "मैंने हर ऐसे विषय पर लिखा है जो विरोध आमन्त्रित कर सकना है। परन्तु मेरे कोई दुश्मन नही है—सभी टोरी, सभी व्हिग और सभी इसाइयो को छोड़कर।" आनेवाले वर्षों में प्राकृतिक विधि सिद्धात का तिरस्कार और उपयोगितावाद का प्रचार अवश्य हुआ किन्तु इन्हें ह्यूम से प्रभावित नही कहा जा सकता। प्राकृतिक विधि का सिद्धात लॉक के बाद ही समाप्त हो चुका था और फ्रांस की राज्यक्राति की प्रतिक्रिया ने इसके अवशेष भी नष्ट कर दिये। उपयोगितावाद भी बेन्थम ने ह्यूम से कम और फ्रेंच दार्शनिक हेल्वेशे (Helvetius) से अधिक ग्रहण किये।

इस शताब्दी का दूसरा महत्वपूर्ण विचारक एडमंड बर्क (Edmund Burke) था। उसके जन्म और प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध मे अधिक सूचना प्राप्त नही है। उसका जन्म डबलिन (Dublin) मे एक वकील के घर हुआ था। उसने भी वकालत की शिक्षा पाई और वकालत शुरू भी की किन्तु झुकाव साहित्य की ओर अधिक होने के कारण वकालत छोड़ दी जिसके कारण उसके पिता ने उसकी सहायता करना बन्द कर दिया। १७५६ मे उसके दो लेख संग्रह प्रकाशित हुए जिनके परिणाम स्वरूप उसे साहित्यिकों में गिना जाने लगा। बर्क का राजनीतिक जीवन हेमिल्टन के साथ परिचय होने से १७५९ मे हुआ। पहले हेमिल्टन के एक कर्मचारी के रूप मे डबिलन जाने का अवसर उसे मिला फिर लार्ड राकिंघम (Rockingham) के प्रधान मंत्री होने पर उनके व्यक्तिगत सचिव के रूप मे कार्य किया। यह कार्यकाल बहुत ही छोटा था किन्तु उसे कामन्स सभा की सदस्यता प्राप्त हो गई जो १७९४ तक बनी रही। कामन्स सभा में बर्क का महत्व बहुत अधिक रहा यद्यपि उसे कभी आगे बढने का अवसर नही मिल सका। उसके महत्व का मूल कारण उसकी भाषण देने की कला है। इस क्षेत्र मे वह अद्वितीय था और भारत के वाइसराय वारेन हेस्टिंग्स पर महाभियोग लगाते समय जो भाषण उसने दिया वह इस कला का सबसे अच्छा प्रमाण है। बर्क के संसदीय जीवन की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि उसने कभी अपने दल के मतदाताओं को प्रसन्न रखने के ध्येय से कोई कार्य नही किया। उसने स्वयं यह स्वीकार किया है कि वह इतने भाग्यशाली परिवार मे पैदा नही हुआ था कि अपने-आप शासक वर्ग मे स्थान पा जाता इसलिये उसे अपना स्थान बनाये रखने के लिये उसे हर कदम पर

'पासपोर्ट' दिखलाने की आवश्यकता हुई। अपनी योग्यताओ का प्रमाण उसे हर समय देना पड़ा अन्यथा उसे राजनीति से वाहर होना पड़ता।

शासन के क्षेत्र मे बर्क ने प्रचलित व्यवस्था का ही समर्थन किया क्योकि समय की कसौटी पर यह सिद्ध की जा चुकी है। नये परिवर्तन का विरोध यह इसलिये करता है कि उसका परिणाम निश्चित नही किया जा सकता। शासन का सम्बन्ध निश्चित समय और समूह से नही होता इसलिये उसके साथ खिलवाड़ नही की जा सकती। बर्क कहता है, "व्यक्ति मूर्ख होता है, विशेष अवसर पर समूह भी मूर्ख होता है जब वह बिना विचारे कार्य करता है,किन्तु प्रजाति (Species) बुद्धिमान है और जब उसे उचित समय दिया जाय। प्रजाति हमेशा बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य करती है।" रूढियो का इससे सुन्दर समर्थन नही हो सकता किन्तु बर्क यह भूल जाता है कि समाज गत्यात्मक है और परिवर्तित वातावरण मे रूढिया बदलना आवश्यक हो सकता है। बर्क ने शासन की उसी व्यवस्था का समर्थन किया है जो १६८८ की क्राति से स्थापित हुई थी। वह समान रूप से राजा और कामन्स सभा के द्वारा अधिकारो के दुरुपयोग से भयभीत था। प्रत्येक प्रतिनिधि को स्वयं के निर्णय से कार्य करना चाहिये, दल या निर्वाचको को संतुष्ट रखने के लिये नही। उसका यह विचार है कि निर्वाचन होने का अर्थ यह है कि मतदाताओं ने उस व्यक्ति की बुद्धि, विवेक और निर्णय में अपना विश्वास व्यक्त किया है इसलिये उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग अधिक से अधिक करना चाहिये। हर प्रतिनिधि अपने निर्णय से राष्ट्रीय प्रगति के लिये कार्य करता है और राष्ट्र के लिये क्या उचित है क्या अनुचित, यह प्रतिनिधि को अपने मतदाताओं से सीखने की आवश्यकता नही होती। आज दो शताब्दियो पहले बर्क ने यह संदेह प्रगट कर दिया था कि दलीय प्रभाव के कारण ससद सदस्यो का व्यक्तित्व समाप्त हो सकता है। साथ ही वह राजनीतिक दलो के शक्तिशाली समर्थको मे से एक है। शासन मे दलो का प्रभाव होना स्वाभाविक है किन्तु इस सीमा तक नही कि व्यक्ति का स्वतंत्र निर्णय ही समाप्त हो जाय। राजनीतिक दल की परिभाषा, बर्क इन शब्दो में प्रस्तुत करता है, "दल मनुष्यो का एक ऐसा समूह है जो संयुक्त प्रयासो से राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिये संगठित है, किसी विशेष सिद्धात के आधार पर जिसके प्रति वे सब एकमत है।" हर राजनीतिज्ञ के कुछ निश्चित विश्वास होते है और यह स्वाभाविक है कि वह समान विश्वासवालो के साथ मिलकर कार्य करे।

बर्क ने एक ओर अमेरिका और भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की शासकीय नीति का विरोध किया क्योकि इस शासन से इन उपनिवेशो की प्रजा को सुख नही मिल रहा था। उसने कभी साम्राज्य पर शासन करने के अधिकार पर संदेह व्यक्त नही किया

किन्तु केवल यह तर्क पेश किया कि देश के अन्दर या साम्राज्य के किसी भी हिस्से में प्रजा को संतुष्ट रखने का प्रयत्न करना चाहिये । यद्यपि वह अत्याचारी शासन के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार स्वीकार नही करता किन्तु यह मानता है कि प्रजा को संतुष्ट रखना ही शासक की बुद्धिमत्ता का प्रमाण है । "राज्य का ध्येय (जहां तक संभव हो) संपूर्ण समूह का सुख है । जो विशाल समूह को दुखी बनाता है वह इस उद्देश्य के अनुकूल नही है। जनता के प्रति विधायक के व्यवहार का मापदंड जनता के अधिकारों का सिद्धात नही बल्कि उनके सुख और दुख की भावनायें है।" ह्यूम की तरह बर्क भी प्राकृतिक अधिकारो का विरोध और उपयोगितावादी का समर्थन करता है। साथ ही वह इस बात का भी समर्थन करता है कि शासन को विचारो और सिद्धातों के प्रचार पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार है ।

बर्क के अनुदारवाद का सबमे रुद्ररूप फ्रास की क्राति के विरोध में स्पष्ट होता है । फ्रेन्च क्राति पर उसकी पुस्तक Reflection on the Revolution in France के ग्यारह सस्करण एक ही वर्ष के अन्दर बिक गये । उसने यह तर्क प्रस्तुत किया कि समूह को व्यक्ति पर नियंत्रण रखने का जो अधिकार है वह मौलिक है और क्राति के द्वारा इस अधिकार को समाप्त नही किया जा सकता । शासन का आधार प्राकृतिक अधिकार नही है बल्कि समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनो की उपलब्धि है । इन साधनो मे एक महत्वपूर्ण साधन व्यक्ति की अनुचित भावनाओ पर नियत्रण लगाना भी है । समाज के लिये यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति की अनुचित भावनाओ पर नियंत्रण रखा जाय और यह उनकी सामूहिक शक्ति के द्वारा ही हो सकता है । "इस अर्थ मे मनुष्यो पर तथा उनकी स्वतंत्रता पर बधन, उनके अधिकारो मे गिने जाने चाहिये ।" मनुष्य का कोई अधिकार प्राकृतिक और पूर्वसामाजिक नही है बल्कि अभिसमय और परम्परा पर आधारित है । समाज से पहले कोई अधिकार नही हो सकते क्योकि कोई सगठित जीवन नही है । "प्रकृति की कठोर अवस्था मे जनता जैसी कोई चीज नही है । असख्य मनुष्यो मे स्वतः कोई समष्टिगत क्षमता नही है । जनता की कल्पना निगम की कल्पना है ।" वह समझौते के सिद्धात से केवल इस सीमा तक सहमत है कि वह राज्य और समाज को एक मानवकृत सस्था मानता है । राज्य "पूर्ण रूप से निर्मित है और अन्य सभी वैधानिक कल्पनाओ की तरह सामान्य समझौते पर आधारित है ।" किन्तु इस समझौते से समाज और व्यक्ति का स्वरूप निर्धारित नहीं होता तथा समाज और व्यक्ति के सबंध सहमति पर आधारित नही माने जा सकते क्योकि "राज्य को एक साधारण व्यवसायिक साझेदारी नहीं समझना चाहिये जैसे मिर्च, काफी या तम्बाकू का व्यापार ।" यह एक ऐसा समझौता

है जो मानव जाति की पूर्व, प्रस्तुत और भावी पीढियों को बाध्य करता है इसलिये शासितो के द्वारा इसका खडन नही हो सकता। किसी एक पीढी को यह अधिकार नही है कि वह जीवन को असामाजिक और अव्यवस्थित अराजकता मे डुबा दे। शासन संचालन मे भी बर्क बहुमत का नही बल्कि कुलीनतंत्र का समर्थन करता है। यदि योग्य व्यक्तियो की श्रेष्ठता स्वीकार नही की गई तो सामाजिक बन्धन स्थाई नही हो सकेंगे।

बर्क का उद्देश्य किसी सिद्धात की स्थापना करना नही था बल्कि हर अमिट माने जाने वाले सिद्धात का खडन करना था। समाज मे कोई सिद्धात पूर्ण रूप या स्वयसिद्ध नही होता केवल परम्परा ही सर्वश्रेष्ठ बन्धन है और समाज इन परम्पराओ का आगार है। हर विचार, हर व्यवस्था, हर अधिकार केवल उसी समय सत्य और न्यायसगत हो सकता है जब कि समाज की परम्पराओ का समर्थन उसे प्राप्त है। मनुष्य का कोई अधिकार, विचार या तर्क समाज का विरोध करने का अधिकार नही देता। मूल आवश्यकता समाज की प्रथाओ व सस्कृति को बनाये रखना है, फ्रेन्च क्राति और भारत मे ब्रिटिश शासन दोनो का सामान्य दोष यही था कि वे शासित समाज की संस्कृति के विनाश के प्रयत्न थे। बर्क के विचार विभिन्न लेखो और भाषणो मे बिखरे हुए है जिनका मूल उद्देश्य आलोचना है निर्माण नही किन्तु फिर भी उसने इङ्गलैंड मे अनुदारवाद को एक निश्चित सैद्धातिक रूप प्रदान किया।

बर्क के आक्षेप का उत्तर टामस पेन (Thomas Paine) ने अपनी पुस्तक 'राइट्स आफ मैन' (Rights of Man) मे दिया। इस पुस्तक का प्रकाशन बर्क की फ्रेन्च क्राति पर 'रिफ्लेक्शन्स' के एक वर्ष बाद हुआ। टामस पेन का जन्म इङ्गलैड मे १७३७ मे एक बहुत ही साधारण परिवार मे हुआ था और उसे केवल साधारण शिक्षा ही मिल सकी। जीविका की खोज मे वर्षो भटकने के बाद उसका परिचय अमेरिका के प्रधान राजनीतिज्ञ बेन्जामिन फ्रेन्कलिन से लंदन मे हुआ जिसके परिणाम स्वरूप यह १७७५ मे अमेरिका चला गया। वहा उसने एक पत्रिका के सहायक सपादक के रूप मे कार्य किया। १७७६ मे उसने 'कामनसेन्स' (Commonsense) के नाम से एक पत्रिका लिखी जिसमे इस बात का समर्थन किया कि अमेरिका के उपनिवेशो को ब्रिटिश साम्राज्य के बन्धन तोडकर स्वतत्र गणतन्त्र की स्थापना करना चाहिये। इस पुस्तिका का प्रभाव बहुत व्यापक हुआ और अमेरिका के क्रान्तिकारी नेता पेन से प्रभावित हुए और अमेरिका की स्वाधीनता पर भी इस पुस्तिका का प्रभाव माना जाता है। १७८७ मे पेन इङ्गलैड वापिस आ गया जहा उसने बर्क के प्रत्युत्तर मे 'राइट्स आफ मैन' की रचना की। इस पुस्तक के कारण शासन की ओर से पेन पर देशद्रोह

का मुकदमा चलाया गया किन्तु वह पहले ही फ्रांस पहुँच चुका था। फ्रांस में भी उसके राजनीतिक विरोध के कारण उसे कारावास भेज दिया गया। १७६४ में उसे कारागार से मुक्ति मिलने के बाद उसकी नई पुस्तक 'एज आफ रीजन' (Age of Reason) प्रकाशित हुई जिसमें उसने ईसाई धर्म के अन्धविश्वासों का विरोध किया किन्तु इस पुस्तक के कारण अमेरिका में भी उसकी लोक-प्रियता कम हो गई और उसे नास्तिक कहा जाने लगा।

'कामनसेन्स' में पेन ने समाज और शासन का अन्तर दर्शाते हुए लिखा "समाज की उत्पत्ति हमारी आवश्यकताओं से होती है और शासन की हमारी क्रूरता से; पहली हमारे सुखों की वृद्धि सक्रिय रूप से हमारे स्नेह को संगठित करके प्राप्त करती है, दूसरी निष्क्रिय रूप से हमारी बुराइयों पर बन्धन लगा कर।" उपनिवेशों की प्रजा को साम्राज्य के विरुद्ध क्रांति का प्रोत्साहन देने के लिये यह अन्तर करना आवश्यक था। इसके आगे पेन लिखता है, "हर स्थिति में समाज एक बन्धन है किन्तु शासन सर्वोत्तम रूप में भी केवल एक आवश्यक बुराई है।" यद्यपि पेन के विचारों में आनेवाले व्यक्तिवाद का रूप नहीं मिलता किन्तु फिर भी वह शासन को मानव कमजोरी का ही प्रतीक मानता है। यदि मनुष्य में कोई बुराई न होती, उसे एक दूसरे से कोई भय न होता तो राज्य की आवश्यकता ही नहीं होती, किन्तु अपनी सुरक्षा के लिये ही मनुष्य राज्य की स्थापना करता है और अपनी संपत्ति में से उसके संचालन का व्यय देता है। यही कारण है कि जब शासन उसे सुरक्षा और सुख नहीं दे पाता तो उसे क्रोध आता है कि हम उस वस्तु का मूल्य दे रहे हैं जो हमें दुख देती है। पेन का स्वाभाविक तर्क यह है कि राज्य प्रमुख ध्येय सुरक्षा होने के नाते शासन के स्वरूप का निर्णय प्रजा ही कर सकती है। हमें एक ऐसा शासन चुन लेने का अधिकार है जो हमें कम मूल्य पर और अधिक लाभ के साथ सुरक्षा प्रदान कर सकता है। एकतंत्र में हमें यह सुरक्षा और यह लाभ नहीं मिल सकता क्योंकि एकतंत्र वास्तव में न्यायसंगत शासन नहीं है। प्रारम्भिक शासन प्रणाली एकतन्त्रात्मक नहीं बल्कि सामूहिक ही हो सकती है। संविदा सिद्धांत के स्पष्टरूप से स्वीकार किये बिना पेन राज्य का निर्माण सहमति के द्वारा दर्शाता है। प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य को शासन की कोई आवश्यकता नहीं थी बल्कि नैतिक विरोध व सामान्य आलोचना के भय से सभी लोग सामाजिक अवस्था का पालन करते थे। मनुष्यों की संख्या में वृद्धि हो जाने से शासन का निर्माण करना पड़ा और लोगों ने अपने प्रतिनिधियों को शासन चलाने का भार सौंपा। प्रारम्भिक शासन एकतन्त्रात्मक नहीं हो सकता। उसका विचार है कि एकात्मक शासन का आरम्भ मूर्ति पूजकों से हुआ और उनसे इजराइल के लोगों ने

ग्रहण किया। राजतंत्र "मूर्तिपूजा के प्रोत्साहन के लिये शैतान के द्वारा किया गया सबसे बड़ा आविष्कार है।" पेन का मूल विरोध उत्तराधिकारी राजतंत्र से है क्योकि यह अनधिकार चेष्टा है। यदि लोग शासन का अधिकार एक व्यक्ति को देना चाहते है तो निर्वाचन से देगे। उत्तराधिकार का सिद्धात मूर्ख, क्रूर और अनुचित शासन का द्वार खोल देता है, यदि वर्तमान शासक अच्छा है तो उसके उत्तराधिकारी क्रूर और अत्याचारी नही होंगे यह कभी नही कहा जा सकता। अमेरिका के क्रातिवादियो के लिये यह विचार अत्यन्त आकर्षक थे और केवल साम्राज्य से पृथक होने की ही नही बल्कि गणतंत्र की स्थापना की भी प्रेरणा उन्हे मिली। कदाचित हाब्स की ओर इशारा करते हुए पेन कहता है कि एकतंत्रवाद की सबसे बडी कमजोरी यह है कि समाज और शासन का अंतर इस सिद्धात मे स्पष्ट नही होता।

'राइट्स आफ मैने' का मूल उद्देश्य बर्क के तर्कों का खडन करना और व्यक्ति-स्वतंत्रता की स्थापना करना है। बर्क का मूल तर्क यह था कि ससद के निर्णय से राजा को सिहासन पर बैठाकर इङ्गलैंड के लोगो ने उसकी सप्रभुता को स्वीकार कर लिया है। पेन यह कहता है कि एक समूह शासन प्रणाली का निर्णय तो कर सकता है किन्तु आनेवाली पीढी को बन्धनों मे नही।बाध सकता। सपूर्ण राष्ट्र को समय-समय पर अपनी व्यवस्था निश्चित करने का अधिकार है। पेन लिखता है, "मैं जीवित लोगो के अधिकारो का पक्ष ले रहा हूँ और मृत पीढी के निर्णय के द्वारा उनके समर्पण का विरोध कर रहा हूँ; और श्रीमान बर्क जीवित लोगो के अधिकार और स्वातत्र्य के ऊपर मृत लोगो की शक्ति का समर्थन कर रहे है।" बर्क के विरुद्ध पेन यह तर्क प्रस्तुत करता है कि मनुष्य को अधिकार होना चाहिये और जो लोग अधिकार रूढियो पर आधारित करते है उनकी सबसे बडी गलती यह है कि वे अधिकारो की प्रारंभिक अवस्था तक नही पहुँत पाते। जो अभिसमय आज प्रचलित है इनके पहले भी बहुत कुछ था, और यह निश्चित है कि मानव समानता प्राकृतिक है। एक ही प्रजाति के होने के नाते सभी मनुष्य समान है। इस आधार पर यह भी स्वाभाविक है कि समाज मे प्राकृतिक अधिकार सुरक्षित रहने चाहिये क्योकि "मनुष्य ने पहले से अधिक बुरा बनने के लिये समाज में प्रवेश नही किया, न पहले से कम अधिकारो के लिये, बल्कि उन अधिकारो को अधिक सुरक्षित बनाने के लिये।" प्राकृतिक अधिकार मनुष्य के ऐसे अधिकार हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है, और सामाजिक अधिकारो का सम्बन्ध उसके सामाजिक व्यवहारो से है। इस प्रकार प्रत्येक सामाजिक अधिकार किसी न किसी प्राकृतिक अधिकार पर आधारित है। समाज मे प्रवेश करते समय अधिकारों के समर्पण का नया आधार पेन प्रस्तुत करता है। कुछ अधिकार ऐसे होते

हैं जिनको क्रियान्वित करने की पूर्ण क्षमता मनुष्य में होती है। सभी बौद्धिक अधिकार इस वर्ग में आते हैं। इन अधिकारों का समर्पण कभी नहीं होता, धार्मिक विश्वास इसका प्रधान उदाहरण है। मनुष्य केवल उन अधिकारों का हस्तांतरण करता है जिन्हें वह स्वयं कार्यान्वित नहीं कर सकता। इन्हें कार्यान्वित करने के लिये वह केवल समाज की सामूहिक शक्ति की सहायता लेता है जिस शक्ति में उसका स्वयं का भी हिस्सा है। सामाजिक शक्ति में सभी का हिस्सा रहता है अतः "समाज उसे कुछ प्रदान नहीं करता। समाज में हर व्यक्ति मालिक है, और अपने अधिकार से इस पूंजी में हिस्सा ले सकता है।" सरकार के अधिकार तो समाज से भी कम हैं क्योंकि प्रायः समाज अपने-आप में पूर्ण है और केवल विशेष परिस्थितियों में ही शासन पर निर्भर रहता है। प्रकृति ने मनुष्य को अनेक विभिन्न आवश्यकताओं से सीमित करके सामाजिक जीवन के लिये बाध्य कर दिया और स्नेह के बन्धनों ने समाज को स्थिर बना दिया। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है और उसे शासन के बन्धनों की आवश्यकता बहुत कम होती है।

पेन का महत्व इसीलिये माना जाता है कि उसने अनुदारवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का प्रयत्न किया और उसकी पुस्तकों की लोकप्रियता उसकी सफलता का प्रमाण है। नये दर्शन का निर्माण करना उसका ध्येय नहीं था बल्कि आवश्यकता अनुसार प्रजातंत्र और व्यक्ति स्वतंत्रता की रक्षा करना। राजतंत्र और विशेष रूप से उत्तराधिकारी राजतंत्र से उसका तीव्र विरोध था। राजनीति में असीम शक्ति और धर्म में अंधविश्वासों का विरोध उसने किया। जब तक उसने राजनीति में स्वतंत्रता का समर्थन करने के लिये रूढ़िवाद का विरोध किया तो आजादी के दीवानों ने उसे सर पर बिठाया किन्तु जब उसने 'एज आफ रीजन' (Age of Reason) में धार्मिक अंधविश्वासों का विरोध किया तो उसका तिरस्कार किया जाने लगा। पेन की रचनाओं का सबसे अधिक प्रभाव साधारण वर्ग के नागरिकों पर हुआ और यही उसका उद्देश्य था। बहुमत के शासन और प्रजातंत्र के सिद्धांत से समाज के श्रेष्ठ कहलाये जानेवाले वर्गों को उस युग में प्रभावित नहीं किया जा सकता था। इस दृष्टिकोण से उसका प्रभाव बहुत अधिक हुआ। मेक्सी के शब्दों में "राजनीतिक प्रजातंत्र को एक सत्य बनाने के लिये पेन से अधिक योग बहुत ही कम लोगों का रहा है और इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका में जनसाधारण के लोगों ने शासकीय उत्तरदायित्व के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया उसके निर्माण में निश्चित रूप से किसी दूसरे मनुष्य का योग अधिक नहीं है।" उसकी पुस्तकों की बिक्री इस बात का प्रमाण है कि उसके विचार अधिक बड़े वर्ग में लोकप्रिय हुए।

राजनीति दर्शन पर उसका अधिक प्रभाव भले ही न हुआ हो इङ्गलैण्ड और अमेरिका की राजनीति पर उसका प्रभाव निश्चित रूप से बहुत अधिक हुआ। पेन की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उसने एक मरणासन्न सिद्धांत—'प्राकृतिक अधिकार' का समर्थन किया ; आनेवाले वर्षो मे उदारवादी विचारको ने भी इस विचार का विरोध करना ही अधिक अच्छा समझा।

—•०•—

अध्याय १७

जेरमी वेन्थम

(१७४८-१८३२)

[Jeremy Bentham : 1748-1832]

जेरमी वेन्थम के साथ अनेक सिद्धातो के नाम जुड़े हुए हैं। उपयोगितावाद, उदारवाद, दार्शनिक उग्रवाद इन सभी सिद्धांतो का आरम्भ वेन्थम से होता है। ह्यूम और वर्क के अनुदारवाद के विरुद्ध उदार विचारों का प्रचार करने और शासन, विधि तथा सामाजिक व्यवस्था मे अनेक सुधारों का प्रवर्तक होने के कारण वेन्थम को उदार-वादी और दार्शनिक उग्रवादी माना जाता है। यह उग्रवाद मिल के दर्शन मे व्यक्तिवाद का दर्शन वन गया। वेन्थम ने सुधारो के प्रचार से अनुदारवादियो की मान्यताओं को धराशायी कर दिया। जिन अभिसमयो और रूढियो को वर्क और उसके समर्थक सामाजिक जीवन का आधार मान वैठे थे उनमें से अनेक वेन्थम के आक्रमण से टूट गई और सैद्धांतिक रूप से यह प्रमाणित हो गया कि रूढियों के वंधन समाज के लिये अनिवार्य रूप से लाभदायक नही है वल्कि परिस्थितियां वदल जाने पर इनमें सुधार करने की आवश्यकता हो सकती है। हर दार्शनिक अपने समय की कमजोरियों से प्रभावित होता है और उनको सुधारने की इच्छा रखता है किन्तु इस क्षेत्र मे वेन्थम जैसी सफलता वहुत कम लोगो को मिलती है। दार्शनिक प्रभाव से अलग वेन्थम का महत्व सुधारक के नाते भी वहुत अधिक है। सर हेनरी मेन ने यह स्वीकार किया है कि उन्नीसवी शताव्दी मे इङ्गलैण्ड मे जितने भी सुधार हुए उनमे से शायद ही कोई ऐसा हो जो वेन्थम से प्रभावित न हो।

इङ्गलैण्ड की स्वर्णिम क्राति के बाद राजदर्शन का केन्द्र यूरोपीय महाद्वीप पर पहुँच गया था। मान्टेस्क्यू और रूसो नये विचारों का निर्माण कर रहे थे किन्तु इङ्गलैण्ड मे दार्शनिक प्रगति रुक गई थी। प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धांत खंडित हो चुका था और क्राति की प्रतिक्रिया स्वरूप अनुदारवाद मजवूत हो रहा था। इस क्रांति से शासन व्यवस्था मे परिवर्तन अवश्य आ गया था, संसद के अधिकार वढ़ चुके थे किन्तु सामाजिक और राजनीतिक सुधारों की आवश्यकता बनी हुई थी ; सामाजिक उपयोगिता

के नाम मे रूढिवाद का समर्थन किया जा रहा था और सामाजिक प्रथाओ के आधार पर व्यक्ति स्वतंत्रता का विरोध किया जा रहा था। टामस पेन ने व्यक्ति स्वतंत्रता का समर्थन अवश्य किया किन्तु उसके विचार जनसाधारण के लिये ही थे प्रबुद्ध वर्ग के लिये नही। एक नये दर्शन की आवश्यकता इङ्गलैण्ड को थी और वह कमी बेन्थम ने पूरी की। सामाजिक उपयोगिता की जो व्याख्या अनुदारवादी कर रहे थे वह अनुचित थी, उपयोगिता व्यक्तिगत ही होनी चाहिये। फ्रास से बेन्थम उपयोगितावाद का यह रूप इङ्गलैण्ड वापिस लाया। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि उपयोगितावाद और व्यक्तिवाद का सिद्धात लॉक से फ्रास ने ग्रहण किया और हेल्वेशे के माध्यम से नया रूप देकर पुन. इङ्गलैण्ड को वापिस कर दिया। यूरोपीय चिन्तन मे नये वैज्ञानिक शक्तियो का उदय हो चुका था जो पूर्वमान्य सत्य या स्वयसिद्ध विचारो को मानने के लिये तैयार नही थी। हर वस्तु को सत्य और व्यवहार की कसौटी पर कसा जा रहा था। ऐसी स्थिति मे प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धात अपना आधार खो चुका था। जो विवेक पर आधारित है, वह हमेशा उचित है इसे मानने के लिये लोग तैयार नही थे। अनुभववाद (Empiricism) अधिक प्रभावशाली होता जा रहा था और विचारो तथा व्यवहारो का औचित्य व्यक्ति के अनुभवो के आधार पर स्वीकार किया जाता था। सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र मे भी नई शक्तिया जन्म ले रही थी। उत्पादन के विकास और व्यापार की आवश्यकताओ के परिणाम स्वरूप हर वस्तु का भौतिक मूल्याकन होने लगा था। विचारो और सस्थाओ की भी भौतिक उपयोगिता देखी जाने लगी और व्यवसाय की तरह यह उपयोगिता व्यक्ति के लिये ही देखी जा रही थी। इङ्गलैण्ड के राजनीतिक जीवन मे जा परिवर्तन हो रहे थे बेन्थम का सिद्धात उनका प्रतीक भी है और मार्ग दर्शक भी।

बेन्थम का जन्म लदन मे १५ फरवरी १७४८ को सपन्न कुल मे हुआ। उसके पिता जेरमियाह बेन्थम (Jermiah Bentham) एक अच्छे वकील थे और अपने पुत्र को अपना पेशा सौपना चाहते थे। जेरमी बेन्थम की शिक्षा इसी आधार पर हुई और १७६३ मे क्वीन्स कालेज से बी० ए० करने के बाद उसने विधि का अध्ययन शुरू किया। अपने पिता की इच्छानुसार उसने वकालत शुरू की किन्तु शीघ्र ही उसे त्याग दिया। इस युग की यह एक महत्वपूर्ण घटना है कि ह्यू म, बर्क और बेन्थम ने विधि का अध्ययन किया और सभी ने वकालत छोड़कर साहित्य की रचना मे अपनी शक्तियां लगाई। विधि के विद्यार्थी के नाते बेन्थम का ध्यान विधि की कमजोरियो की ओर अधिक आकृष्ट हुआ और वह विधि सुधार के कार्य मे जुट गया। सुधार की इच्छा

उसमे इतनी तीव्र थी कि सुधारक बेन्थम के आगे दार्शनिक बेन्थम की प्रतिभा क्षीण हो जाती है।

बेन्थम मे दार्शनिक की बौद्धिक प्रतिभा शुरू से ही विकसित हुई। तीन वर्ष की आयु मे लेटिन और चार वर्ष की आयु मे फ्रेंच का अध्ययन शुरू करनेवाले बालक के बुद्धिजीवी बनने में कोई संदेह नही रह जाता। उसमे विषय का प्रगाढ़ अध्ययन और मनन करने की क्षमता थी और विधि के अध्ययन ने उसे व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रदान किया। यही कारण है कि उसके विचारो मे दार्शनिक गहराई और व्यावहारिक स्पष्टता पाई जाती है। लेखक के रूप मे बेन्थम की लोकप्रियता १७७६ मे प्रकाशित 'फ्रेगमेन्ट आन गवर्नमेन्ट' (Fragment on Government) के साथ शुरू होती है। यह पुस्तक ब्लेकस्टोन के द्वारा ब्रिटिश संविधान के गौरवगान के विरुद्ध एक शक्तिशाली प्रतिक्रिया है। ब्लेकस्टोन के तर्कों का इतना सुन्दर खण्डन बेन्थम ने किया कि शीघ्र ही उसे प्रमुख राजनीतिज्ञो से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल गया और बौद्धिक वर्ग मे उसे निश्चित स्थान प्राप्त हो गया। इस लेख मे ही बेन्थम ने उपयोगितावाद का स्पष्ट वर्णन किया है। वह विचार यूरोप के भ्रमण से और भी स्पष्ट तथा दृढ़ हो गये। १७८५ से १७८८ तक उसने यूरोप का भ्रमण किया। फ्रांस मे उसे हेल्वेशे के उपयोगितावादी तथा क्रांति के व्यक्तिवादी विचारो से बहुत सहायता मिली। व्हिग दल के नेता लार्ड शेलबर्न के माध्यम से उसका परिचय पिट, रोमिली जैसे प्रमुख राजनीतिज्ञो से हुआ, जिसके कारण बेन्थम का राजनीतिक दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक हुआ और उसे राजनीतिक समस्याओं को समझने में भी सहायता मिली।

बेन्थम पर अमेरिका और फ्रास की क्रांतियो का प्रभाव बहुत अधिक था। इन क्रांतियों के परिणाम स्वरूप संपूर्ण यूरोप मे प्रजातंत्र और व्यक्ति-स्वतंत्रता का प्रभाव छाया हुआ था। इङ्गलैण्ड की क्राति की मूल देन, प्राकृतिक अधिकारो की लोकप्रियता समाप्त हो चुकी थी इसलिये व्यक्ति-स्वतंत्रता तथा उत्तरदायी शासन के लिये नये आधारों की आवश्यकता थी। निरंकुश सरकारों के अधीन संपूर्ण यूरोप की जनता त्रस्त हो चुकी थी और नये राजनीतिक सिद्धांत की खोज की जा रही थी। एडमंड बर्क और ब्लेकस्टोन जैसे रूढ़िवादियों के तर्क और भावुक आग्रह के बावजूद भी जनसाधारण की भावनाओ को सीमित नही किया जा सकता था। दूसरी ओर टामस पेन और गाडविन जैसे उग्रवादी क्रांति का प्रचार और नये समाज की कल्पना कर रहे थे। अनुदारवादियो को भी वह स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा कि शासन का औचित्य समाज की उपयोगिता में निहित है। भारत और अमेरिका के उपनिवेशों के संबंध में बर्क के तर्क इस बात का

प्रमाण है। उपयोगिता शब्द की व्याख्या का थोडा सा अन्तर कर देने से रूढिवादियो के सभी विश्वास धराशायी हो जाते हैं, बेन्थम ने इस सत्य को समझा और इसका पालन भी किया। उसने उपयोगिता की नई व्याख्या की और व्यक्ति-स्वतन्त्रता तथा सीमित शक्ति का समर्थन किया जिसके कारण उसके विचार शीघ्र ही लोकप्रिय हो गये। टामस पेन के क्रांतिवाद और गाडविन के कल्पनावाद को छोडकर बेन्थम ने व्यावहारिक व सामाजिक दृष्टिकोण से अनुदारवाद का विरोध किया।

यूरोपीय भ्रमण से लौटने के बाद बेन्थम की प्रसिद्ध पुस्तक 'मारेल्स और लेजिस्लेशन' (An Introduction to the Principles of Morals and Legislation) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन से दार्शनिक रूप मे बेन्थम का महत्व बढ़ गया और उपयोगितावाद का पूर्ण सिद्धात हमारे सामने आया। बेन्थम की प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाये बहुत विशाल है और विभिन्न विषयो से संबध रखती हैं। बेन्थम की लेखनी से संख्या मे अधिक और ज्ञान से परिपूर्ण साहित्य की रचना हुई। लगभग ५० रचनाये स्वय के या मित्रो के द्वारा प्रकाशित की गई है और विशाल अप्रकाशित सामग्री लदन के यूनिवर्सिटी कालेज और ब्रिटिश म्यूजियम मे सुरक्षित है। विधि, राजनीति, शिक्षा, धर्म, भाषा, स्थानीय शासन, अर्थशास्त्र, अतर्राष्ट्रीय विधि इत्यादि विषयो पर बेन्थम की रचनाये प्रभावशाली है। वर्तमान युग मे किसी एक व्यक्ति के द्वारा इतने विभिन्न विषयो पर, इतनी अधिक मात्रा मे, इतने श्रेष्ठ विचार व्यक्त नही किये गये। अपने जीवन काल मे ही बेन्थम ने सहयोगी विचारो को प्रभावित किया जिनमें जेम्स मिल, जॉन स्टुअर्ट मिल और आस्टिन के नाम उल्लेखनीय है। वह सही है कि बेन्थम का सम्प्रदाय अधिक दिनो तक प्रभावपूर्ण नही रहा किन्तु इस अल्प समय में ही इसने कई प्रतिभाशाली विचारक प्रदान किये।

फ्रासीसी क्रांति के नेता भी बेन्थम से बहुत प्रभावित थे और १७९२ में उसे फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ने फ्रास के नागरिक की उपाधि प्रदान की। १८०२ में उसकी प्रमुख पुस्तक 'मारेल्स और लेजिस्लेशन' का अनुवाद फ्रेंच भाषा मे किया गया। १८२०-२१ मे पुर्तगाल की संवैधानिक सभा ने उसका मशविरा लिया। बेन्थम का महत्व विधि-सहिता के संकलन के नाते भी बहुत अधिक है। सहिता (Code and Codification) शब्द अंग्रेजी भाषा को उसी की देन है। इगलैंड फ्रांस, भारत इत्यादि देशों की विधि को सहिताबद्ध (Codify) करने का प्रयास उसने किया। व्यावहारिक जीवन मे उसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य लदन के यूनिवर्सिटी कालेज की स्थापना थी। जीवन के अन्तिम दिनो तक बेन्थम की लेखनी रचना मे लगी रही और

इन दिनो वह 'कान्स्टीट्यूशनल' कोड' (Constitutional Code) लिख रहा था जिसका कुछ हिस्सा १८३० मे प्रकाशित हुआ। ६ जून १८३२ को बेन्थम का जीवन समाप्त हो गया और कोई यह नही कह सकता कि उसने अपने जीवन का कोई भी क्षण व्यर्थ गंवाया। वह हमेशा सृजन, सुधार और प्रगति मे लगा रहा।

उपयोगितावाद (Utilitarianism)—नीतिशास्त्र और राजनीति को बेन्थम की मूल देन उपयोगितावाद के नाम से प्रचलित है। यह शब्द भी बेन्थम की ही देन है। यह एक नया सिद्धात तो नही कहा जा सकता किन्तु बेन्थम ने इसे स्पष्ट रूप देकर इसे राजनीतिक सिद्धात और शासन तथा विधि का आधार बना दिया। नैतिक सिद्धांत के रूप मे इस सिद्धांत का आरंभ यूनानी युग मे एपीक्यूरस (Epicurus) के विचारो मे हुई और इसे सुखवाद (Hedonism) के नाम से पुकारा जाता था। वर्तमान युग मे हाब्स, लॉक, स्पिनोजा, ह्यूम हेल्वेशे और ह्येसन आदि लेखको ने इसे किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया। फ्रांसीसी लेखक हचेसन ने सबसे पहले 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' वाक्यांश का प्रयोग किया। उपयोगिता का साधारण अर्थ व्यक्तिगत लाभ-हानि की भावना से होता है किन्तु बेन्थम ने इसे सामाजिक व्यवहारो का सिद्धात माना। बेन्थम की सफलता का रहस्य यही है कि उसने शुष्क दर्शन या कोरी कल्पना का निर्माण नही किया बल्कि एक ऐसा व्यावहारिक सिद्धांत जिसके आधार पर हर समय, हर समाज मे सुधार किये जा सकते है। इस नैतिक सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देकर बेन्थम ने नैतिकता और वैज्ञानिकता का समन्वय किया। इस सिद्धांत के आधार पर बेन्थम ने राजनीति मे कल्याणकारी राज्य व व्यक्तिवाद, अर्थशास्त्र मे स्वतंत्र व्यापार तथा विधि और सामाजिक रीतियो मे विस्तृत सुधारो का प्रचार किया।

लॉक, ह्यूम और फ्रेन्च उपयोगितावाद के अतिरिक्त बेन्थम प्रीस्टले (Priestley) के शासन पर लेख से भी प्रभावित था और प्रीस्टले से यह विचार ग्रहण किया कि राज्य के कार्यो से व्यक्ति को जो सुख प्राप्त होता है वही राज्य की नैतिकता की कसौटी है। बेन्थम एक ऐसे शासन की खोज कर रहा था जिससे मनुष्य को अधिक से अधिक संतोष हो और जो व्यक्ति को सुख देने के लिये बाध्य हो। सुखवाद का सिद्धांत बेन्थम के सामने था और उसी आधार पर उसने राजनीतिक संस्थाओ का विश्लेषण करना चाहा। सुखवाद ने यह दर्शा दिया था कि मनुष्य स्वभाव से सुखों की प्राप्ति और दुखों से मुक्ति चाहता है, उसका प्रत्येक कार्य इसी दिशा मे होता है ; अतः यही उसके कार्यो का नैतिक मापदंड है। फ्रेन्च उपयोगितावादियो और प्रीस्टले ने यह संभावना भी व्यक्त कर दी थी कि यह मापदंड सामूहिक कार्यों पर भी लागू किया जा सकता है।

उपयोगिता की व्याख्या करते हुए वेन्थम 'Morals and Legislation' के प्रथम पृष्ठ मे ही कहता है, "प्रकृति ने मनुष्य को दो प्रभु-सत्ताओं के शासन मे रख दिया है—दुख और सुख। यही दोनो निर्देशित करते है कि हमे क्या करना चाहिये और हम क्या करते है ?" इन शव्दो मे मनोवैज्ञानिक, नैतिक, वैधानिक और राजनीतिक सिद्धातो का आधार छिपा हुआ है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से वेन्थम यह कहता है कि सुख की प्राप्ति और दुख से मुक्ति के लिये कार्य करना व्यक्ति का स्वभाव है। मनुष्य कोई ऐसा कार्य नही करना चाहता जो उसे कष्ट देता है यदि वाह्य रूप से कष्ट देनेवाला कोई कार्य व्यक्ति करता है तो उसके पीछे भी सुख प्राप्त करने की भावना छिपी रहती है। इस आधार पर परोपकार मे मनुष्य को जो कष्ट होते है उनकी अपेक्षा उस सुख का महत्व अधिक माना गया है जो मनुष्य को परोपकारी कहलाने मे होता है। यही नैतिकता का आधार भी प्रस्तुत करता है। जो कार्य व्यक्ति को सुख देता है वह नैतिक है और जो दुख देता है वह अनैतिक। इस प्रकार वेन्थम कार्य की प्रेरणा और नैतिक मापदंड को एक ही मान लेता है, किन्तु इस स्थिति मे तो मनुष्य कोई अनैतिक कार्य करेगा ही नही। वेन्थम उपयोगितावाद की व्याख्या करते हुए आगे लिखता है, "उपयोगितावाद का तात्पर्य उस सिद्धात से है जो प्रत्येक कार्य को उचित या अनुचित इस आधार पर निश्चित करता है कि वह किसी विचाराधीन पक्ष के सुखो मे वृद्धि करता है या कमी या दूसरे शव्दो मे सुखो को वढाता है या उनका विरोध करता है। मै यह सभी कार्यो के लिये कहता हूँ, सिर्फ व्यक्तिमात्र के हर कार्य के लिये नही वल्कि शासन के हर कार्य के लिये।" उपयोगिता का अर्थ लाभ, सुख या सतोप की प्राप्ति है या हानि, क्लेष या असंतोष को रोकना। राज्य के कार्यो और विधियो का औचित्य भी इसी आधार पर निर्धारित होता है। सभी सामूहिक कार्यो का उद्देश्य सामूहिक सुखो की प्राप्ति होनी चाहिये। समूह किसी व्यक्ति विशेष के लिये कार्य नही करता और इस वात की आशा करना व्यर्थ है कि कोई कार्य संपूर्ण समूह को एकरूप से संतुष्ट कर सकता है। अतः एक-मात्र मापदंड 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख' ही हो सकता है। यह सिद्धात राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमा और विधि का औचित्य निर्धारित करता है। राज्य केवल वही कार्य कर सकता है जो समाज के अधिकाश सदस्यो के लिये उपयोगी है और जो विधि अधिकतम सुख नही दे पाती उसे शीघ्र ही सशोधित कर देना चाहिये। यह राज्य और व्यक्ति के उचित संवंधो का मूल्याकन भी है और राज्य के अस्तित्व का आधार भी। मनुष्य जव सभी साधारण कार्य उपयोगिता के लिये करता है तो राज्य जैसे विशाल संगठन का निर्माण इस सिद्धात का अपवाद नही हो सकता। इसका परिणाम यह होता है कि राज्य और विधि का औचित्य उनके परिणाम से निर्धारित होता है और किसी

विधि को लागू करने से पहले उचित या अनुचित कहना कठिन है। डेविडसन का भी विचार है कि बेन्थम "हर कार्य और कानून को उनके सर्वाङ्गीण प्रभाव से परखता है; और अपने प्रभाव तथा परिणाम के आधार पर ही ये सफल या असफल होंगे।"

उपयोगितावाद को अधिक स्पष्ट करने के लिये सुख और दुख के स्रोतों का भी वर्णन किया गया है। ये स्रोत इस प्रकार हैं--शारीरिक या भौतिक, नैतिक, राजनीतिक और धार्मिक। अच्छी जलवायु या पौष्टिक भोजन से मिलनेवाला सुख शारीरिक या भौतिक है। सद्गुण नैतिक सुख है, राजनीतिक सुख शासन और विधियों के द्वारा प्राप्त होते हैं और धार्मिक विश्वास सुखो का धार्मिक आधार है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सुखो मे कोई गुणात्मक अन्तर होता है। उद्गम भिन्न होते हुए भी सभी सुख एक समान हैं, गुणो की दृष्टि से कोई सुख कम या अधिक अच्छा नहीं होता और "पुश्पिन (Pushpin) उतना ही अच्छा है जितनी कविता।" सुख का अर्थ सन्तुष्टि से है और कविता पाठ से जो संतोष मिलता है वह उतना ही अच्छा है जितना किसी साधारण खेल-कूद से। एक बालक को मा की गोद मे और धूल मे खेलने से जो सुख मिलता है उनमे कोई गुणात्मक भेद इस सिद्धात के आधार पर नहीं हो सकता। सामूहिक कार्यो मे एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के सुखो मे कोई गुणात्मक भेद नहीं हो सकता। सुख के दृष्टिकोण से सभी मनुष्य समान है, "हर मनुष्य की गणना एक है और एक से अधिक कोई नही।" मानव समानता की धुन मे बेन्थम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि 'सन्तुष्ट मूर्ख असंतुष्ट सुकरात से अच्छा है।' यह एक ऐसा निष्कर्ष है जिसके कारण बेन्थम के सिद्धात पर अनेक आक्षेप किये गये और उसके सिद्धात को 'सुअर दर्शन' (Pig Philosophy) कहा गया। वह मनुष्य को भी एक पशु मान बैठता है जो दो अच्छाइयों के बीच अंतर नही कर सकता और जानवरो की तरह भोजन और सुरक्षा से सन्तुष्ट होकर मनुष्य आगे की बात सोचने के लिये बाध्य नही है। यह बेन्थम की अतिशयोक्ति है और एक सिद्धात का अनुचित प्रयोग है। किसी भी स्तर पर हम एक साधारण मनुष्य और महान् पुरुष को समान नही मान सकते। बेन्थम इस सत्य को भूल जाता है कि मनुष्यो के तर्क मे, उनकी भावना मे और उनके संतोष की सीमा मे अतर रहता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण राजनीतिक कर्त्तव्यो की पूर्ति को लेकर दिया जाता है। एक साधारण नागरिक मामूली कर्त्तव्यो की पूर्ति करके संतुष्ट हो जाता है जबकि एक महान् देशभक्त अपना सब कुछ बलिदान करके भी संतुष्ट नही होता, किन्तु राजनीति मे बेन्थम का विचार ही अधिक उपयुक्त दिखता है। राज्य की ओर से नागरिको मे किसी प्रकार का भेद किया जाना लाभप्रद नही। राजनीतिक समानता ही प्रजातन्त्र की बुनियाद है। राज्य की निष्पक्षता उसी समय तक

सुरक्षित है जब तक वह विशेप व्यक्तियो के लिये विशेष कार्य नही करता। इसी प्रकार यह स्वीकार करना भी उचित है कि जिस राज्य मे सभी साधारण व्यक्ति है परन्तु संतुष्ट है वह उस राज्य से अच्छा है जिसमे अनेक असंतुष्ट सुकरात हो क्योकि ऐसे राज्य मे स्थायित्व नही रह सकता। उपयोगिता के सिद्धात को 'सुअर दर्शन' के आरोप से बचाने का प्रयत्न जॉन स्टुअर्ट मिल ने किया किन्तु उसके विचार बहुत अधिक उलझ गये।

वेन्थम सुखो के बीच केवल मात्रात्मक अंतर मानता है। कोई सुख मात्रा की दृष्टि से कम या अधिक हो सकता हे गुणो की दृष्टि मे श्रेष्ठ या निम्न नहीं हो सकता। वेन्थम यह मानता है कि कुछ बातो के आधार पर सुखो की मात्रा निर्धारित की जा सकती है। इस गणना को 'सुखवादी गणित' (Hedonistic Calculus) कहा जाता हैं। विभिन्न तत्वो के जोड़ घटाने से इस बात का निर्णय किया जा सकता है कि कौन सुख अधिक उपयोगी है। वेन्थम ने ऐसे सात कारण बतलाये है जिनके आधार पर सुखो की मात्रा मे अतर किया जा सकता हे। तीव्रता (Intensity), अवधि (Duration), निश्चित होना (Certainty), सामीप्य (Propinquity), उर्वरता और शुद्धता। इन छ. आधारो पर किसी व्यक्ति के अधिकतम सुख निश्चित किये जा सकते हैं। जिस कार्य से यह लक्षण अधिक मात्रा मे प्राप्त हो सके वही अधिक उपयोगी माना जायगा। अनुभववादी मनोविज्ञान को स्वीकार करते हुए वेन्थम प्रत्येक कार्य का औचित्य अनुभव पर आधारित मानता है। अनुभव से हमे ज्ञान होता है कि कोई सुख अधिक तीव्र, स्थायी व निश्चित रूप से प्राप्त होते है। सामीप्य का तात्पर्य अनुभव करने वाले व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। सुख प्रदान करने वाले कारण यदि उसके अधिक निकट है तो उसे अधिक सुख होगा। मित्र के परीक्षा मे सफल होने पर जो सुख होता है उससे स्वयं सफल होने का सुख अधिक होगा। उर्वरता का तात्पर्य ऐसे सुख से है जो स्वयं किसी अन्य सुख को जन्म थे। भोजन स्वत सुखदायक है किन्तु अच्छा भोजन स्वास्थ-दायक भी होता है। शुद्धता का अर्थ ऐसी अनुभूति से है जिसमे दुख की मात्रा न्यूनतम हो। मित्र के असफल हो जाने पर स्वय सफल होने का सुख कुछ क्षीण पड़ जाता है। सातवा लक्षण सार्वजनिक कार्यो से सम्बन्ध रखता है, जिसे वेन्थम विस्तार (Extent) कहता है। जो कार्य जितने अधिक लोगो को सुख देना वह उतना ही उचित माना जायगा। इस प्रकार इन लक्षणो के द्वारा 'अधिकतम व्यक्तियो के अधिकतम सुख' का निर्णय उसी निश्चय के साथ किया जा सकता है जिस निश्चय से अको का योग। यह गणित नैतिकता, शिक्षा और निर्माण का निर्देशक है। एम. हेलवी ने वेन्थम के सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार की है, "अपने कार्यो को अपने लिये निर्देशित करने की

कला नैतिकता है, बच्चों के कार्यों को निर्देशित करने की कला शिक्षा है और वयस्कों को अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख प्रदान करने की कला विधि है।" विधि और नैतिकता में केवल विस्तार का अंतर रह जाता है। बेन्थम ने नैतिकता की परिभाषा इस प्रकार की है, "मनुष्य के कार्यों को अधिक से अधिक सुखों के निर्माण की ओर निर्देशित करने की कला।"

इस गणित के कारण विधायक का मार्ग अत्यन्त सरल और स्पष्ट हो जाता है उसे केवल अधिक से अधिक संख्या की सुखात्मक अनुभूतियों का ही ध्यान रखना आवश्यक है। इस कार्य को और भी सरल बनाने के लिये बेन्थम ने १४ सुख और १२ प्रकार के दुखों की सूची भी प्रस्तुत कर दी है। व्यक्ति को अपने लिये और शासन को समाज के लिये निर्णय लेते समय केवल इनका ध्यान रखना आवश्यक है। सुख की सूची देने से बेन्थम का तात्पर्य केवल यह सिद्ध करना है कि किसी विशेष स्थिति में इस बात का निर्णय किया जा सकता है कि सर्वाधिक उपयोगिता क्या है।

बेन्थम के इस सिद्धांत का जितना अधिक प्रचार हुआ इसकी आलोचना भी उतनी ही अधिक हुई। यह सिद्धांत अत्यन्त भौतिकवादी है। गुणात्मक अंतर अस्वीकार कर देने से किसी वस्तु का आध्यात्मिक मूल्य नहीं रह जाता। ऐसा प्रतीत होता है मानों मनुष्य में हृदय या बुद्धि जैसी कोई चीज नहीं है और तृष्णा की शांति ही उसके लिये सभी कुछ है। बेन्थम के सिद्धांत में इच्छा व इच्छा की शान्ति तो मिलती है आत्मा और आत्मा की तृप्ति नहीं। वह इस बात को भूल जाता है सुखी जीवन के लिये आत्मा की शान्ति भी उतनी ही आवश्यक है जितने इन्द्रिय सुख। ऐसे भी अवसर आते हैं जब सभी सुख होते हुये भी मन अशांत रहता है। इस कारण मनुष्य भी अन्य जानवरों की तरह आध्यात्मविहीन रह जाता है। इसीलिये टामस कार्लाइल ने इसे 'सुअर दर्शन' की संज्ञा दी।

सुखवादी गणित भी सार्वजनिक जीवन में भ्रमात्मक है। सुखों के योग में यह प्रश्न आता है कि व्यक्तियों की संख्या को प्रधानता दी जाय या सुखों की मात्रा को। उदाहरण के लिये एक कार्य ८१% लोगों को १० यूनिट सुख देता है और दूसरा १०% लोगों को ६ यूनिट तो किस कार्य की उपयोगिता अधिक मानी जाय। अलग-अलग व्यक्ति के सुखों की कल्पना अलग होती है और यह निश्चित करना संभव नहीं रहता कि अधिकतम लोगों का श्रेष्ठ सुख क्या है। इसलिये जे. मेकन (J. Maccunn) का कहना है कि 'गणित राजनीति में उतनी ही अनुपयोगी है जितनी गणित में राजनीति।' विधि निर्माण के लिये उपयोगितावाद को आधार मान लेने से विधि प्रयोगात्मक हो

जाती है। सुख और सतोष किसी कार्य के परिणाम है और कार्य संपन्न होने से पहले उन्हे निश्चित नही किया जा सकता।

वेन्थम का मनोवैज्ञानिक आधार भी संकीर्ण है। मानव बुद्धि किसी एक शक्ति से संचालित नही होती बल्कि अनेक तत्वो का मिश्रण है। हम ऐसे अनेक कार्य करते हैं जिनसे हमे प्रत्यच मे कोई सुख नही मिलता किन्तु उन्हें हम सामाजिक जीवन के कर्तव्य समझते है। वेन्थम इस प्रकार के कार्यो को यश प्राप्त करने का सुख कहकर टाल देता है जिसके कारण ऐसे कार्यो की सारी महत्ता समाप्त हो जाती है।

वेन्थम मनोवैज्ञानिक प्रेरणा, नैतिकता और विधि मे अंतर नही कर पाया। सुख की प्राप्ति प्रेरक शक्ति भी है, नैतिक मापदड भी और विधि का आधार भी। यदि इसे सत्य मान लिया जाय तो कोई व्यक्ति कभी अनैतिक कार्य न करे तथा समाज मे नैतिक और वैधानिक नियमो का अतर ही न हो। शायद वेन्थम यह कहना चाहता है कि जो नैतिक रूप से उचित है वही व्यक्ति को करना चाहिये और वही विधि का आदेश होना चाहिये।

इन दोपो के बावजूद भी यह नही कहा जा सकता कि उपयोगितावाद का कोई महत्व नही है। वर्तमान सिद्धान्तों के प्रचार मे उपयोगितावाद बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। आदर्शवादियो के राज्य के गौरवगान का विरोध करके वेन्थम ने यह दर्शाया कि राज्य स्वयं एक साधन नही है बल्कि सबकी उन्नति का साधन मात्र है। शासक प्रभु नही सेवक है और उसकी शक्ति सीमित है। उसके अनुगामी मिल ने इसी सिद्धात के आधार पर व्यक्तिवाद और प्रजातंत्र का समर्थन किया। इसी सिद्धान्त के आधार पर वेन्थम ने अनेक सुधारो का सुझाव रखा और वे मान्य भी हुए।

राजनीतिक विचार—वेन्थम का प्रमुख उद्देश्य सुधारवादी था इसलिये उसने प्राचीन राजनीतिक सिद्धान्तो को अधिक महत्व नही दिया। उसका उद्देश्य नये राज्य का निर्माण नही था बल्कि स्थापित संस्थाओ का सुधार। राज्य की उत्पत्ति, अस्तित्व, स्वरूप इत्यादि प्रश्नो मे वह नही उलझा किन्तु सुधारो के समर्थन के लिये जहा जितनी आवश्यकता पड़ी उसने राजनीतिक सिद्धातो का स्थापन और खडन किया। राज्य की उत्पत्ति के संबंध मे उसने सामाजिक संविदा के सिद्धात का खंडन किया किन्तु स्वयं कोई विचार प्रस्तुत नही किया। उसने व्यवहारिक दृष्टिकोण से शासन का ऐसा आधार प्रस्तुत किया जिसमे समाज के अधिक से अधिक लोगो को सुख मिल सके। वेन्थम का सवध प्रत्यचतः राज्य से नही शासन से है।

बेन्थम ने प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धांत का भी खंडन किया । अधिकार संगठित समाज मे ही हो सकते है, समाज से पहले या समाज से अलग नही । प्राकृतिक अधिकारो का सिद्धात घोर मूर्खता (Nonsense on Stilts) है । मान्यता के बिना अधिकार नही हो सकते । वह केवल दो प्रकार के अधिकार मानता है—वैधानिक, जिन्हें राज्य की वैधानिक मान्यता प्राप्त है, व नैतिक जिनका उपयोग समाज की नैतिक धारागाओं पर निर्भर है । अधिकारो का आधार विवेकशील नियम या समाजपूर्व शक्तियां नही है बल्कि वह मनोवैज्ञानिक शक्ति जो मनुष्य के हर कार्य मे सामाजिक जीवन मे भी उपयोगिता की प्राप्ति चाहती है । 'फ्रेगमेन्ट आन गवर्नमेन्ट' मे सामाजिक संविदा और प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत का खडन बहुत विस्तृत रूप से किया गया है । अधिकांश तर्क वही है जो ह्यूम ने प्रस्तुत किये । अनुबन्ध के सिद्धांत का कुतर्क (falacy) यह है कि वह समझौते को अंतिम आधार मान लेता है किन्तु समझौता न्यायसंगत तभी है जब उसका पालन किया जाय, पालन तभी होगा जब व्यक्ति को उससे कोई उपयोगिता मिले । अनेक समझौते ऐसे भी होते है जिनका पालन यह अनिवार्य नही मानते । जिस समझौते का पालन अनिवार्य नही है, वह अवैधानिक है । इस आधार पर बेन्थम यह निष्कर्ष निकालता है कि कोई समझौता इसलिये वैधानिक नही होता कि वह समझौता है बल्कि अन्य किसी कारण से । हमे यह कारण ही खोजना चाहिये और यही कारण समाज का आधार है । यह कारण उपयोगिता के अलावा और कुछ नही हो सकता ।

शासन के संबंध मे बेन्थम के विचार उग्र सुधारवादी है । जेम्स मिल के साथ होने के कारण बेन्थम की सारी शक्तिया सुधारवादी आन्दोलन की ओर लग गई । ब्रिटिश शासन मे व्याप्त दोषो का वर्णन उसने किया और ब्लेकस्टोन के गुणगान का विरोध किया । इङ्गलैंड मे राजनीतिक चेतना का उदय हो चुका था, बडे पैमाने पर विचारो का आदान-प्रदान शुरु हो गया था । शासन को जनसाधारण के अनुकूल बनाना आवश्यक था, इसलिये बेन्थम के सुधारो का स्वरूप प्रजातंत्रात्मक से ही है । बेन्थम का ध्यान सबसे पहले विधि के अवगुणो की ओर आकर्षित हुआ और उसने विधि व्यवस्था मे सुधार करना चाहा किन्तु शासन की ओर से उसके विचारो को कोई महत्व नही दिया गया । फिलिस गयल के शब्दो मे "उसके विधि सम्बन्धी सुधारो को अधिकारी वर्ग से मान्यता प्राप्त करने के प्रयासों के बार-बार असफल होने के कारण वह विशेष अल्पमत के शासन से असंतुष्ट हो गया ।" उसने जनसाधारण की शक्ति का समर्थन किया और ऐसी संस्था का विरोध किया जो विशिष्ट और हर श्रेष्ठ वर्ग के हितों की समर्थक थी । उसने लार्ड सभा के अंत कर देने का समर्थन किया क्योकि यह सदन

विशेष अल्पमत का समर्थक था। वह एक सदनात्मक विधान मंडल का ही समर्थन करता है ; एक ऐसा सदन जो देश की जनता का प्रतिनिधित्व करता है अपने-आप में पूर्ण है और किसी अन्य सस्था का सहयोग या नियन्त्रण नही चाहता। विधान मंडल और कार्यपालिका के वीच शक्ति विभाजन का भी विरोध किया क्योकि अंतिम शक्ति जनता के प्रतिनिधियो मे ही होना चाहिये। राजतंत्र की अपेक्षा गणतत्र अधिक अच्छा शासन है क्योकि इसमे शासक और शासित वर्ग के हितों मे अन्तर नही रहता इसलिये शासन सपूर्ण समाज के लिये उपयोगी होता है। जनमत को उचित स्थान देने के लिये वेन्थम ने विधान सभा के सदस्यो का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर करने का प्रचार किया। यह प्रचार उस समय की परिस्थितियो को देखते हुए सराहनीय है। वेन्थम ने स्त्री मताधिकार का समर्थन नही किया क्योकि इस समय स्त्रियो मे न तो इतनी जाग्रति ही थी न इस प्रकार अधिकार की माग ही की जा रही थी। निर्वाचन गुप्त मतदान प्रणाली का भी समर्थन किया जिससे चुनाव निष्पक्ष हो सके और धन के दवाव तथा भ्रष्टाचार की सभावना कम रहे। ससद के सदस्य सपूर्ण देश की जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से और हर वर्ष निर्वाचित होने चाहिये। वेन्थम का यह विश्वास था कि संसद के अल्पायु होने से जनता और प्रतिनिधियो मे घनिष्ट सम्वन्ध वना रहेगा। हमे यह वात ध्यान मे रखना चाहिये कि वर्तमान राज्यो मे हम इस वात की शिकायत करते है कि निर्वाचन के वाद प्रतिनिधि अपने मनदाताओ को अगले चुनाव तक के लिये भूल जाते है। वेन्थम इसी सभावना को रोकना चाहता था। अगले चुनाव का प्रश्न हमेशा वने रहने मे सदस्यगण जनमत की अवहेलना नही कर सकेंगे और शासन पर जनमत का नियत्रण स्थाई रूप से वना रहेगा। प्रजातत्र का विकास यह दर्शाता है कि इतनी अल्प अवधि मे चुनाव किसी देश मे उपयुक्त नही समझे गये। वयस्क मताधिकार पर वेन्थम ने केवल एक सीमा लगाई कि मतदाता मे पढने की योग्यता होनी चाहिये। यह शर्त शिक्षा के विकास के उद्देश्य से है और इस दृष्टिकोण से भी कि जो व्यक्ति पढ नही सकता उसे न तो पूर्ण राजनीतिक स्थिति का ज्ञान हो सकता है और न वह अपना स्वतत्र मत ही स्थापित कर सकता है। उसने समान चुनाव क्षेत्रो के सीमाकन का भी समर्थन किया जिससे अनुचित अनुपात मे प्रतिनिधित्व न हो।

विधि—वेन्थम का प्रधान क्षेत्र विधि था। इङ्गलैड की विधि और न्याय व्यवस्था मे उसने अनेक सुधारो की आवश्यकता वतलाई। व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए उसने प्राकृतिक या पूर्व राजनीतिक विधि का भी उसी प्रकार तिरस्कार कर दिया जिस प्रकार सामाजिक समझौते और प्राकृतिक अधिकारो का। उसने केवल दो

बन्धन व्यक्ति पर माने—नैतिकता और विधि । नैतिकता का अर्थ किसी रूप में प्राकृतिक विधि से ही नहीं लगाया जा सकता क्योंकि नैतिकता केवल समाज में ही हो सकती है समाज से पहले नहीं । विधि का अर्थ संप्रभु शक्ति के द्वारा बनाये गये नियमों से है । विधि की इसी व्याख्या को बेन्थम के अनुयायी ऑस्टिन ने प्रस्तुत किया है। समाज में प्रचलित सभी नियम संसद या राज्य के सत्ताधारी अंग के द्वारा निर्मित किये जाते है, किन्तु फिर भी वह विधायिनी शक्ति को निरंकुश नही मानता । विधि और शासन का आधार समाज कल्याण की भावना है और राज्य सार्वजनिक उपयोगिता से सीमित है । नैतिकता और विधि का आधार एक ही है किन्तु दोनो में कुछ अन्तर रहता है । बेन्थम का उद्देश्य केवल यह दर्शाना था कि समाज में प्रचलित नैतिक भावनायें विधि का स्रोत है और कोई शासक सामाजिक नैतिकता के विरुद्ध नियम नही बना सकता । जो नियम अधिकतम व्यक्तियो को संतोष प्रदान नही करता, जनता पर बाध्य नही है और इसका विरोध न्यायसंगत है ।

इसी आधार पर बेन्थम ने इङ्गलैंड की प्रचलित विधि व्यवस्था में अनेक सुधारों का प्रचार किया । विधि का उद्देश्य है न्याय प्रदान करना, इसलिये विधि व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिसमें साधारण नागरिक को न्याय प्राप्त करने में कम से कम कठिनाई हो । समकालीन ब्रिटेन मे मुकदमेबाजी मे बहुत पैसा खर्च करना पड़ता था । जिसके फलस्वरूप गरीबों को कई अवसर पर न्याय से वंचित रह जाना होता था या चुपचाप अन्याय सहन करना पड़ता था । इस व्यवस्था का विरोध करते हुए बेन्थम लिखता है कि "इस देश मे न्याय बिकता है और बहुत मंहगा बिकता है ।" व्यापक न्याय की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि न्याय की प्राप्ति हर नागरिक को सरलता से हो सके । दूसरी आवश्यकता बेन्थम ने यह दर्शाई कि विधि सरल और स्पष्ट भाषा मे होना चाहिये । नियमों का महत्व उपयोगिता के नाते है और उपयोगिता के लिये यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति नियमों को तथा उनकी उपयोगिता को समझ सके । जो नियम जनता समझ नही सकती उसका विधिवत् पालन भी संभव नही है, तथा जिस विधि का पालन नियमित रूप से नही होता वह न तो स्थायी हो सकती है न प्रभावशाली । उसका अस्तित्व अपने-आप समाप्त हो जायगा । विधि मे यह सिद्धांत प्रचलित है कि 'विधि का अज्ञान' मनुष्य को दंड से नही बचा सकता इसे क्रियान्वित करने से पहले राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह विधि की सूचना हर व्यक्ति को प्रदान करे । विधि का प्रकाशन और प्रचार पर्याप्त मात्रा मे होना चाहिये तथा विधि संहिता बद्ध (Codified) होना चाहिये ताकि किसी नियम को खोजने मे नागरिको को कठिनाई न हो । प्रचलित व्यवस्था मे बेन्थम का यह विचार है

कि केवल वकील ही विधि के उल्लघंन से बच सकते थे साधारण नागरिक नही । विधि संहिताबद्ध सरल और स्पष्ट न होने से नागरिक न्याय प्राप्ति के लिये वकीलो पर आश्रित हो जाते है और न्याय की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। राज्य का सबमे महत्वपूर्ण कार्य न्याय प्रदान करना है और इसी पर राज्य की सफलता निर्भर है। बेन्थम ने न्याय के महत्व को इतना अधिक माना कि अन्य मंत्रियो से न्यायमंत्री का स्थान अधिक ऊंचा है। न्यायमंत्री का चुनाव जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होना चाहिये जब कि अन्य मंत्री संसद सदस्यो के द्वारा ही चुने जायगे।

विधि के चार लक्ष्य बेन्थम ने स्वीकार किये है। सर्वप्रथम लक्ष्य सुरक्षा है क्योकि जो राज्य सुरक्षा नही दे सकता वह सर्वथा अनुपयोगी है। जब तक जीवन सुरक्षित नही है मनुष्य अन्य कोई सुख नही भोग सकता। दूसरा तत्व जीवन आधार (Subsistence) है। सुरक्षा के अतिरिक्त जीवन यापन और सुख भोग की सामान्य परिस्थितियो का निर्माण करना राज्य का कर्त्तव्य है। विधि का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो जीवन को सुरक्षा ही प्रदान न करे बल्कि जीवित रहने के योग्य बनाये। विधि का तीसरा गुण आधिक्य (Abundance) होना चाहिये। प्रचुर मात्रा मे सर्वाधिक उपयोगिता विधि के द्वारा प्राप्त हो सके। अंत मे विधि के द्वारा समानता की स्थापना होना भी आवश्यक है। विधि के सम्मुख समानता तो वर्तमान समय मे भी अनिवार्य रूप मे स्वीकार की जाती है।

बेन्थम ने अच्छी विधि के लक्षणो का भी उल्लेख किया, इस आशा से कि विधि निर्माता इस आधार पर उचित कानून बना सकेगे। (१) विधि जनता की इच्छा, आशा और आवश्यकता के विपरीत नही होना चाहिये। यह स्वाभाविक है कि यदि जनमत के विरुद्ध नियम बनाये गये तो उनका पालन ईमानदारी से नही होगा, उनके विरुद्ध असंतोष बढेगा जो आगे चलकर विद्रोह का रूप भी ले सकता है। इसका यह अर्थ नही है कि शासन समाज सुधार के नियम नही बना सकता। (२) संपूर्ण समाज को विधियो से अवगत होना चाहिये जिससे अज्ञान के कारण विधि का खडन न हो। श्रद्धापूर्वक विधि का पालन तभी हो सकता है जब व्यक्ति उसके स्वरूप और परिणाम को जानता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सरकार को विधि का अधिक से अधिक प्रसारण और प्रकाशन करना चाहिये। हर कानून जनता की भाषा मे जनसाधारण तक पहुँचाया जाय। (३) विधि स्वतः विरोधी नही होना चाहिये। बेन्थम यह दर्शाना चाहता है कि हर विधि का अर्थ निश्चित और स्पष्ट होना चाहिये। नियमो की शब्दावली के अर्थ के संबंध मे किसी प्रकार का भ्रम नही होना चाहिये और दो विधियो का अर्थ एक दूसरे

के विरुद्ध या भ्रम उत्पन्न करने वाला नही होना चाहिये। भ्रमात्मक शब्दावली के कारण हर व्यक्ति अपनी सहूलियत के अनुसार अर्थ निकालना चाहेगा और विधि मे अराजकता (Anarchy in law) उत्पन्न हो जायगी। भ्रमात्मक या अस्पष्ट होने मे विधि वकीलों के हाथ का खिलौना बन जायगी। (४) विधि व्यावहारिक होना चाहिये, कल्पना और आदर्श पर आधारित नही। आदर्श की प्रेरणा मे ऐसी विधियों का निर्माण नही होना चाहिये जो जनसाधारण के व्यावहारिक स्तर से बहुत ऊपर हो अथवा जिसमे नागरिकों से शक्ति मे अधिक आशा की गई हो। (५) विधि संकलित या सहितावद्ध होना चाहिये जिससे सवधित नियमो का ज्ञान सरलता से किया जा सके। इस दिशा मे वेन्थम के प्रयास सराहनीय है क्योंकि उसने इङ्गलैंड, फ्रास, भारत तथा अन्य देशो की विधि को स्वयं संहिता-बद्ध करना शुरू किया। (६) अंत मे, किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण, प्रत्येक विधि के पीछे उचित शक्ति होना चाहिये। नियमो की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि अवज्ञा दडित की जाय। विधि निर्माता विधि के साथ-साथ दड का भी विधान करें और प्रशासकीय अधिकारी हर अपराधी को उचित दड देने के लिये तत्पर रहे, यह दोनो बातें समान रूप से आवश्यक है।

विधि के सुधारो मे वेन्थम न्यायाधीशो की प्रवृत्ति और उनकी कमजोरियो का भी वर्णन करता है। वेन्थम का यह विश्वास था कि अनेक कारणो से न्यायाधीश अपने-आप को एक पृथक वर्ग मानने लगे थे इसलिये वह इन्हे न्यायाधीश कपनी (Judge and Co) कहता है। विधि प्रक्रिया (Legal Procedure) मे भी वेन्थम ने अनेक सुधारो का प्रचार किया। इस समय इङ्गलैंड की अदालतों मे मुकदमे कई दिनों तक चलते थे जिसके कारण धन का अपव्यय भी होता था और न्याय की प्राप्ति बहुत विलम्ब मे होती थी। वेन्थम इस बात का समर्थन करता है कि निर्णय शीघ्र दिये जाने चाहिये अन्यथा आवेदक को पूर्ण न्याय नही मिल सकेगा। 'विलम्बित न्याय का अर्थ न्याय का निषेध है' (Justice delayed is justice denied)। यह सभव है कि जब साल दो साल मे फैसले का निर्णय हो तब तक उस निर्णय से प्राप्त होनेवाला लाभ ही समाप्त हो जाय। इसके अतिरिक्त यह भी स्वाभाविक है कि अधिक समय व्यतीत हो जाने पर लोगों को मुकदमे के लक्ष्य अच्छी तरह याद न रहे।

न्यायाधीशो की स्वेच्छाचारिता पर नियत्रण रखने के लिये वह जूरी व्यवस्था का समर्थन करता है। न्यायालय मे एक से अधिक न्यायाधीश होने का भी वह विरोध करता था क्योकि जब कोई न्यायाधीश, मडल से अलग अपना व्यक्तिगत या पृथक या अल्पमत का निर्णय देता है तो इसका परिणाम विधि की प्रतिष्ठा के विरुद्ध होता है।

जनता मे यह विश्वास फैलता है कि विधि अनिश्चित है। उसके पृथक अर्थ लगाये जा सकते है और पूर्ण न्याय संभव नही है। प्रचारको को अनुचित प्रचार करने का अवसर मिलता है।

दंड विधान—विधि के साथ-साथ दंड व्यवस्था मे भी वेन्थम ने अनेक सुधार दर्शाये। विधि और दंड व्यवस्था को एक दूसरे से अलग रखना सभव भी नही है। विधि पालन को निश्चय बनाने के लिये अवज्ञा करनेवाले को दंड देना चाहिये किन्तु यह याद रखना आवश्यक है कि दंड स्वयं एक बुराई है जिसका प्रयोग दूसरी बुराई को रोकने के लिये किया जाता है। दड अपने-आप मे साध्य नही है बल्कि एक साधन है जिसका उद्देश्य केवल अपराधी को दडित करना या दुख पहुँचाना ही नही है वल्कि अप-राधी भावनाओ पर रोक लगाना और अपराधी को विधि पालन की शिक्षा देना। जहां अपराधी को दंड देना अनिवार्य है वहा दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि दड उचित मात्रा मे दिया जाय। अनावश्यक रूप से कठोर दंड देना स्वयं एक अन्याय है।

दंड का उद्देश्य अपराधी से वदला लेना नही है, इस आधार पर आख के बदले आख ले लेने का सिद्धांत उचित नही कहा जा सकता। प्राचीन समाजो मे दड प्रतिशो-धात्मक (Retributive) हुआ करता था किन्तु समाज की सगठित शक्ति के द्वारा प्रतिशोध न तो संभव है न उचित। अपराध को रोकने के लिये बहुत अधिक दंड देकर भय उत्पन्न करना भी उचित नही है क्योकि ऐसा करने मे अपराधी के प्रति न्याय नही होता। जाली सिक्के वनाने या भेडे चुराने के लिये मृत्यु दंड देना उचित नही कहा जा सकता। दंड का उद्देश्य अपराध रोकने के साथ-साथ अपराधी का सुधार करना भी होना चाहिये। वेन्थम का यह विश्वास था कि स्वभाव से हर व्यक्ति सामूहिक उपयोगिता प्राप्त करना चाहता हे इसलिये अपराधी पथभ्रष्ट व्यक्ति है और उसे सही रास्ते पर लाने की आवश्यकता है। इसी आधार पर वेन्थम ने मृत्यु दड को भी वहुत सीमित कर दिया। मृत्यु-दंड का विरोध इसलिये नही किया जाता कि राज्य को व्यक्ति का जीवन लेने का अधिकार नही है बल्कि इसलिये किया जाता है कि यह अधिकांश मामलो मे न तो आवश्यक है न उचित। यह विचार करना आवश्यक है कि क्या सार्वजनिक हितो के लिये मृत्यु दंड के अलावा कोई-कोई दूसरा मार्ग नही रह जाता? जव अपराधी इतना पतित हो गया हो कि उसे सुधारने का कोई तरीका नही रह जाता तभी उसके जीवन का अंत किया जा सकता है।

दंड की मात्रा के सम्बन्ध मे वेन्थम ने दो बाते निर्धारित की। अपराध और दंड के बीच अनुपात होना चाहिये। अपराध की गरिमा निश्चित करने के बाद दड

निर्धारित करना चाहिये, साधारण अपराध के लिये बहुत कठोर दंड देना न्यायसंगत नही है। इसके अंतर्गत बेन्थम इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि अपराध एक व्यक्ति के प्रति हुआ अथवा अनेक के प्रति। यदि वह कार्य समाज के बड़े वर्ग के लिये हानिकारक है तो उसे अधिक जघन्य माना जायगा। अपराधी ने व्यक्ति के किन हितों को आघात पहुँचाने की कोशिश की इस बात पर भी अपराध की गरिमा निर्धारित होती है। यदि उसने किसी के जीवन के मूल हितो को हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया है तो अपराध अधिक माना जायगा। दूसरा विचार अपराध की परिस्थितियों का करना चाहिये। यदि अपराध किसी उत्तेजनावश किया गया या किसी परिस्थिति से बाध्य होकर किया गया तो उसकी गरिमा कम हो जाती है। जो अपराध जान-बूझ कर, योजना बनाकर किया जाता है उससे यह प्रमाणित हो जाता है कि अपराधी का इरादा ही अपराध करने का था और उसने भ्रमवश या परिस्थिति से बाध्य होकर वह कार्य नही किया। अपराधी का पिछला आचरण, उसके परिवार का इतिहास, सामाजिक वातावरण जिसमे वह पला है इन सब बातो से यह निश्चित किया जा सकता है कि अपराध की प्रवृत्ति उस व्यक्ति मे कितनी गहरी है।

अपराध की भावना को कम करने के लिये दंड के प्रति भय उत्पन्न करना आवश्यक है। इसलिये दंड इस प्रकार से दिया जाय कि वह प्रदर्शित किया जा सके। संभाव्य अपराधियो पर इस प्रदर्शन का अनुकूल असर हो सकता है। सार्वजनिक स्थानो में सजा देना अधिक अच्छा कहा जा सकता है। देश निकाला या कालेपानी की सजा को बेन्थम अच्छा नही समझता क्योंकि इस प्रकार की सजा से भविष्य के अपराधियों मे दंड के प्रति भय उत्पन्न होना आवश्यक नही है। इसी कारण बेन्थम अपराधी को क्षमादान का भी विरोध करता है।

इस समय इङ्गलैंड मे जेलो की जो हालत थी उसमे भी बेन्थम ने अनेक सुधार बतलाये। कारागार प्रायः प्रकाशहीन, तंग गंदे और स्वास्थ के लिये हानिकारक हुआ करते थे। कैदियो के भोजन और स्वास्थ की उचित व्यवस्था नही होती थी और उनके प्रति अमानवीय व्यवहार किया जाता था। ऐसे वातावरण में अपराधी की प्रवृत्ति को सुधारना न तो संभव था न इसके लिये प्रयत्न ही किया जाता था जिसके कारण हर अपराधी कारागार से और बड़ा अपराधी बन कर निकलता था। सभी प्रकार के अपराधियो को (नाबालिको को भी) एक साथ रखने से अपराध की भावना फैलती थी। बेन्थम यह चाहता था कि कैदियो को सुधारने का प्रयास किया जाना चाहिये ताकि वह कारागार से सदाचारी बन कर निकले घोर अपराधी बन कर नहीं। जेलों की बनावट में भी उसने संशोधन करना चाहा और नये प्रकार की इमारत का नक्शा

प्रस्तुत किया जिसे उसने पेनाप्टिकन (Panoptican) कहा। यह नक्शा उसके ज्येष्ठ भ्राता सेमुअल बेन्थम ने बनाया था। पेनाप्टिकन एक गोलाकार इमारत है जिसमे चारो ओर कैदियो के कमरे है जिनमे सफाई और प्रकाश का उचित प्रबन्ध है, तथा बीचोबीच जेल निरीक्षक का कमरा है। कमरे की खिडकियो से निरीक्षक हर कैदी के कमरे पर उसके व्यवहारो पर नजर रख सकता है। इस प्रकार कैदियो मे अनुशासन भी रखा जा सकता है और उनकी रुचि का भी पता लगाया जा सकता है। कैदियो की रुचि के अनुसार उन्हे कोई ऐसा कार्य सिखाना चाहिये जिससे वे बाहर आने के बाद स्वयं अपनी जीविका ईमानदारी से अर्जित कर सके। अपराधियो को जब कठोर कारावास का दड दिया जाता है तो उनके हृदय मे श्रम के प्रति असम्मान की भावना उत्पन्न की जाती है। बेन्थम कहता है, "श्रम को इस प्रकार कठिन और असम्मानित करने से मुझे कोई लाभ नहीं दिखता" ·· मनुष्य को श्रम के प्रति स्नेह विकसित करने की शिक्षा देना चाहिये।" कठिन परिश्रम के द्वारा कैदियो का जीवन कष्टमय बनाने की और जेल के जीवन के प्रति भय और घृणा उत्पन्न करने की भावना का वह विरोध करता है। यह निश्चित है कि एक मजदूर अपनी जीविका कमाने के लिये दिन भर मे जो श्रम करता है उससे अधिक श्रम जेल की दीवारो के भीतर नही लिया जा सकता। इसलिये अधिक उचित यही होगा कि कैदियो को सुधारने का प्रयत्न किया जाय और उन्हे कोई उपयोगी व्यवसाय सिखाया जाय। अपराधियो का बौद्धिक सुधार करना सबसे अधिक आवश्यक है इसलिये उन्हे धार्मिक और नैतिक शिक्षा दी जानी चाहिये।

बेन्थम के समय मे इन सुधारो को विशेष सफलता नही मिल सकी। पेनाप्टिकन प्रणाली इङ्गलैड की अपेक्षा रूस मे अधिक अच्छी समझी गई। अपने विचारो को कार्यान्वित करने के लिये उसने स्वय परिश्रम और व्यय किया। अपने पैसो से जमीन खरीद कर उसने आदर्श जेल का निर्माण करना चाहा किन्तु यह योजना असफल हो गई। यद्यपि संसद ने उसके व्यय की पूर्ति कर दी किन्तु उसके उत्साह को जो क्षति पहुँची उसकी पूर्ति सभव नही थी। उसकी मृत्यु के बाद न केवल ब्रिटेन मे बल्कि सभ्य जगत के बडे हिस्से मे इसी आधार पर सुधार किये गये।

राजसत्ता और व्यक्तिवाद—बेन्थम ने जिस प्रकार के समाज और राज्य का वर्णन किया है वह अंततः व्यक्तिवाद का समर्थक है किन्तु उसका विधि सिद्धात एकसत्तावाद का समर्थक है। यह बात स्पष्ट है कि विधायको की शक्ति संपूर्ण अवश्य है किन्तु अनुत्तरदायी नही। स्वेच्छाचारी शासन पर सीमा लगाने के लिये बेन्थम ने कई सावधानियो का वर्णन किया। यही कारण है कि उसके विधि सिद्धांत से प्रभावित होने के कारण आस्टिन ने निरंकुश एकसत्तावाद का समर्थन किया तो नैतिक, राजनीतिक और

आर्थिक विचारों से प्रभावित होनेवाले मिल, रिकार्डो जैसे लेखको ने व्यक्तिवाद का स्वरूप निर्धारित किया। यद्यपि व्यक्तिवाद और यद्भाव्यम् (Laissez Faire) की नीति का निर्माण वेन्थम के बाद के उपयोगितावादियो ने किया किन्तु इसके निश्चित लक्षण वेन्थम के सिद्धात मे पाये जाते है। उपयोगिता स्वयं व्यक्तिवादी सिद्धात है क्योकि सुखों की अनुभूति व्यक्तिगत होती है। अधिक से अधिक संख्या मे व्यक्ति के सुखों की प्राप्ति ही राज्य के अस्तित्व का आधार (Raison-d-etate) है। सामाजिक जीवन का आधार व्यक्तिगत सुख है यद्यपि इनकी प्राप्ति दूसरो को हानि पहुँचाकर नही की जा सकती। आर्थिक क्षेत्र मे एडम स्मिथ के अहस्तक्षेप के सिद्धात को स्वीकार करते हुए उसने आर्थिक लेन-देन और व्याज के संबंध मे भी राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया। आर्थिक क्षेत्र मे वह स्वतंत्र प्रतियोगिता का समर्थन करता है और एकाधिपत्य (Manopolies) का भी विरोध किया।

व्यक्ति मे सार्वजनिक सुख प्राप्त करने की क्षमता स्वय है इसलिये राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक नही है। राज्य एक साधन मात्र है जिसका उद्देश्य समाज मे संतुलन वनाये रखना है। राज्य व्यक्ति को उपयोगिता प्राप्ति की प्रेरणा नही दे सकता वल्कि केवल उन धारणाओं को सीमित कर सकता है जो दूसरो के लिये हानिकारक हैं। राजनीतिक शक्ति वाह्य रूप से स्वतन्त्र है और विधि निर्माण की सर्वोच्च शक्ति है इसलिये उसे सप्रभु कहा जाता है किन्तु सप्रभु की शक्तिया व्यक्ति के अधिकारो से सीमित है। यद्यपि उसने शासनतंत्रो के विभिन्न स्वरूपो का तुलनात्मक वर्णन नही किया किन्तु निश्चित रूप मे वह एकतन्त्र का विरोधी और प्रजातन्त्र का समर्थक था। राज्य का औचित्य शासन के स्वरूप से नही वल्कि उसकी उपयोगिता से निश्चित होता है फिर भी उसका यह विश्वास था कि गणतंत्रो की स्थापना से संपूर्ण विश्व का उत्थान किया जा सकता है।

राज्य को आवश्यक वुराई मानने का संकेत भी वेन्थम के सिद्धात मे पाया जाता है। "आनन्द प्राप्त करने की चिता पूर्ण रूप से व्यक्ति पर छोड़ देना चाहिये, शासन का प्रधान कार्य उसे दुख से सुरक्षित रखना है।" सामाजिक जीवन का तारतम्य बनाये रखने के लिये विधियो की आवश्यकता तो है किन्तु विधियो का वाहुल्य वह स्वीकार नहीं करता। सुधारक वेन्थम का उद्देश्य सामाजिक कुप्रथाओं को वदलना नही था वल्कि राजनीतिक संस्थाओ को सुधारना था इसलिये विधि का विश्लेषण करने के वाद भी वह विधि को नैतिक रूप से आवश्यक नही मानता। "शासन और औषधि के संवंध मे एक वात समान है; इसका एकमात्र कार्य वुराइयों का-चयन करना है। प्रत्येक कानून एक वुराई है, क्योकि प्रत्येक कानून स्वतन्त्रता का निषेध है; इस प्रकार शासन मे, पुनः कहता हूँ, केवल वुराइयो के वीच चयन कर सकता है।" आदर्शवादियो की तरह वह राज्य को

नैतिक विकास मे सहायक नही मानता। इस आधार पर विधायक को दो बातो का ध्यान रखना चाहिये ; विधि के द्वारा वास्तव मे किसी बुराई को रोकने का प्रयास किया जा रहा है और वह बुराई उस प्रतिबध से अधिक बुरी है। यह भी आवश्यक है कि शासन अधिकार प्रदान करने मे उदार हो और स्वतत्रता सीमित करने की कोशिश कम से कम करे। स्वतंत्रता के सीमाकन से सुख की अपेक्षा दुखो की मात्रा ही बढती है।

उसने संपत्ति के अधिकार का भी समर्थन किया किन्तु लॉक की तरह वह संपत्ति के अधिकार को पूर्वराजनीतिक नही मानता। सपत्ति का अधिकार राज्य मे ही निर्मित होता है किन्तु इस अधिकार को सीमित करने की कोशिश राज्य को नही करनी चाहिये। बेन्थम इस आरोप का भी विरोध करता है कि समाज मे आर्थिक असमानतायें और दरिद्रता संपत्ति के अधिकार की परिणाम है। वह कहता है कि राज्य संपत्ति का निर्माण करता है ,दरिद्रता का नही। दरिद्रता या सपत्तिहीनता प्राकृतिक है राज्य व्यक्ति को धनी बनाने का प्रयत्न करता है और जिनके पास सपत्ति नही है वे लोग भी प्राकृतिक अवस्था की तुलना मे अधिक धनी है क्योकि सकट और वृद्धावस्था मे उसे उचित सहायता मिलने का निश्चय रहता है। यह तर्क बेन्थम के उद्देश्य के अनुकूल भले रहा हो आने वाले वर्षो मे इसकी उपयोगिता सिद्ध नही हो सकी और राज्य को किसी न किसी रूप मे सम्पत्ति पर नियत्रण लगाना आवश्यक हो गया। वास्तविकता तो यह है कि यद्भाव्यम् नीति को ही त्याग दिया गया और आज के प्रजातत्रो मे राज्य हस्तक्षेप को स्वाधीनता का सीमाकन नही माना जाता।

अनेक सैद्धातिक कमजोरियो के बावजूद भी बेन्थम का महत्व राजनीतिक दर्शन के विकास मे बहुत अधिक है क्योकि मेक्सी के शब्दो मे उसका सिद्धात "एक तीव्र शुद्धीकरण की तरह उन्नीसवी शताब्दी के राजनीतिक दर्शन मे बहता गया और वैज्ञानिक चिन्तन के अनेक अवरोधो को हटा ले गया।' इसमे कोई सदेह नही कि बेन्थम ने राजनीतिक चिन्तन को एक नई धारा प्रदान की। उसका दार्शनिक अनुदाय भले ही अधिक महत्वपूर्ण न रह गया हो किन्तु उसने राजनीति स्वमान्य सत्य, रहस्यवादी विचार और काल्पनिक सिद्धान्तो का खडन किया , व्यक्ति और राज्य के सम्बन्धो को प्राचीन घटनाओ और प्रथाओ पर निर्धारित करने का विरोध किया और वर्तमान का वर्तमान मे और वर्तमान से अध्ययन करने की ओर ध्यान आकर्षित किया। उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण त्रुटिपूर्ण भले ही हो किन्तु सामाजिक सस्थाओ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने की आवश्यकता तो दर्शाता ही है।

अध्याय १८

जॉन स्टुअर्ट मिल

(१८०६ - १८७३)

(John Stuart Mill : 1806-1873)

वेन्थम के समय तक उदारवादी राजनीतिक विचारों का इतना स्पष्टीकरण नही हो सका जितना विधिशास्त्र का हुआ। वेन्थम ने स्वयं वैधानिक सुधारों को अधिक महत्व दिया और इसी के कारण उसका समकालीन प्रभाव हुआ। एडम स्मिथ और रिकार्डो की रचनाओ मे आर्थिक सिद्धातो का विकास हुआ और व्यापार की स्वतंत्रता तथा स्वतंत्र प्रतियोगिता का प्रचार हुआ किन्तु व्यक्ति स्वतंत्रता का राजनीतिक सिद्धांत के रूप मे पूर्णरूपेण स्पष्टीकरण नही हो सका। जॉन स्टुअर्ट मिल स्वयं यह विश्वास करता है कि वेन्थम और उसके समकालीन लेखक उदारवादी केवल इसलिये कहे जाते थे कि वे शासन के प्रति, व्यक्ति के हितो के आधार पर, सुधारवादी दृष्टिकोण रखते थे। इस वर्ग के लेखको ने व्यक्ति-स्वातत्र्य का महत्व नही समझा जवकि जॉन स्टुअर्ट मिल और उसके वाद के उदारवाद मे व्यक्ति स्वतत्रता ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धात वन गया। जेम्स मिल ने इगलैड के शासन मे कुलीन वर्ग के प्रभाव का तीव्र विरोध १८२४ मे ही किया था। वेन्थम द्वारा संस्थापित समाचार पत्र 'वेस्टमिन्सटर रिव्यू' (Westminster Review) मे प्रकाशित एक लेख मे जेम्स मिल ने यह दर्शाया कि इङ्गलैड की कामन्स सभा मे करीव तीन सो प्रमुख परिवारो का ही प्रतिनिधित्व होता है। प्रतिनिधित्व के विस्तार के लिये निर्वाचन के अधिकार को अधिक व्यापक वनाने का प्रचार इन लेखको ने किया ताकि विधान मंडल वर्ग विशेष का नही वल्कि संपूर्ण समाज के हितों की पूर्ति के लिये कार्य करने लगे। इस वर्ग के लेखको ने व्यक्ति के अधिकारों को रहस्यवादी वंधनो से निकालकर व्यावहारिक आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न किया। व्यक्ति के अधिकार न तो सामाजिक समझौते जैसी किसी कल्पना पर आधारित है, न विवेक जैसी किसी अनिश्चितशक्ति पर और न शक्ति पृथक्करण पर वल्कि वे उसकी संतुष्टि और शासन की उपयोगितावादी प्रकृति पर आधारित हैं।

जेम्स मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने व्यक्ति स्वतंत्रता का सैद्धातिक विश्लेपण किया जिसके कारण उसे प्रथम व्यक्तिवादी दार्शनिक माना जाता है। वैसे व्यक्तिवाद एक प्राचीन सिद्धात है जिसका वर्णन यूनानी ग्रन्थकारो ने भी किया है। प्लेटो विशेप रूप से अपने समय मे प्रचलित व्यक्तिवादी धारणाओं का विरोध करता है और आदर्श राज्य मे इन्हे समाप्त करने की कोशिश करता है। आधुनिक युग मे लॉक, रूसो, बेन्थम इत्यादि लेखको ने व्यक्तिवाद का समर्थन किसी न किसी रूप मे किया, किन्तु यह स्पष्ट और वैज्ञानिक चित्रण नही था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने ही व्यक्तिवाद को सैद्धातिक रूप दिया। वेन्थम, रिकार्डो, एडम स्मिथ और अपने पिता जेम्स मिल से प्रेरणा ग्रहण करके मिल ने व्यक्ति स्वतत्रता का स्पष्ट प्रतिपादन किया। अपने पिता के विचारो का मूल्याकन मे जॉन स्टुअर्ट मिल लिखता है कि उनका विश्वास था कि "यदि सपूर्ण जन-संख्या को पढना सिखा दिया गया तो सब कुछ प्राप्त कर लिया जायगा, यदि शब्द और लेखन द्वारा हर प्रकार के विचार उनको सबोधित किये जा सके यह स्वाभाविक था कि जॉन मिल के लिये यह विचारो की स्वतंत्रता सैद्धातिक आधार बन जाये। जॉन ने इसी का प्रचार किया और आनेवाले वर्षो मे विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही व्यक्तिवाद, उग्रवाद और प्रजातत्रवाद का आधार बन गई।

औद्योगीकरण इङ्गलैंड के इतिहास मे सबसे महत्वपूर्ण आकस्मिक घटना है। यूरोप के अन्य देशो की अपेक्षा इङ्गलैंड मे औद्योगीकरण अधिक तीव्रता से आया। न औद्योगिक और व्यापारिक हितो के लिये आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता बहुत आवश्यक थी। बड़े उद्योगो के निर्माण मे विशाल नगरो की सख्या, जीवन की सुविधाये, शिक्षा और जनजाग्रति का विकास हो रहा था। दार्शनिक उग्रवाद और बेन्थम के विचारो को लोक-प्रियता मिली और औद्योगिक वर्ग ने अधिक स्वतंत्रता की इच्छा व्यक्त की। ऐसे वातावरण में जॉन स्टुअर्ट मिल के द्वारा व्यक्तिवाद का प्रतिपादन एक स्वाभाविक और सामयिक निष्कर्प कहा जा सकता है। बेन्थम के राजनीतिक विचार पर्याप्त नही थे। उसके नैतिक सिद्धात मे कुछ कमी रह गई थी जिसके कारण उपयोगितावाद की तीव्र आलोचना की जा रही थी। मिल ने कमजोरियो को निकालकर उपयोगितावाद को शुद्ध करने का प्रयत्न भी किया और राजनीतिक सिद्धात को भी अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया। इस कार्य मे मिल को अपने विशाल ज्ञान भडार की सहायता मिली। उसने राजनीति और दर्शन के अलावा तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, रसायन, वनस्पतिशास्त्र, साहित्य इत्यादि विपयो का गहन अध्ययन किया था।

१८०६ मे जॉन मिल का जन्म हुआ और आरम्भ से ही वह दार्शनिक वातावरण मे पला और उसका शिक्षण भी सामान्य बालकों से कही ऊँचा और कठिन हुआ।

उसका शिक्षण अपने पिता के संरक्षण मे ही हुआ जो स्वय बौद्धिकता का समर्थक और मेधावी अध्ययनकर्त्ता था। ३ वर्ष की आयु मे जॉन मिल ने ग्रीक भाषा का अध्ययन शुरू कर दिया और आठ वर्ष की आयु तक पहुँचते उसने यूनान के ग्रन्थकारो का अध्ययन शुरु कर दिया और अंग्रेजी भाषा मे भी ह्यूम जैसे दार्शनिक की रचनायें पढ़ने लगा। लेटिन, बीजगणित और रेखागणित का अध्ययन भी उसने शुरु कर दिया और बारह वर्ष की आयु मे अरस्तू का तर्कशास्त्र पर महान् ग्रन्थ (Logic) ग्रीक भाषा मे पढना आरम्भ किया। यह बौद्धिक विकास यदि पिता के उद्देश्य का द्योतक है तो पुत्र की आश्चर्यजनक प्रतिभा का प्रमाण भी है। जॉन मिल को यदि जन्मजात दार्शनिक कहा जाय तो भी अनुचित नही होगा। इसी बीच जॉन मिल को अपने पिता और बेन्थम के सैद्धातिक विचार विमर्श व सवादो का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। जेम्स मिल १८१४ से १८१७ तक अपने परिवार के साथ बेन्थम के पास रहा और दोनों मे सैद्धातिक बातचीत प्राय. होती रहती थी। १८२० मे जॉन मिल को फ्रास भेज दिया गया और वहां भी वह जेरमी बेन्थम के बडे भाई सेमुअल बेन्थम के निर्देशन मे फ्रेंच भाषा के अतिरिक्त गणित, रसायन और वनस्पति शास्त्र का अध्ययन करता रहा। इङ्गलैंड वापिस आकर उसने विधि मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र का अध्ययन किया। बेन्थम के नैतिक और राजनीतिक सिद्धातो का अध्ययन उसे फ्रेंच माध्यम से कराया गया। मिल स्वीकार करता है "इस पुस्तक का अध्ययन मेरे जीवन की महान् घटनाओ मे से एक है। इससे मेरे मानसिक विकास के इतिहास मे एक निश्चित मोड आया था।" १७ वर्ष की आयु मे जॉन मिल ने ईस्ट इण्डिया कपनी मे नौकरी कर ली। इतने प्रतिभाशाली और मेधावी विद्यार्थी का यह नौकरी करना भी उतना ही आश्चर्यजनक है जितना ३ वर्ष की आयु मे ग्रीक भाषा का अध्ययन शुरु करना। फिर भी मिल कम्पनी के अन्तिम वर्षो तक नौकरी करता रहा और उसने अपने कार्यालय के सर्वोच्च पद तक तरक्की पाई। १८४८ मे जब कम्पनी का शासन समाप्त किया जा रहा था और इस अवसर पर संसद को याचिका (Petition to Parliament) प्रस्तुत की गई जिसे जॉन मिल ने ही बनाया था और आज भी इसे एक विद्वतापूर्ण लेख माना जाता है। आरम्भिक वर्षो मे मिल कई सस्थाओ का सदस्य रहा जिनका उद्देश्य बौद्धिक और वाक् शक्ति का विकास करना था। नौकरी करते हुए उसने 'वेस्ट मिन्सटर रिव्यू' और बाद मे 'लन्दन रिव्यू' मे लेख लिखता रहा।

इस मानसिक भार के कारण १८२६ मे जॉन मिल बहुत अस्वस्थ हो गया और इस कारण उसके जीवन के रवैये मे कुछ परिवर्तन भी हुआ। स्वस्थ होने के बाद उसकी बौद्धिक क्षमताये पुनः व्यक्त होने लगी। १८३४ से १८४० तक वह 'लन्दन

रिव्यू' के संपादक के रूप मे कार्य करता रहा और दार्शनिक उग्रवाद के प्रचार मे सहायक हुआ। १८४३ मे उसकी मे उसकी प्रथम पुस्तक 'सिस्टम आफ लॉजिक' (System of Logic) प्रकाशित हुई जो नये दृष्टिकोण की परिचायक है। १८४८ मे 'प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल इकानमी' (Principles of Political Economy) प्रकाशित हुई। राजनीतिक पर मौलिक ग्रन्थ 'लिबर्टी' (Liberty) का प्रकाशन १८५६ मे हुआ यद्यपि १८५४ मे ही इसका मुद्रण एक लेखमाला के रूप मे हो चुका था। १८६० मे 'रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट' (Representative Government) और १८६३ मे 'यूटिलिटेरियनिज्म' (Utilitarianism) का प्रकाशन हुआ। अंतिम तीन ग्रन्थ मिल के दार्शनिक दृष्टिकोण के परिचायक है और राजनीतिक सिद्धात के भडार है। सुधारवादी दृष्टिकोण से मिल बेन्थम से भी आगे था और उसने महिलाओ के उत्थान से लिये भी प्रयत्न किया। इस उद्देश्य से रचित पुस्तक 'सब्जेक्शन आफ वीमिन' (Subjection of Women) १८६६ मे प्रकाशित हुई। यह सभव है कि महिलाओ के उत्थान की प्रेरणा मिल को अपनी पत्नी से मिली जो स्वयं एक प्रतिभासम्पन्न महिला थी। 'लिबर्टी' के विचारो के संबध मे मिल ने यह ऋण स्वीकार भी किया है। १८७३ मे मिल की मृत्यु हो गई और यह उल्लेखनीय है कि उसकी मृत्यु फ्रास मे अविग्नाँ (Agignon) मे हुई जहा करीब १५ वर्ष पहले उसकी पत्नी का भी स्वर्गवास हुआ था।

जॉन मिल केवल लेखक और दार्शनिक ही नहीं था, उसने व्यावहारिक राजनीति मे भी सक्रिय हिस्सा लिया। १८६६ मे १८६८ तक वह ससद का सदस्य भी रहा। इस लघु काल मे ही उसने अपने व्यक्तित्व का प्रभाव जमा लिया यद्यपि वह ससद में कम बोलता था किन्तु अपने विद्वत्तापूर्ण वक्तव्यो से उसने सभी को प्रभावित कर दिया था। समकालीन प्रधान मंत्री ग्लेडस्टन के अनुसार "जब जॉन मिल बोलना था (ससद मे) मैं हमेशा यह अनुभव करता था कि मै किसी सत पुरुष को सुन रहा हूँ।" संसद मे रहते हुए भी उसने श्रमिक व्यवस्था, स्त्री-मताधिकार और आयरलेंड मे भूमि सुधार का प्रचार किया। विचारो की अभिव्यक्ति मे मिल पूर्ण स्वतत्रता मे विश्वास रखता था और राजनीतिक दल के बधनों को मानने के लिये भी तैयार नही था। यही कारण है कि उसके अनेक विचार उसके सहयोगियो को रुचिकर नहीं लगे और उसका ससदीय जीवन इतना सक्षिप्त रहा। मिल के कुछ पत्रो का सकलन व आत्मकथा का प्रकाशन उसकी मृत्यु के बाद भी हुआ है।

उपयोगितावाद का संशोधन—जॉन स्टुअर्ट मिल का उपयोगितावादी और उग्र सुधारवादी बनना एक पूर्वनिश्चित निष्कर्ष था। उसने बेन्थम के सिद्धात मे आवश्यक

संशोधन करना चाहे। उदारवाद की आलोचना अनेक क्षेत्रों से विभिन्न आधारो पर की जाने लगी थी जिनमे मूल आरोप गुणात्मक अंतर और सामूहिक सुख की कमी के कारण लगाये जा रहे थे। जॉन स्टुअर्ट मिल के सामने इस सिद्धात को त्यागने की कोई संभावना नही थी, विरासत मे मिला हुआ यह सिद्धात उसे पैतृक संपत्ति की तरह प्रिय था। अपनी दार्शनिक स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए मिल लिखता है, "प्रत्येक नैतिक समस्या का अंतिम रूप उपयोगितावाद की ही कसौटी पर आका जा सकता है। किन्तु उपयोगितावाद का प्रयोग व्यापक अर्थ मे लेना होगा और उसे मनुष्य की शाश्वत शक्तियों मे निहित प्रगति की कामना के साथ सबद्ध करना होगा।" बेन्थम के उपयोगितावादी आधारो को वह स्वीकार करता है। मनुष्य का प्रत्येक कार्य उसकी उपयोगिता पर निर्धारित है और उसका नैतिक औचित्य भी इसी आधार पर निश्चित होता है। आनन्द का अर्थ इस कार्य से है जो सुख प्रदान करता है या दुखो की मात्रा मे कमी करता है। हर कार्य या तो कोई सुख प्राप्त करने के लिये किया जाता है या किसी सुख की रक्षा करने के लिये या किसी दुख से बचने के लिये। "सुख और दुखो से रक्षा ही उद्देश्य के रूप मे वाछनीय है; और सभी वाछनीय वस्तुए (जो उपयोगितावाद मे भी उतनी ही असख्य है जितनी अन्य किसी सिद्धात मे) निहित सुखो के लिये अथवा सुखो की वृद्धि और दुखो के रोक के लिये वाछनीय है।" मानव कार्यो का इसके अतिरिक्त और कोई ध्येय नही हो सकता। अपने पूर्ववर्ती उपयोगितावादियो की तरह वह सुखो मे गुणात्मक भेद को अस्वीकार नही करता। बेन्थम के सिद्धात मे एक यही कमी उसे दिखती है इसलिये वह सुखो मे गुणात्मक भेद दर्शाते हुए लिखता है "जब कि हम अन्य वस्तुओ के मूल्याकन मे संख्या के साथ-साथ गुणो का विचार करते है, सुखो का मूल्याकन केवल संख्या के आधार पर करना मूर्खता होगी।" सुखवादी गणित मे मिल गुणात्मक तत्व को भी शामिल कर लेता है। वह स्वयं घोर बुद्धिवादी था जिसका अधिकाश समय अध्ययन और लेखन मे ही व्यतीत होता था इसलिये वह इसे मानने के लिये तैयार नही था कि तीन वर्ष की आयु से उसने साधारण बालको की तरह खेल-कूद और मनोरंजन को त्याग कर गहन अध्ययन में अपना समय लगाया वह कोई विशेष स्थान नही रखता।। यदि पुशिपन और कविता में समान सुख निहित है तो मिल का बचपन का प्रशिक्षण व्यर्थ हो जाता है और उसके बौद्धिक विकास में कोई विशेषता नही रह जाती। इस कारण उसने सुखो मे गुणात्मक भेद करना आवश्यक समझा। इस कमजोरी का दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि उपयोगिता के दृष्टिकोण से सभी मनुष्य समान है। यह निष्कर्ष भी मिल की विशेष योग्यताओं के प्रतिकूल था इसलिये उसने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि असतुष्ट होते हुए भी सुकरात संतुष्ट मूर्ख से अच्छा है उसी तरह जिस प्रकार सभी असतोषों के

होते हुए मनुष्य सुअर से श्रेष्ठ है। संतुष्टि के दृष्टिकोण से भी शारीरिक और भौतिक सुखो की अपेक्षा बौद्धिक सुख अधिक श्रेष्ठ है। बेन्थम के विचारो मे यह संशोधन करके मिल ने उपयोगितावाद की सरलता और निरपेक्षता का अत कर दिया। जहा तक केवल संख्यात्मक तत्वो का विचार किया जाना था बेन्थम का सुखवादी गणित सरल था किन्तु गुणात्मक अतर के प्रवेश से अंकों के योग की सभावना ही समाप्त हो जाती है। गुणात्मक तत्व के प्रवेश करने से उपयोगितावाद भी उन्ही सिद्धांतो की तरह भावात्मक और रहस्यवादी हो जाता है जिनका बेन्थम ने विरोध किया था।

दूसरा सशोधन मिल ने उपयोगितावाद को सामाजिक स्वरूप देने के लिये किया। बेन्थम के लिये सुख और दुख का मापदंड व्यक्ति था जिसके परिणाम स्वरूप बेन्थम का सिद्धात अहंवादी (Egoistic) हो गया था। मिल यह दर्शाता है कि हर व्यक्ति अपना नही बल्कि संपूर्ण समूह का सुख प्राप्त करना चाहता है। सर्वाधिक लोगों का सुख व्यक्तिगत सुखो का योग नही है बल्कि स्वय एक वास्तविकता है। समाज से अलग होकर व्यक्ति अपने सुखो की प्राप्ति नही कर सकता। अपने सुख की खोज हमे समाज मे और सार्वजनिक सुखो मे ही करनी होगी। मनुष्य अपना सुख प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त नही कर सकता बल्कि केवल अप्रत्यक्ष रूप से कर सकता है। जो व्यक्ति अपने सुख को लक्ष्य मानकर चलता है उसे असफलता ही मिलेगी। सुख की प्राप्ति बूमरेग (Boomrang) की तरह है (एक ऐसी तश्तरी जिसे हवा मे फेकने पर वह वृत्ताकार रूप मे घूमकर फेकने वाले के पास आ जाती है)। इस प्रकार मिल ने उपयोगितावाद को अहवाद के सकुचित घेरे से निकालकर उसे परहितवादी (Altruistic) सिद्धात बना दिया। व्यक्ति स्वातंत्र्य का समर्थन करने के लिये मनुष्य को परहितवादी मानना आवश्यक था।

इस सशोधन के द्वारा मिल ने उपयोगितावाद का नैतिक औचित्य सिद्ध करना चाहा। उपयोगितावाद केवल एक भौतिक और स्वार्थवादी सिद्धात नही है। अपने इस उद्देश्य को और भी स्पष्ट करने के लिये मिल धार्मिक सदेशो का भी सहारा लेता है। ईसाई धर्म के मूल सिद्धांतों मे भी उसे उपयोगितावाद का ही समर्थन दिखाई देता है। "दूसरो के प्रति ऐसा व्यवहार करो जो तुम अपने प्रति चाहते हो और अपने पडौसी से उतना ही स्नेह करो जितना स्वय से, उपयोगितावादी नैतिकता की आदर्श पूर्णता है।" मिल के अनुसार इस सदेश के दो निष्कर्ष निकलते है। प्रथम, विधि और सामाजिक व्यवस्था के द्वारा व्यक्तिगत और सामूहिक हितो मे अधिक से अधिक समानता लाने की कोशिश करनी चाहिये। दूसरे, शिक्षा और विचारो के माध्यम से हर व्यक्ति को सामाजिक हितो के प्रति इस प्रकार जाग्रत करना कि वह अपने सुख की प्राप्ति सामाजिक सुख के माध्यम से ही करे।

विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन इसी आधार पर किया गया। कोई व्यक्ति या समूह इस बात का दावा नही कर सकता कि सत्य की अभिव्यक्ति केवल उसके द्वारा ही होती है अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा नही। इसलिये हर व्यक्तिको अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाना चाहिये और उन विचारो के प्रति सहिष्णुता रखनी चाहिये। मिल यह मानने के लिये भी तैयार नही है कि बहुमत का प्रत्येक निर्णय अनिवार्य रूप से उचित होगा। उसके पूर्वज इस संभावना का ध्यान नही कर सके कि कभी बहुमत के द्वारा भी अत्याचार हो सकता है। उनका यह विश्वास था कि हर प्रकार के अत्याचार को रोकने के लिये बहुमत का प्रतिनिधात्मक शासन ही पर्याप्त है। मिल कहता है कि सिद्धातो और व्यक्तियो के अवगुण उनकी सफलता के बाद स्पष्ट होते है इसलिये प्रतिनिधात्मक प्रजातंत्र के दोष पिछली पीढी को उतने स्पष्ट नही थे जैसे मिल के सामने थे। 'लिबर्टी' मे इस संदर्भ मे वह लिखता है, 'स्व-शासन' और 'जनता की अपने ऊपर सत्ता' ऐसे वाक्याश सही पक्ष को व्यक्त नही करते। जनता जो सत्ता का प्रयोग करती है हमेशा वही जनता नही होती जिस पर यह सत्ता लागू की जाती है;" मिल का तात्पर्य यह है कि प्रतिनिधियो के द्वारा प्रजा पर या बहुमत के द्वारा अल्पमत पर उनकी इच्छा के विरुद्ध शासन न्यायसगत नही है। स्व-शासन के सम्बन्ध मे वह लिखता है, "स्व-शासन हर व्यक्ति के द्वारा अपने ऊपर शासन नही है बल्कि हर व्यक्ति पर अन्य सब के द्वारा।" इस कथन मे वह यही दर्शाना चाहता है कि प्रजातंत्र का सबसे बडा अवगुण बहुमत की स्वेच्छाचरिता है, "और इसके विरुद्ध भी उतनी ही सतर्कता की आवश्यकता है जितनी सत्ता के किसी भी दुरुपयोग के विरुद्ध।" मिल यह दर्शाने का प्रयत्न करता है कि जब समाज व्यक्ति पर अत्याचार करना चाहता है तो उसे राजनीतिक सस्थाओ की सहायता लेने की आवश्यकता नही रह जाती। सामाजिक अत्याचार सबमे अधिक हानिकारक होते है क्योंकि इनसे बचने के बहुत कम उपाय व्यक्ति के पास होते है। इस कारण से मिल केवल उदार शासन से संतुष्ट नही है बल्कि उदार समाज का भी निर्माण चाहता है, एक ऐसा समाज जिसमें हर व्यक्ति के विचारो की स्वतत्रता स्वीकार की जाती है और किसी को अपने विचार बदलने के लिये बाध्य नही किया जा सकता।

विचारो की स्वतत्रता का समर्थन अच्छे शासन की प्राप्ति के लिये नही किया गया बल्कि मिल का यह विश्वास है कि यह स्वतंत्रता राजनीति से अलग अपने आप मे भी मूल्यवान है। मिल का यह विश्वास था कि अच्छे चरित्र के निर्माण के लिये भी स्वतंत्रता आवश्यक है और सामाजिक जीवन के लिये भी लाभप्रद है। समाज के उचित विकास के लिये विचारो का विवाद आवश्यक है क्योकि यह सभव है कि विरोधी विचार

ही सत्य हो या उसमे सत्य का कुछ अंश हो; ऐसी स्थिति मे यदि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नही रही तो समाज को इस सत्य से वचित रहना होगा। यदि यह मान लिया जाय कि विरोधी विचार असत्य है तो भी विवाद अपने-आप मे भी लाभदायक है क्योकि विवाद के द्वारा सत्य का खंडन तो हो नही सकता बल्कि वह और भी स्पष्ट रूप में स्थापित हो जायगा तथा असत्य और भ्रमात्मक विचारो का खडन हो जायगा। इन तर्कों के अतिरिक्त मिल का यह विश्वास था कि सामान्य विवादो के द्वारा जाति का चरित्र ऊँचा उठता है। इन सब कारणो से यह आवश्यक है कि समाज मे विचारो के प्रति उदार सहिष्णुता दर्शाई जाय। जार्ज सेबाइन ने प्रारभिक उदारवादियो और मिल के दृष्टिकोण का अतर बहुत ही सुन्दर रूप मे प्रस्तुत किया है। "मिल ने जिसे पहिचाना और जिसे पुराना उदारवाद कभी नही देख सका था, यह सत्य था कि उदार शासन के पीछे उदार समाज होना चाहिये।"

विचारो की स्वतत्रता के तीन अर्थ हो जाते है - विश्वास की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति की स्वतत्रता और कार्य करने की स्वतत्रता। तीनो अधिकार एक ही वस्तु के विभिन्न रूप कहे जा सकते है। विचार स्वातंत्र्य का कोई अर्थ नही यदि हम उसे दूसरो के सामने प्रस्तुत न कर सके और कार्यरूप मे परिणित न कर सके। किन्तु जब विचारों को कार्य रूप मे परिणित करने का सवाल आता है तो कुछ सतर्कता आवश्यक हो जाती है और व्यक्ति के कार्य सीमित करना होते है। व्यक्ति के कार्य दो प्रकार के होते है; वह जो केवल कर्त्ता से ही सबध रखते है और वह जिनका परिणाम अन्य व्यक्तियो के जीवन को भी प्रभावित करता है। दूसरे वर्ग के कार्यो के सबंध मे अधिक सतर्कता की आवश्यकता है क्योकि किसी व्यक्ति को इस बात की स्वतत्रता नही दी जा सकती कि वह दूसरो को नुकसान पहुँचा सके। अन्य लोगो के जीवन या हितो की सुरक्षा के लिये स्वतंत्रता को सीमित किया जा सकता है। मिल लिखता है, "मानव जाति को अपने किसी अश की स्वतत्रता मे हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त करने का एक ही उद्देश्य हो सकता है—आत्मरक्षा।" यदि समाज किसी भी अकेले व्यक्ति के विचार का दमन नही कर सकता तो समाज के किसी भी छोटे से छोटे व्यक्ति को नुकसान से बचाने के लिये स्वतंत्रता पर बंधन भी लगाये जा सकते है। यह व्याख्या मिल को यद्भाव्यम् नीति की ओर ले जाती है। सामान्य रूप से राज्य को व्यक्ति के किसी कार्य मे हस्तक्षेप नही करना चाहिये। व्यक्ति के लाभ, विकास या सुख के लिये उसके कार्यो मे राज्य का हस्तक्षेप उचित नही। "किसी के आचरण का एकमात्र हिस्सा जिसके लिये वह समाज के प्रति उत्तरदायी है, वह है जो दूसरो से संबंध रखता है। जो हिस्सा स्वयं से संबंध रखता है उसमें उसकी स्वतंत्रता का अधिकार पूर्ण है।" इस स्वतंत्रता को और भी पूर्ण बनाने

के लिये मिल ने अपराधो को रोकने का अधिकार भी सीमित करना चाहा। वह इसे स्वीकार करता है कि हर राज्य को अपराध रोकने का भी अधिकार उसी प्रकार होता है जैसे अपराधी को दंड देने का। मिल को इस बात का भय था कि इस अधिकार का दुरुपयोग सबसे अधिक किया जा सकता है। यह बात स्मरणीय है कि राज्य की निवारक शक्तिया केवल कार्यो से सम्बन्ध रखती है विचारो से नही। मिल का यह विश्वास था कि घातक विचार समाज से अपने-आप निकल जायंगे। जैसे बाजार मे खोटा सिक्का नही चल सकता उसी प्रकार समाज मे खोटी विचारधारा नही चल सकती।

मिल के व्यक्तिवाद के तीन निष्कर्ष निकलते है। प्रथम, राज्य के कार्य क्षेत्र वृद्धि सामान्य रूप के स्वतंत्रता के लिये हानिकारक है। राज्य का प्रत्येक नया अधिकार व्यक्ति स्वतंत्रता का सीमाकन है। यह सीमांकन वही उचित कहा जा सकता है जहां अनिवार्य है। इस प्रकार मिल भी राज्य को आवश्यक बुराई मान लेता है। राज्य स्वतंत्रता का सीमाकन है, सीमाकन स्वयं एक बुराई है किन्तु अन्य सदस्यो की रक्षा के लिये आवश्यक हो सकता है। राज्य का कार्यक्षेत्र भी इसी व्याख्या से सीमित हो जाता है; वह मूलत. रक्षात्मक ही है। द्वितीय निष्कर्ष यह निकलता है कि मानव जीवन के व्यक्तिगत और सामाजिक क्षेत्रो मे अंतर है। राज्य को व्यक्तिगत क्षेत्र मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है और सामाजिक क्षेत्र मे राज्य के अधिकार सीमित हैं। मिल इस बात को भूल जाता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक क्षेत्रो का विभाजन कभी पूर्णरूप से स्पष्ट नही हो सकता। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है, इन्हे एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता और व्यक्ति के सभी कार्यो का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव समाज के अन्य सदस्यो पर हो सकता है। तीसरा निष्कर्ष यह है कि जीवन मे सबसे मूल्यवान वस्तु स्वतत्र चयन (Spontaneous Choice) है। हर व्यक्ति को अपने नैतिक विकास का मार्ग चुनने का अधिकार होना चाहिये। किसी बाह्य शक्ति के निर्देशन मे कार्य करने से स्वतत्र चयन का ह्रास होता है। हर निष्कर्ष मिल के व्यक्तिवाद और प्रजातंत्रवाद का आधार है।

जहा तक स्वतत्रता के समर्थन का सम्बन्ध है मिल के विचार अत्यत आकर्षक है और बहुत सुन्दर शब्दों मे मढे हुए है किन्तु उसमे तर्कबद्धता की कमी है। विशेष रूप से जब व्यक्तिगत स्वतत्रता को सीमित करने का प्रश्न आता है मिल की तार्किक कमजोरिया स्पष्ट हो जाती है। सामाजिक जीवन में स्वतंत्रता का अर्थ बन्धनहीन अवस्था से तो लगाया नही जा सकता, राज्य के अस्तित्व को मानने से इन्कार भी नही किया जा सकता किन्तु स्वाधीनता को सबसे अधिक भय राजनीतिक शक्ति के अतिक्रमण से ही है। इन कारणो से मिल को व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यो मे अंतर करना पड़ा।

इसके परिणाम स्वरूप मिल के सिद्धात मे एक आत्मविरोध आ जाता है। एक ओर तो वह समाज को एक सावयव संगठन मान लेता है जिसमे व्यक्ति के हित सामाजिक हितों मे ही निहित है और दूसरी ओर व्यक्ति को इसी सामाजिक एकता से अलग करना चाहता है।

मिल के सिद्धात की दूसरी कमजोरी यह है कि वह राज्य और विधि को स्वतंत्रता के वन्धनो के रूप मे देखता है व्यक्ति की उन्नति के सहायक के रूप मे नही। जिसका परिणाम यह होता है कि समाज के नियत्रण से स्वतत्रता अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है और समाज के प्रति दायित्व महत्वहीन हो जाता है। जार्ज मेवाइन के विचार से मिल के तर्क मे मौलिक भूल यह थी कि उसने कभी भी स्वतत्रता और उत्तरदायित्व के सम्वन्धो का विश्लेषण नही किया।" तुलनात्मक रूप से वेन्थम के विचार अधिक युक्तिसगत है क्योंकि वह अधिकारो को विधि पर आधारित मानता है। इस कमजोरी का परिणाम यह हुआ कि मिल विधि निर्माण का कोई निश्चित आधार प्रस्तुत नही कर सका। एक ओर तो वह राज्य के द्वारा अनिवार्य शिक्षा का समर्थन करता है तो दूसरी ओर मद्यनिषेध का विरोध करता है। यह तो स्वीकार नही किया जा सकता कि मद्यपान का प्रभाव व्यक्ति तक ही सीमित रहता है वल्कि इसका अनैतिक प्रभाव समाज पर भी पडता है। यही उलझन आर्थिक क्षेत्र मे भी वनी रहती है। उत्पादन के क्षेत्र मे मिल स्वतत्र प्रतियोगिता और अहस्तक्षेप को स्वीकार करने के लिये तैयार है किन्तु श्रमिको के स्वास्थ्य के लिये तथा वितरण के क्षेत्र मे नियमो के द्वारा नियत्रण का समर्थन करता है क्योकि इन वातो का सम्वन्ध संपूर्ण समाज से है।

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्वन्ध मे मिल के विचारो मे आयु के साथ परिवर्तन हुआ है। आरभिक वर्षो मे वह अहस्तक्षेप का समर्थक था। 'लिवर्टी' मे राज्य के हस्त-क्षेप का विरोध तीन आधारो पर किया गया है। प्रथम, अपने कार्य व्यक्ति स्वय अच्छी तरह समझता है और कर सकता है। द्वितीय, स्वाधीनता बौद्धिक और नैतिक विकास का एकमात्र मार्ग है, अंत मे राज्य के कार्यक्षेत्र मे वृद्धि करना हानिकारक हो सकता है। अपनी आत्मगाथा में मिल स्वयं यह स्वीकार करता है कि वाद मे उसे आशिक समष्टि-वाद स्वीकार करना पड़ा। इसका कारण वह स्वय यह दर्शाता है कि प्रारम्भ मे उसका विश्वास था कि जनसाधारण स्वाधीन होकर श्रेष्ठ व्यवहार करेगा किन्तु वाद मे उसे इस वात का अनुभव हुआ कि अशिक्षा और अज्ञान के कारण जनसाधारण मे स्वाधीन जीवन का महत्व ही नहीं समझा जाता। मिल यह स्वीकार करता है कि आरभिक दिनों में उसने वेन्थम और समकालीन उदारवादियो मे से आगे देखने का कभी प्रयत्न नही

किया । 'लिबर्टी' की रचना के समय और उसके बाद के वर्षों मे समष्टिवाद स्पष्ट होता गया । मिल लिखता है, "यद्यपि हमने व्यक्ति पर समाज के इस अत्याचार का विरोध सर्वाधिक शक्ति से किया जो अधिकाश समाजवादी व्यवस्था मे हो सकते है फिर भी हमारी नजरे एक ऐसे समाज की ओर लगी थी... ...जब श्रम की उत्पत्ति का वितरण अधिक न्यायसंगत रूप से होगा ।" इस आर्थिक व्यवस्था के लिये मिल भी विचारों की स्वतत्रता त्यागने के लिये तैयार नही है । यह स्वतत्रता तो उसके जीवन का एक अभिन्न अंग बन चुकी थी । इसके कारण उसे अपने कुछ मित्रो और सहयोगियो को भी त्यागना पड़ा तथा ससद का चुनाव भी हारना पडा किन्तु अपने व्यवहार और विचारों मे उसने इस स्वतंत्रता का समर्थन नही छोडा । राज्य को वह जो कार्य प्रदान करना चाहता था वे इस प्रकार है : अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध भी प्रदान किया जा सकता है क्योकि अशिक्षित पीढी समाज के लिये हानिकारक होगी । मिल यह विश्वास भी प्रगट करता है कि शिक्षा का प्रबन्ध व्यक्तिगत संस्थाओ की तुलना मे राज्य के द्वारा अधिक अच्छी तरह हो सकती है । वैज्ञानिक अनुसंधान और सामुद्रिक यातायात पर भी राज्य का नियत्रण होना चाहिये। सबसे आश्चर्यजनक बात आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप की है, व्यापार मे एकाधिकार को रोकने के लिये, श्रम के घंटे निर्धारित करने के लिये, उनके स्वास्थ्य का उचित प्रबन्ध करने के लिये राज्य को नियम बनाना चाहिये । इस हस्तक्षेप का समर्थन इस तर्क पर किया जा सकता है कि वह समाज के अनेक लोगो की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है । ऐसा प्रतीत होता है कि मिल के आरभिक व्यक्तिवाद और बाद के समष्टिवाद मे आत्मविरोध है । मिल का उद्देश्य तार्किक एकरूपता बनाये रखना नही था बल्कि सामाजिक उपयोगिता की उचित व्यवस्था करना और गतिशील समाज मे कोई स्थाई नियम निर्धारित नही किये जा सकते ।

प्रतिनिधात्मक शासन – प्रजातत्रात्मक शासन मे मिल ने दो समस्याओ का अध्ययन किया—बहुमत का अत्याचार और उचित प्रतिनिधित्व । 'रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेट' नामक पुस्तक मे मिल ने निर्वाचन व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन करने की आवश्यकता बतलाई है । प्रतिनिधि समाज के प्रति उत्तरदायी बने रहे इस उद्देश्य से बेन्थम ने भी वार्षिक निर्वाचन का प्रचार किया था किन्तु मिल अन्य दूसरे सुधारों का वर्णन करता है । वह प्रजातंत्र का समर्थक था और अन्य किसी व्यवस्था को उपयुक्त नही समझता था किन्तु फिर भी 'विशेष प्रतिभा' (Genius) के प्रति उसके हृदय में इतना सम्मान था कि वह उसे प्रजातंत्र के नाम में भी त्यागने के लिये तैयार नहीं था । इस प्रतिभा की सुरक्षा के लिये स्वतंत्रता की व्याख्या ही पर्याप्त नही थी बल्कि शासन में भी उचित परिवर्तन आवश्यक थे । पूर्ववर्ती उपयोगितावादियो ने "अधिकतम

सुख' के आधार पर जनतंत्र की आवश्यकता दर्शा दी थी किन्तु मिल के लिये प्रजातन्त्र उन्नति का साधन नही है वल्कि स्वय एक गुरण है। मिल इस बात को स्वीकार कर लेता है कि प्रजातन्त्र एक निपुरण शासन अनिवार्य रूप से नही है किन्तु प्रजातंत्र का महत्व शासन भी दक्षता मे नही वल्कि नैतिक विकास की सभावना मे है। चरित्र का श्रेष्ठतम विकास उसी समय हो सकता है जब व्यक्ति विना किसी बधन या अनिवार्यता के स्वेच्छा से अपने उत्तरदायित्व को समझे और उसे निभाये। वर्तमान समाज मे प्रतिनिधात्मक प्रजातन्त्र का कोई विकल्प नही हो सकता किन्तु इसे दोषहीन या आदर्श व्यवस्था मान लेना भी उचित न होगा। मिल इस व्यवस्था के दोषो से अवगत था, इनके प्रति हमे सतर्क करता है और इन्हे रोकने के उपाय भी वतलाता है।

सवसे पहले वह प्रतिनिधियो की मनमानी या ससद की तानाशाही से बचने का प्रयास करता है। यह स्वाभाविक है कि एक निर्वाचन के वाद और अगले चुनाव तक हम अपने प्रतिनिधियो पर नियत्रण खो देते है। इस अवधि मे प्रतिनिधियो की मनमानी से वचना आवश्यक है। मिल वार्षिक ससद से ही सहमत नही है वल्कि ससद के कार्यक्षेत्र को सीमित करना ही एकमात्र उपाय मानता है। जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली ससद भी विधेयन का सपूर्ण अधिकार नही रखती। विधियो का आधिक्य आत्मगत प्रेरणा और उत्साह के लिये हानिकारक है इसलिये कम से कम विधिया वनाई जानी चाहिये। शासन के कार्यो को वह दो वर्गो मे बाटता है—शासन का नियत्रण करना और शासन करना। मिल का यह विचार है कि ससद को सपूर्ण शासन पर या सपूर्ण सामाजिक जीवन पर नियत्रण तो रखना चाहिये किन्तु संपूर्ण शासन का सचालन नही करना चाहिये। मिल विधायिनी और कार्यकारिणी का अतर स्वीकार करते हुए कहता है कि प्रशासन स्थाई अधिकारियो का उत्तरदायित्व है। संसद को स्वय प्रशासन करने का प्रयत्न नही करना चाहिये वल्कि जो प्रशासन करते है उनका नियंत्रण और निर्देशन ही करना चाहिये। विधि निर्माण के सम्वन्ध मे मिल का विश्वास है कि संसद के साधारण सदस्य जिन्हे शासन या विधि निर्माण का विशेष ज्ञान नही है सही अर्थ मे कानून नही वना सकते। इसलिये एक ऐसे आयोग (Commission) की आवश्यकता है जो विधि का प्रारूप तैयार करके उसे संसद के सामने पेश करे किन्तु अतिम निर्णय ससद का ही होगा। यह आयोग मत्रिपरिषद के समान थोडे से सदस्यो का होना चाहिये। यह बात उल्लेखनीय है कि अधिकाश राज्यो मे मत्रिपरिषद ने स्वय ही यह उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया है। इस आयोग के संसद के प्रति उत्तरदायित्व को भी मिल स्वीकार करता है। संसद का सबसे बड़ा महत्व इस कारण से है कि वह सपूर्ण देश की जनता के

विचार और असंतोष की अभिव्यक्ति का माध्यम है। इसमे बहुमत ही नहीं बल्कि अल्पमत और विशेष प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति को अपने विचार प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है। जिनकी बात मानी नही जाती उन्हें इस बात का तो संतोष रहता है कि उनके विचार सुने गये और श्रेष्ठ तर्कों के द्वारा अस्वीकृत किये गये। प्रतिनिधात्मक शासन के पक्ष मे मिल दो तर्क स्वीकार करता है - व्यक्ति के अधिकारों और हितों की सुरक्षा उसी समय संभव है जब वह स्वयं उनके प्रयास करे और दूसरा समाज का अधिकतम विकास तभी संभव है जब हर व्यक्ति उसमें सक्रिय हिस्सा ले। संपूर्ण समाज के द्वारा सक्रिय शासन तो केवल नगर-राज्यों में ही संभव है, वर्तमान समाज मे शासन मे अधिकतम व्यक्तियो की रुचि प्रतिनिधात्मक शासन से ही प्राप्त की जा सकती है।

दूसरी समस्या है अल्पमत के हितो को बहुमत के अतिक्रमण से सुरक्षित करना। प्रजातंत्र बहुमत का शासन है और यह स्वाभाविक है कि अल्पमत के विरुद्ध बहुमत का निर्णय स्वीकार किया जाय किन्तु इस प्रकार का प्रबंध होना चाहिये कि हर अल्पमत को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके और हर विचार सुना जा सके। प्रजातंत्रों में सामान्य रूप से हम बहुमत को ही समाज मान लेने की भूल करते है। मिल के लिये अल्पमत के हित भी उतने ही महत्वपूर्ण है जितने बहुमत के। समाज का कोई वर्ग दूसरे वर्ग को हानि पहुँचाकर उन्नति नही कर सकता। समाज एक सावयव है जो अपने विकास के लिये किसी अग का बलिदान नही कर सकता। अल्पमत के हितो की सुरक्षा के लिये पहली आवश्यकता प्रतिनिधित्व की है। प्रचलित प्रणाली का दोष यह है कि दल के सदस्यो की सख्या मतदान के अनुपात मे नही होती। इस प्रकार के उदाहरण किसी भी निर्वाचन मे मिल जाते है। भारतीय निर्वाचन से यहा कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—लोक-सभा के निर्वाचन मे मध्यप्रदेश से जनसंघ को १०,६२,९३६ मत मिले पर सन् १९५७ के चुनाव मे एक भी स्थान नही मिल सका जबकि १९६२ के चुनाव मे ११,९७,९३५ मतों पर तीन स्थान मिल गये। इसी प्रकार प्रजा सोशलिस्ट को १९५७ मे १२,२५,७३५ मत मिले परन्तु कोई स्थान नही मिला जबकि १९६२ मे केवल ८,२४,६२७ पर तीन स्थान प्राप्त हो गये जबकि पहले चुनाव मे उन्हे १६ प्रतिशत और दूसरे में १२ प्रतिशत मत प्राप्त हुए थे। (Hindustan Times—March 11-1962) सभी वर्गों के मतो के अनुपात मे प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिये मिल ने अनुपातिक प्रतिनिधि प्रणाली (Proportional Representations) का समर्थन किया। 'रिप्रेजेन्टे-टिव गवर्नमेन्ट' के प्रशासन से दो वर्ष पहले टामस हेयर (Thomas Hare) ने अनु-पातिक प्रणाली और हस्तांतरणीय मत (Transferable Vote) का समर्थन किया था। मिल भी इसी व्यवस्था का समर्थन करता है और इस विचार के लिये हेयर की

प्रशंसा भी करता है। इस प्रणाली मे हर संभव हित को प्रतिनिधित्व भी मिल जाता है और कोई मत व्यर्थ नष्ट भी नही होता। इस प्रणाली मे सबसे बडा लाभ यह था कि मिल के समय मे शिक्षित वर्ग बहुत अल्पमत मे था और क्षेत्रीय व्यवस्था मे उनका निर्वाचन संभव नही था। इसलिये अनुपातिक प्रणाली के द्वारा देश के सभी शिक्षित लोग अपनी संख्या के अनुपात मे अपने प्रतिनिधि चुन सकेगे।

बेन्थम की तरह मिल भी मताधिकार की प्राप्ति के लिये लिखने-पढने की योग्यता को आवश्यक मानता है बल्कि इसके आगे गणित का ज्ञान भी आवश्यक मानता है। मतदाताओं की सूची बनाते समय उनसे किसी अधिकारी के समक्ष एक वाक्य लिखवाया जाय तथा त्रैराशिक का सवाल कराया जाय। यह भी आवश्यक है कि जिस सदन को कर लगाने का अधिकार है वह करदाताओ के द्वारा ही चुना जाय। मिल को इस बात का सदेह था कि जो स्वय कर नही देते ऐसे लोगो मे अपव्यय और अधिक कर लगाने की मनोवृत्ति रहेगी। वह लिखता है, "इसका अर्थ होगा उन व्यक्तियो को दूसरे की जेब मे हाथ डालने का अधिकार किसी भी ऐसे कार्य के लिये दे देना जिसे वे लोककार्य कहते है।" इसके अतिरिक्त बुद्धिमान वर्ग को वह बहुल मत (Plural vote) भी प्रदान करने के लिये तैयार है। बहुमत हमेशा अशिक्षित और कम शिक्षित लोगो का होता है जो केवल सख्या के आधार पर समाज के श्रेष्ठ और बुद्धिमान लोगो के साथ मनमानी कर सकता है। इसी समस्या के कारण प्लेटो को दार्शनिक राजा की कल्पना करना पडी थी किन्तु मिल प्रजातत्र का समर्थक था अत. केवल बहुल मत से ही संतुष्ट हो जाता है। यह बात भी स्मरणीय है कि यहा भी मिल के मस्तिष्क में यही विचार कार्य कर रहा है कि उसने बचपन से जो घोर बौद्धिक परिश्रम किया हैं उसके कारण उसका स्थान व महत्व दूसरे लोगो से अधिक होना चाहिये। शिक्षा, बुद्धि प्रतिभा और योग्यता के आधार पर लोगो को एक से अधिक मत दिये जा सकते हैं, अधिक से अधिक पाच मत तक एक व्यक्ति को प्रदान किये जा सकते है। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र मे प्रतिभाशाली वर्ग को उचित महत्व प्रदान किया जा सकता है, अयोग्य व बुद्धिहीन व्यक्तियो की मनमानी पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। वर्तमान समय मे इस तरह के विचार अप्रजातात्रिक और समानता के विरोधी कहे जायगे किन्तु आज भी हम यह सुनकर निरुत्तर हो जाते है कि प्रजातत्र मे हम सिरो की गणना करते है उनके अंदर क्या है यह नही देखते।

मिल के हृदय मे प्रतिनिधि शासन को शुद्ध करने की इच्छा बहुत तीव्र थी यह उसके द्वारा दर्शाये गये सुधारो से स्पष्ट हो जाता है। सबसे अधिक-सतर्कता इस बात की

की होनी चाहिये कि कोई वर्ग के साथ अन्याय न कर सके। वह स्त्री मताधिकार का समर्थन करता है और ससद में भी उसने इस उद्देश्य के लिये आवाज उठाई। केवल स्त्री होने के कारण उनसे उन्नति करने का अधिकार नहीं छीना जा सकता। समाज के निर्माण मे स्त्रियो और पुरुषो का योग समान है। राजतंत्र के संबंध मे मिल ने कोई विचार व्यक्त नही किये जिससे यह अर्थ निकलता है कि वह बेन्थम की तरह राजतंत्र का विरोधी नही था किन्तु लार्ड सभा का समर्थन उसने स्पष्ट शब्दो मे किया है। लार्ड सभा को ससद के द्वितीय सदन के रूप मे ही कार्य करना चाहिये। संसद सदस्यो को वेतन दिये जाने का वह विरोध करता है। प्रतिनिधियो पर न तो किसी प्रकार का आर्थिक दवाव होना चाहिये न उन्हे कोई आर्थिक प्रलोभन ही होना चाहिये। आर्थिक प्रलोभन से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि चुनाव मे प्रत्याशी स्वयं कोई व्यय न करे बल्कि सारा खर्च राज्य के द्वारा किया जाना चाहिये। बेन्थम और जेम्स मिल के विरोध में उसने गुप्त मतदान (Secret Ballot) का भी विरोध किया। जॉन मिल का यह विश्वास था कि प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था और उसके सभी साधन अपने-आप में नैतिक गुण है। मतदान भी एक उत्तरदायित्व है और चारित्रिक विकास मे महत्वपूर्ण हिस्सा रखता है। गुप्त मतदान प्रणाली मे चरित्र की कमजोरी झलकती है कि व्यक्ति में अपने विचार दूसरो के सामने प्रस्तुत करने का साहस नही है। मिल का यह विचार है कि समाज मे अनेक अनावश्यक विचारधारायें चलती रहती है। हमे मिल का यह विचार आश्चर्यजनक दिखाई देता है। क्योकि हम गुप्त मतदान को निष्पक्ष और सही निर्वाचन के लिये आवश्यक मानते है। हमे यह भय है कि खुले मतदान में रिश्वत, लालच, प्रभाव और धमकी का साम्राज्य होगा। किन्तु यह तो मिल के तर्क का ही समर्थन है क्योकि हम चरित्र की इन कमजोरियो को छिपाने के लिये ही गुप्त मतदान अपनाते है। मूल अंतर यह है कि हम मतदान को अधिकार मानते है जिसके कारण व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार मत देने की स्वतंत्रता मिल जाती है चाहे यह इच्छा सही हो या नही। गुप्त मतदान मे व्यक्ति विना सोचे-समझे मत प्रदान कर देता है क्योकि वह समझता है कि सही गलत का प्रश्न कभी उत्पन्न ही नही हो सकता। मिल मतदान को एक उत्तरदायित्व मानता है इसलिये इसकी पूर्ति सार्वजनिक रूप से होनी चाहिये ताकि यह निश्चित किया जा सके कि हम अपना उत्तरदायित्व किस प्रकार निभाते है। मिल का यह विश्वास था कि खुले मतदान मे शिक्षित मतदाताओ के कारण निर्वाचन की सभी बुराइया समाप्त हो जायगी। आनेवाले वर्षो ने तथा प्रजातंत्र के व्यापक विकास ने मिल के इस विचार का खडन किया।

समाज विज्ञान—अत मे जॉन स्टुअर्ट मिल के समाज विज्ञान सम्बन्धी

विचारो का उल्लेख करना भी आवश्यक हो जाता है। मिल से पहले इंगलैंड के राज दर्शन मे समाज का वैज्ञानिक अध्ययन नही किया गया था। पूर्ववर्ती उपयोगितावाद के समाज दर्शन में दो कमजोरिया रह गई थी। वेन्थम और अनेक सहयोगी सामाजिक और राजनीतिक जीवन मे विभिन्न संस्थाओ को कोई महत्व नही देते। उनके लिये व्यक्तिगति प्रेरण और सामाजिक व्यवहार के बीच अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नही है। दूसरी सभी सामाजिक विकास की अवहेलना है। संस्थाओ को भूल जाने के कारण ये विचारक यह भी नही देख सके कि समाज का विकास एक निश्चित रूप मे होता है। वास्तविकता तो यह है कि समाज दर्शन का यह रूप जिसे हम इतिहास दर्शन (Philosophy of History) कहते है, यूरोप के महाद्वीप पर बन रहा था। जर्मनी मे हीगेल और उनके समर्थको ने तथा फ्रास मे आगस्ट काम्त (August Comte) ने इतिहास के विकास को निश्चितरूप मे व्यक्त करने का प्रयत्न किया था। मार्क्स के विचारो मे इसे और भी वैज्ञानिक रूप दिया गया। यह विश्वास किया जाता है कि मिल ने इन यूरोपीय विचारो का प्रभाव कॉलरिज (Coleridge) से ग्रहण किया। प्रारम्भिक जीवन के कठोर मानसिक परिश्रम से मिल का मानसिक विकास अत्यत शुष्क रूप मे हुआ था जिसके कारण बीस वर्ष की आयु में उसको बौद्धिक विकार हो गया जो वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) और कॉलरिज की भावुक रचनाओ के अध्ययन से ठीक हुआ। इसी बीच डार्विन (Darwin) के जैविक विकास के सिद्धांत के प्रचार से इतिहास दर्शन को अधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

मिल ने स्वय इतिहास दर्शन की किसी नई प्रणाली का निर्माण नही किया तथा प्रचलित सिद्धातो मे कोई वृद्धि नही की। उसने केवल यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि सामाजिक और राजनीतिक अध्ययन मे हमे इस बात को नही भूल जाना चाहिये कि वर्तमान व्यवस्था एक निश्चित विकास का परिणाम है। मिल यह स्वीकार करता है, "मानव मस्तिष्क की सभाव्य प्रगति का निश्चित क्रम है··· "एक ऐसा क्रम जिसे शासन और सार्वजनिक शिक्षक कुछ हद तक बदल सकते है, अनिश्चित सीमा तक नही, राजनीतिक सस्थाओ के सभी प्रश्न सापेक्ष है सपूर्ण नही और मानव प्रगति की विभिन्न अवस्थाओ मे भिन्न सस्थाये होगी और होनी चाहिये। शासन हमेशा समाज के सर्वशक्तिमान के हाथ मे रहता है अथवा जा रहा है, · ··· · राजनीति का कोई सामान्य सिद्धात या दर्शन, मानव विकास के सिद्धात की पूर्व सभावना पर आधारित है, और यही इतिहास दर्शन है।" इतिहास की व्याख्या मे मिल जर्मन आदर्शवादियो और मार्क्स के विचारों से सहमत नही है। वह इस बात को स्वीकार नही करता कि सामाजिक विकास का कोई निश्चित और स्थाई नियम है जिसके आधार पर प्रत्येक परिवर्तन को समझाया जा सके बल्कि हर अवस्था मे परिवर्तन के कारण अलग होते है। दूसरी बात यह है कि यह-

कारण मनुष्य की बुद्धि मे पाये जाते है, मनुष्य से अलग नही। सामाजिक परिवर्तन पर वातावरण का प्रभाव होता है किन्तु मनुष्य वातावरण के द्वारा संचालित कठ-पुतली नही है वल्कि स्वयं इस वातावरण का निर्माता है। मिल का समाज दर्शन पूर्व-गामी उपयोगितावादियो के व्यक्तिवादी और अनुभववादी मनोविज्ञान पर आधारित है। इतिहास दर्शन स्वीकार कर लेने पर भी मिल अनुभववादी मनोविज्ञान को त्यागने के लिये तैयार नही है इसलिये उसका नियतिवाद (Determinism) समकालीन यूरोपीय नियतिवाद से भिन्न है। मिल का नियतिवाद मनोवैज्ञानिक कारण और परिणाम (Cause and effect) की व्याख्या पर आधारित है। कारण और परिणाम का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मिल को इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि हर सामाजिक व्यवस्था का कारण समूह की मनोवृत्ति मे होना है और समूह के विचारो मे परिवर्तन होने से समाज के, स्वरूप सस्थाओ और प्रथाओ मे परिवर्तन हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन का स्पष्टीकरण वातावरण मे नही वल्कि व्यक्ति के मनोविज्ञान मे मिलता है। मिल इस बात को स्वीकार करता है कि सामाजिक जीवन की प्रत्येक अवस्था पिछली अवस्था का परिणाम है किन्तु यह भी मानता है कि फ्रास के ऐतिहासिक विचारको की सबसे बड़ी भूल यह है कि उन्होने इस परिवर्तन का भौतिक या प्राकृतिक नियम खोजने की कोशिश की। 'सिस्टम आफ लाजिक' मे वह फ्रांसीसी विचारको की इस भावना का खडन करते हुए लिखता है कि परिवर्तन का नियम 'केवल अनुभववादी नियम ही हो सकता है। मानव बुद्धि और मानव समाज की अवस्याओ के क्रम का अपना कोई स्वतंत्र नियम नही हो सकता ; यह उन मनोवैज्ञानिक और चारित्रिक (Ethnological) नियमो पर निर्भर रहता है जो मनुष्य पर परिस्थितियो के और परिस्थितियो पर मनुष्य के प्रभाव को निर्दे-शित करता है।'' मिल का यह विश्वास है कि समाज मे अनुभववादी नियम निश्चित किये जा सकते है और उनके आधार पर इतिहास की व्याख्या की जा सकती है।

समाज के अध्ययन मे मिल ने आगमनात्मक और निगमनात्मक प्रणालियों का प्रयोग समानरूप से किया है। मिल से पहले उपयोगितावाद निगमनात्मक (Deductive) तर्क पर आधारित था किन्तु मिल यह मानता है कि राजनीतिक और सामाजिक नियम मानव व्यवहार के नियमो से ही प्राप्त किये जा सकते है जिसके लिये केवल आगमनात्मक (Inductive) प्रणाली ही प्रयोग मे लाई जा सकती है। राजनीतिक घटनाओ का विश्लेषण करने के लिये हमे निगमनात्मक प्रणाली का सहारा लेना होगा। तर्क प्रणाली कुछ भी रही हो मिल ने यह बात स्पष्ट कर दी कि हम चाहे वर्तमान समाज की व्याख्या कर रहे हो या समाज के विकास की खोज, मनोवैज्ञानिक नियम और बौद्धिक शक्तियो के आधार पर ही यह संभव है। वर्तमान राजनीति मे मिल के विचारो की उपयोगिता कम

हो जाने पर भी हम उसके महत्व को कम नही कर सकते। उसने अपना दर्शन दो ऐसे सिद्धातो के प्रभाव में शुरू किया जो दोनो मरणासन्न थे। उपयोगितावाद मिल के बाद ही समाप्त हो गया और यद्भाव्यम् भी कुछ वर्षो के बाद त्याग दिया गया और प्रजातंत्र की वर्तमान कल्पना 'पुलिस राज्य' की नही बल्कि 'कल्याणकारी राज्य' की है। मिल को स्वयं जीवन के बाद के वर्षो मे इन दोनो सिद्धातो की निरर्थकता का आभास हो गया इसलिये उपयोगितावाद की चर्चा ही उसने छोड दी और राज्य के कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने का समर्थन करने लगा। मिल का महत्व इसलिये बना रहता है कि उसने व्यक्ति स्वतंत्रता की जो व्याख्या की वह हमारे लिये आज भी महत्व रखती है। विचारो की स्वतंत्रता ही वर्तमान प्रजातत्रो का आधार है। यह भी स्वीकार करना होगा कि मिल सत्यनिष्ठ और तीव्र प्रजातंत्रवादी था जो प्रत्येक अवगुण से परिचित था और दूर करना चाहता था। मिल के सुधारो से हम भले ही सहमत न हो किन्तु जो अवगुण उसने बतलाये उन्हे हम आज भी स्वीकार करते है और उनके प्रति निरंतर सतर्कता की आवश्यकता मानते है। मिल के सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक विचारो को त्याग देने पर वर्तमान प्रजातत्रवाद के आधार मे से हम बहुत कुछ खो देगे।

—:o—

अध्याय १६

हर्बर्ट स्पेन्सर

(१८२०-१६०३)

[Herbert Spencer : 1820-1903]

इतिहास की तारीखो के क्रम को छोड़कर मिल के वाद स्पेन्सर का अध्ययन ही आवश्यक है क्योकि स्पेन्सर के साथ व्यक्तिवाद का एक नया रूप हमारे सामने आता है। स्पेन्सर भी मिल की तरह वेन्थम और दूसरे दार्शनिक उग्रवादियो स प्रभावित था किन्तु उसकी विचारधारा एक नई दिशा मे वहती है। वैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता को स्वीकार कर लेने के वाद भी मिल केवल मनोवैज्ञानिक साधनों तक ही सीमित रह गया इसके विपरीत स्पेन्सर ने जीवशास्त्र के माध्यम से अपने अध्ययन को वैज्ञानिक वनाने का प्रयत्न किया। उपयोगितावादी मनोविज्ञान पुराना पड़ चुका था और उसे स्वीकार भी नही किया जाता था। उदारवाद के लिये नये आधार की आवश्यकता थी, स्पेन्सर ने उसे जैविक विकासवाद का आधार प्रदान किया। व्यक्तिवाद को स्पेन्सर ने सावयव सिद्धात के आधार पर एक नया रूप प्रदान किया और सावयव सिद्धात का भी अधिक व्यापक और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

स्पेन्सर का जन्म १८२० मे डर्वी मे हुआ था। उसके पिता एक शिक्षक, राजनीतिक सुधारक और धार्मिक अंधविश्वासो के विरोधी थे। राजनीति मे वे उग्र व्यक्तिवाद के समर्थक थे और हर्वर्ट स्पेन्सर लिखता है कि उसके पिता "किसी व्यक्ति के सामने अपनी टोपी नही उतारते थे।" हर्वर्ट का आरंभिक शिक्षण वहुत ही अव्यवस्थित रहा और पिछले कुछ अध्यायो मे वर्णित विचारको की तरह वह किसी विश्वविद्यालय मे नही गया। अपनी जीवनी मे वह लिखता है, "वाल्यकाल मे या युवावस्था मे मैंने एक भी अंग्रेजी का पाठ नही पढा।" दार्शनिक उग्रवाद स्पेन्सर को अपने पिता के जीवन से ही मिला। अध्ययन की ओर उदासीन होने के कारण १३ वर्ष की आयु मे उसे चाचा के पास पढने के लिये भेजा गया। हर्वर्ट के चाचा भी एक शिक्षक थे और कठोर अनुशासन मे विश्वास करते थे। असंतुष्ट हो कर हर्वर्ट वहा से भाग निकला और अति न्यून आधार पर पिता के घर तक लंवी यात्रा की—पहले दिन

४८ मील, दूसरे दिन ४७ मील और तीसरे दिन बीस मील। किन्तु उसे फिर से चाचा के पास जाना पड़ा जहा तीन वर्ष तक उसने अध्ययन किया। स्पेन्सर की दार्शनिक पृष्ठभूमि वहुत ही कमजोर थी किन्तु उसने अपने विचारो का निर्माण स्वयं के अवलोकन से, क्लब के विवादों से और पत्रिकाओ के अध्ययन से किया। अपनी जीविका के लिये स्पेन्सर ने रेल्वे मे सर्वेयर और डिजाइनर (Surveyor and Designer) के रूप मे कार्य किया। अपने सभी कार्यों के प्रति स्पेन्सर का दृष्टिकोण प्रयोगवादी और अनुसधानवादी था, यहा तक कि अपने भोजन के साथ भी वह प्रयोग किया करता था। कुछ दिन तक शुद्ध शाकाहारी रहने के बाद, कमजोर हो जाने के कारण उसने सामिष भोजन आरंभ कर दिया।

स्पेन्सर के विचार ४० वर्ष के गहन परिश्रम और एकाकी जीवन की देन है। उसकी अभिव्यक्ति वहुत सरल थी और तर्कशक्ति अद्वितीय, जिसमे निगमनात्मक और आगमनात्मक दोनो प्रणालियो का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है। कठिन विपय को सरलतम रूप मे प्रस्तुत करने की क्षमता उसमे थी, जो कदाचित आरंभिक जीवन मे गहन अध्ययन के अभाव के कारण विकसित हो गई थी। उसने दार्शनिक गुत्थियो को इतने सुन्दर रूप मे प्रस्तुत किया कि कई वर्षो तक दर्शन का अध्ययन एक सामान्य शौक वन गया। गरीब और अमीर सभी उसके विचारो का अध्ययन करते थे और उनमे अपनी भावनाओ को प्रतिविम्वित पाते थे। मेक्सी तो यहा तक मानते हैं, "अपने समय मे किसी दार्शनिक की इससे वड़ी छाया नही पडी और भावी युग को किसी ने इतनी बडी चुनौती नही दी।" फिर भी स्पेन्सर का प्रमुख उद्देश्य नये सिद्धातो का निर्माण नही था वल्कि प्रचलित विचारो का सकलन और समन्वय, क्रेन व्रिन्टन ने तो उसे 'विचारो का विक्रेता' ही कह दिया है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में स्पेन्सर ने सवसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसने अपना उद्देश्य पहले से निर्धारित कर लिया और केवल ऐसे ही तथ्यो का सकलन किया जो इस उद्देश्य के अनुकूल थे।

स्पेन्सर का विचारक्षेत्र वहुत विस्तृत था और भौतिकशास्त्र, जीवशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि अनेक विपयो पर उसकी रचनाये उपलब्ध है। स्पेन्सर ने १८४२ मे 'नान्-कन्फर्मिस्टे' (Non Conformist) नामक अखबार मे लिखना शुरू किया। यह पत्र राजनीतिक सुधारो का और उदारवाद का समर्थक था। 'दि प्रापर स्फीयर आफ गवर्नमेन्ट' (The Proper Sphere of Government) का पहला लेख इसी पत्र मे प्रकाशित हुआ। स्पेन्सर स्वय राजनीतिक सुधारवाद मे रूचि और सक्रिय हिस्सा लेने लगा। १८४८ में उसने 'इकानामिस्ट' नामक पत्र के संपादक के रूप मे कार्य करना शुरू किया और यही उसका संपर्क टामस हाग्किन

(Thomas Hodgskin) से हुआ, जिनसे उसने अनेक प्रभाव प्राप्त किये। १८५१ में उसकी प्रमुख पुस्तक 'सोशल स्टेटिक्स' (Social Statics) प्रकाशित हुई जिसने उसे इंगलैंड के साहित्यिक जगत मे निश्चित स्थान प्रदान कर दिया। १८५७ में मनोविज्ञान पर और १८६२ मे दर्शन पर 'फर्स्ट प्रिन्सिपिल्स' (First Principles) की रचना हुई। इस दूसरी पुस्तक ने स्पेन्सर की प्रतिष्ठा को बहुत नुकसान पहूँचाया और उसे अनीश्वरवादी कहा जाने लगा। इसके अतिरिक्त' 'स्टडी आफ सोशालाजो' (Study of Sociology) के आठ खंडो की रचना भी उसने की। १८८८ में राजनीतिक सिद्धातो पर 'मेन वर्सेज दि स्टेट' (Man verses the State) प्रकाशित हुई।

स्पेन्सर के विचारो पर अनेक प्रभाव पड़े यद्यपि वह स्वयं यह दावा करता है कि उसके सभी विचार मौलिक है तथा उसने स्वयं के अनुभव व परिश्रम से अपने सिद्धातो का निर्माण किया। यह बात सही है कि स्पेन्सर ने महान् दार्शनिको के श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया था किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि उसको प्रचलित विचारो का ज्ञान नही था। वास्तविकता यह है कि उसने अनेक समकालीन लेखकों को पढ़ा जिनमे कॉलरिज भी शामिल था। कॉलरिज के माध्यम से उसने जर्मन आदर्शवाद का प्रभाव ग्रहण किया। उसका कार्यक्षेत्र यांत्रिक होने के नाते प्राकृतिक जगत का प्रभाव उस पर बहुत था और प्राकृतिक परिवर्तन के नियमो का अवलोकन अवश्य किया था किन्तु इस क्षेत्र मे भी उस पर कुछ लेखको का प्रभाव था। मिल की 'सोशल स्टेटिक्स' डार्विन की 'ऑरिजिन आफ स्पेशीज' (Origin of Species) से ९ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुकी थी, जिसके कारण उसके विकासवाद पर डार्विन का प्रभाव नही बतलाया जा सकता है, किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि विकासवाद १९ वीं शताब्दी मे व्याप्त था, केवल राजनीति मे नहीं बल्कि हर क्षेत्र मे। हीगेल, मार्क्स, कान्त, मिल किसी न किसी रूप मे विकासवाद को सामाजिक अध्ययन मे स्थान दे चुके थे। इतिहास दर्शन की स्थापना हो चुकी थी। भौतिक जगत मे भी विकास का क्रम खोजने के प्रयत्न किये जा रहे थे और यह प्रभाव उसने वॉन बायर (Von Baer) तथा लेमार्क (Lamarck) से ग्रहण किये प्रतीत होते है।

सावयव राज्य—स्पेन्सर का संपूर्ण समाज दर्शन विकासवाद पर आधारित है, और यह विकास समन्वयवादी है। आतरिक शक्तियो और बाह्य वातावरण का समन्वय निरन्तर हो रहा है और यही सभ्यता के विकास को निर्धारित करता है। स्पेन्सर ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि अंतिमरूप से सभी विकास भौतिक तत्वो पर आधारित है। विकास का आरम्भ स्थल शक्ति (Energy) है जो स्व-स्थापित सत्य है और संपूर्ण भौतिक जगत मे व्याप्त है। शक्ति और प्रकृति की अंतर्क्रिया से जीवन, बुद्धि

समुदाय, सभ्यता समाज का विकास हुआ है । सपूर्ण दृष्य जगत मे विकास का एक निश्चित क्रम दृष्टिगोचर होता है जो दो विरोधी शक्तियो से निर्धारित होता है । एक शक्ति परिवर्तन की ओर ले जाती है और दूसरी परिवर्तन को रोकती है—गति और स्थायित्व । "वस्तु (Matter) का एकीकरण (Integration) और साथ ही गति (Motion) का विघटन (Dissipation) विकास का क्रम निर्धारित करता है । इस विकास मे हर वस्तु "एक अनिश्चित और असंबद्ध सजातीयता (Homogeneity) से निश्चित, सवद्ध विजातीयता (Hetrogeneity) की ओर विकास कर रही है । विकास का यह क्रम केवल भौतिक जगत मे ही नही है बल्कि बौद्धिक और सामाजिक जगत मे भी है । इसी आधार पर अनुभूति और स्मृतिया ज्ञान मे, ज्ञान विज्ञान और दर्शन मे, कुटुम्ब कबीलो, नगरो, राज्यो और अधिक श्रेष्ठ व व्यापक सस्थाओ मे विकसित होता है । स्पेन्सर ने इसी आधार पर सामाजिक विकास को इस प्रकार समझाया है कि सामाजिक सगठन व्यक्तिरूपी असबद्ध इकाइयो के सबद्ध होने से होता है । मानव शरीर एक सगठित इकाई है जो अन्य इकाइयो से असबद्ध है किन्तु जीवन की गति उसे अन्य लोगो के सपर्क मे लाती है । उसकी गतिशीलता सीमित होती जाती है, वह समाज का अग बन जाता है और समाज असमान तत्वो का सगठन अथवा सबद्ध सजातीयता बन जाता है । स्पेन्सर का यह विश्वास है कि समाज का सगठन जितना अधिक बढता जाता है सदस्यो की पारस्परिक असमानताये उतनी ही अधिक बढती जाती है । प्रारंभिक अवस्था मे जीवन अधिक सरल था इसलिये असमानताये बहुत कम थी ; सभ्यता के विकास के साथ जटिलताये बढती गई और व्यक्तिगत असमानताये । इसी आधार पर समाज 'विभिन्नताओ मे एकता' (Unity in diveısıty) है ।

'प्रिन्सिपिल्स आफ सोशालाजी' मे स्पेन्सर का यही तर्क है कि हर क्षेत्र में विकास का एक निश्चित नियम पाया जाता है और वही प्रक्रियायें समाज के विकास पर भी लागू होती है । समाज के अध्ययन मे हम सामान्य रूप से इन प्रक्रियाओ को भूल जाते है क्योकि व्यक्तिगत दृष्टिकोण को हम बहुत अधिक महत्व देते है । बड़े व्यंगात्मकरूप से स्पेन्सर यह कहता है कि समाजशास्त्र और राजनीति ऐसे विषय है जिनके सम्बन्ध मे हर व्यक्ति अपने विचार व्यक्त करना चाहता है । बिना किसी दार्शनिक पृष्ठभूमि के और बिना कोई आकड़े इकट्ठे किये लोग इन विषयो के बारे मे चर्चा करने लगते है । स्पेन्सर ने बड़े परिश्रम से आकड़े संकलित किये और उन्ही के आधार पर विचारो का निर्माण किया ।

स्पेन्सर राज्य और समाज को सावयव एकता मानता है क्योकि इनका विकास

वल्कि अंग सम्पूर्ण शरीर के लिये कार्य करता है, जिसके परिणाम स्वरूप राज्य साध्य बन जाता है और व्यक्ति साधन । विकासवाद से प्रभावित होने के साथ-साथ स्पेन्सर शासकीय नियंत्रण का विरोधी भी था । यह प्रभा उसे अपने पिता से और वातावरण से मिला । औद्योगिक विकास के परिणाम स्वरूप यद्भाव्यम् नीति लोकप्रियता की चरम सीमा पर थी और राज्य को एक पुलिस कर्मचारी के रूप में चित्रित करना सामान्य वात थी ।

व्यक्ति की कार्य करने की शक्ति और चिन्तन शक्ति एक पूर्वमान्य सत्य है जिस पर व्यक्तिवाद का सिद्धान्त आधारित है । इस आधार पर और विकासवाद के माध्यम से स्पेन्सर करीव-करीव उन्ही निष्कर्षो पर पहुँचता है जिनका अनुमोदन मिल ने किया था । व्यक्तिगत क्षमताओ का स्वतंत्र प्रयोग न केवल व्यक्ति के लिए वल्कि सम्पूर्ण समाज के लिये हितकारी है । स्पेन्सर व्यक्तित्व के दो पक्ष स्वीकार करता है— आंतरिक और वाह्य । आतरिकरूप उस क्षमता से संपन्न है जो पूर्णता की प्राप्ति की ओर ले जाती है । इस क्षमता का प्रयोग करने के लिये व्यक्ति स्वतंत्रता चाहता है । वाह्यरूप से व्यक्ति इतना विवेकशील है कि वह जो अधिकार अपने लिये चाहता है वह दूसरो को देने के लिये तत्पर रहता है । व्यक्ति का विकास या पूर्णता अन्य व्यक्तियो के हितो या सपूर्ण समूह के हितो के विरुद्ध नही है वल्कि उनसे संवद्ध है तथा कोई व्यक्ति दूसरो का विरोध करके स्वय पूर्णता प्राप्त नही कर सकता । प्रकृति की योजना मे विकास का क्रम वातावरण के प्रति अनुकूलन (adoptations) से निर्धारित होता है, जो पौधे वातावरण के अनुकूल नही वन पाते वे मुरझा जाते है । इसी प्रकार व्यक्ति भी अपने वातावरण (जिसमे समाज के अन्य सदस्य भी शामिल है) के विरुद्ध विकास नही कर सकता । हर व्यक्ति स्वभाव से ही अपने-आप को साथ रहनेवाले दूसरे व्यक्तियो के अनुकूल वनाने का प्रयास करता है, इसलिए व्यक्ति-स्वतंत्रता आवश्यक है और यह स्वतत्रता समाज मे रहनेवाले हर व्यक्ति के लिये समानरूप से आवश्यक है । वार्कर के शब्दो मे, "ऐसी स्वतंत्रता जो संवास के कारण इस सीमा तक संशोधित होती है कि उसे प्रत्येक सदस्य के लिये समान होना आवश्यक है—सवास के ऐसे अनन्य नियम के रूप मे प्राप्त होती है जिससे अन्य समस्त नियम प्रवाहित होते है और उन्हे जिसके अनुरूप होना चाहिये । स्वतंत्रता शासन की पूर्वमान्य स्थिति हे , यही उसका प्रतिमान है ।" स्वतत्रता स्वत. तो आवश्यक है ही, वह सभी सामाजिक अधिकारो का स्रोत भी है । शासन न्यायसगत उसी समय कहा जा सकता है जव वह नागरिको को अधिक से अधिक स्वतंत्रता-प्रदान करे, और यह स्वतंत्रता सभी नागरिको को समानरूप से

प्रदान करे अन्यथा वह वर्ग हितो का समर्थक बन जायगा। इससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि राज्य के अभाव मे स्वतंत्रता अधिकतम होगी या प्रकृति से अनुकूलन श्रेष्ठतम होगा। राज्य के अभाव मे स्वच्छदता हो सकती है जो स्थायी नही रह सकती क्योकि एक व्यक्ति दूसरे की स्वतत्रता का अतिक्रमण कर सकता है। इसके विपरीत राज्य व्यक्ति की स्वच्छदता का सीमाकन करके प्रत्येक व्यक्ति की स्वतत्रता को सुरक्षित व सुनिश्चित बना देता है। व्यक्ति की प्राकृतिक अनुकूलन की शक्तियो को निर्बाधरूप से कार्य करने का अवसर देने के लिये यह आवश्यक है कि राज्य व्यक्ति के व्यवहार पर कम से कम नियंत्रण रखे। राज्य का हस्तक्षेप उसी समय न्यायसगत कहा जा सकता है जब एक व्यक्ति के कार्य से समाज के अन्य किसी व्यक्ति को हानि होने की संभावना हो। इस प्रकार सावयव राज्य की व्याख्या करते हुए स्पेन्सर उन्ही निष्कर्षो पर पहुँचता है जिनका समर्थन मिल ने उपयोगितावाद के माध्यम से किया।

स्पेन्सर उन उग्र व्यक्तिवादियो मे से है जो राज्य के कार्यक्षेत्र को न्यूनतम करना चाहता है। आक्रमण और अशाति से रक्षा करना और वैधानिक अनुबन्ध लागू करना ही राज्य का कार्य है। राज्य एक सयुक्त-स्कन्द-प्रमडल (Joint Stock Company) के समान है जिसका उद्देश्य पारस्परिक स्वाधीनताओ की सुरक्षा करना है। स्पेन्सर राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते के द्वारा तो नही मानता किन्तु राज्य स्वय एक समझौता है जो समान स्वतंत्रता के उद्देश्य से किया गया है। किसी व्यक्ति को राज्य से विशेष सहायता की आशा नही करना चाहिये। बार्कर लिखते हैं, "यदि राज्य मुझे कुछ अतिरिक्त प्रदान करता है तो यह उसी समय सभव है जब वह मुझसे कुछ अतिरिक्त प्राप्त कर सकता है और इस अर्थ मे यह सहायता उस अतर्भूत समझौते का खंडन करता है।"

राज्य के द्वारा धर्म प्रचार, दरिद्रो की सहायता, सार्वजनिक स्वाथ्य या उत्पादन और वितरण के नियमो का निर्माण उचित नही है। मिल के विपरीत स्पेन्सर राज्य के द्वारा शिक्षा के प्रवन्ध का भी विरोध करता है। उसका विश्वास है कि शिक्षा के अभाव मे भी बालक अपनी क्षमताओ का प्रयोग तथा अपना विकास कर सकता है, इसलिए शिक्षा प्रदान करना राज्य का दायित्व नही है। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा नियत्रित शिक्षा रूढ़िवादी होगी और प्राकृतिक विकास के अनुकूल नही होगी। स्पेन्सर इस तर्क को भी स्वीकार नही करता कि अशिक्षा या अज्ञान के कारण अपराधो की मात्रा बढती है। जिस प्रकार पिता अपने बालक के लिये दूध और भोजन खरीदने का अधिकार रखता है उसी प्रकार उसे शिक्षा का भी स्वतंत्र अधिकार होना चाहिए। शिक्षा के सम्बन्ध मे

मिल और स्पेन्सर के विचारों की भिन्नता आत्मगत दिखती है। कठोर और व्यापक शिक्षक मे विकसित मिल शिक्षा को ही श्रेष्ठता का आधार मानता है तो उच्च शिक्षा से वचित होने पर भी साहित्यिक जगत मे स्थान प्राप्त कर लेने वाला स्पेन्सर उसे अनावश्यक मानता है। स्पेन्सर मे यह विश्वास जीवन पर्यान्त बना रहा कि उसके विचारो की मौलिकता अध्ययन की कमी और सर्वेक्षण की प्रचुरता के कारण है।

स्पेन्सर यह विश्वास करता है कि प्राकृतिक अनुशासन की कठोरता हर व्यक्ति को अच्छा कार्य करने की प्रेरणा देती है। प्रकृति से हर व्यक्ति अच्छी वस्तु का चुनाव करता है, जिसे प्राकृतिक चयन का सिद्धांत कहा जाता है। राज्य का सहयोग और हस्तक्षेप प्राकृतिक चयन के विपरीत है। अपनी उन्नति के लिये व्यक्ति स्वयं जो प्रयत्न करता है वह राज्य के प्रयत्न से अधिक श्रेष्ठ होता है। स्पेन्सर के विचार यहा पर 'योग्यतम के अस्तित्व' के सिद्धात से मिलते हैं जो प्रभाव उसने माल्थस से ग्रहण किया। प्रकृति के अनुशासन मे यह स्वाभाविक है कि जो योग्य नही है और जो प्रयास नही करता वह पीछे रह जाता है, और जो पीछे रह गया वह समाप्त हो जाता है। इसलिये राज्य के सहयोग के अभाव मे हर व्यक्ति अपनी शक्तियो का अधिकतम प्रयोग करेगा और अधिक उन्नति करेगा, यदि राज्य अयोग्य की सहायता करता है तो प्राकृतिक अनुशासन को भंग करता है तथा वातावरण के साथ व्यक्ति के सही अनुकूलन को रोकता है।

प्राकृतिक अधिकार—सामाजिक समझौते के सिद्धांत को अस्वीकार करते हुए भी स्पेन्सर ने प्राकृतिक अधिकारो को स्वीकार किया है। बार्कर का यह विश्वास है कि प्राकृतिक अधिकारो मे विश्वास करना अंग्रेजो का जातीय लक्षण है जो आसानी से नही डिग सकता। उन्होंने इसके दो कारण स्वीकार किये हैं—धार्मिक असहमति (Dissent) और आर्थिक क्षेत्र मे यद्भाव्यम्। असहमति स्पेन्सर को विरासत मे मिली और यद्भाव्यम् वातावरण से। असहमति राज्य के नियत्रण से धार्मिक संस्थानो की स्वतंत्रता और धार्मिक संस्थानो के नियंत्रण से व्यक्ति की स्वतंत्रता। यह विश्वास अपने-आप हमे प्राकृतिक अधिकारो की ओर ले जाता है; ऐसे अधिकार जो राज्य के नियंत्रण से ऊपर हैं। स्मिथ और रिकार्डो ने आर्थिकक्षेत्र मे स्वतंत्रता का किया और आर्थिक क्रियाओ की स्वाधीनता तथा स्वतंत्र प्रतियोगिता मे विश्वास ब्रिटिश विचारधारा का स्थाई लक्षण बन चुका था। [illegible] क है ही, ने आर्थिक स्वतंत्रता को भी प्राकृतिक अधिकारो के अंतर्गत शामिल करना चाहा। स्पेन्सर [illegible] जा कि प्राकृतिक अधिकारो का आधार जीवन शक्ति की मान्यता है; यदि जीवित रहने की [illegible] वह मानता है [illegible] स्वतं योग्यता सभी में है तो हर व्यक्ति को अपनी

योग्यता और शक्तियो को क्रियान्वित करने का अधिकार होना चाहिये। प्राकृतिक अधिकार 'अपनी क्षमताओ का उपयोग करने का सामान्य दावा' है जो प्रत्येक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति से करता है तथा हर दूसरे व्यक्ति को प्रदान करता है। इन्हे प्राकृतिक अधिकार दो कारणों से कहा गया है। यह अधिकार समाज से पूर्व है क्योकि जीवन की क्षमता और जीवन का अधिकार समाज से पूर्व है। इन्हे प्राकृतिक कहने का दूसरा कारण यह है कि ये मनुष्य के अंतर्हित गुण है (inherent qualities) है, उन्नतिशील जीवन की आधारभूत परिस्थितिया है। प्राकृतिक अधिकारों को मान्यता देने का अर्थ है सामान्य जीवन की परिस्थितियो की स्थापना करना। स्पेन्सर ने प्राकृतिक अधिकारो की कोई सूची प्रस्तुत नही की बल्कि निषेधात्मक रूप मे इनकी स्थापना की। राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित है—रक्षा करना तथा अनुबन्धो की मान्यता बनाये रखना; शेष कार्यों मे व्यक्ति स्वतंत्र है जब तक वह किसी दूसरे व्यक्ति का हानिकारक कार्य नही करता। प्राकृतिक अधिकारों की सूची बनाने की कोई आवश्यकता नही बल्कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित कर देना पर्याप्त है।

भू-सम्पत्ति के सबन्ध मे स्पेन्सर के विचार स्वत: विरोधी प्रतीत होते है। आरंभ मे वह भूमि पर राज्य के नियत्रण का समर्थक था किन्तु बाद मे उसने अपने विचार बदल दिये और इस बात का समर्थन किया कि भूमि की रक्षा परिवार के द्वारा ही हो सकती है और उसी स्थिति मे जब उस परिवार को यह विश्वास हो कि वह भूमि उसकी संतान को ही प्राप्त होगी। फिर भी भूमि पर व्यक्ति को सपूर्ण अधिकार दिया जाना उचित नही है क्योकि इसका परिणाम भूमिहीन वर्ग का निर्माण हो सकता है। स्पेन्सर यह तर्क प्रस्तुत करता है कि स्वतंत्रता की समानता को स्वीकार कर लेने का अर्थ होता है भूमि पर हर व्यक्ति का समान अधिकार स्वीकार करना। यह उस विचार का बीजारोपण है जो ग्रीन के सिद्धांत मे स्पष्ट हुआ—अन्य संपत्ति को राज्य के नियत्रण से स्वतंत्र मानते हुए भू-संपत्ति को नियत्रित मानना। स्पेन्सर के आधार ग्रीन से भिन्न है और उसका निष्कर्ष भी अलग है। स्पेन्सर यह स्वीकार करता है कि भूमि से जो उपज होती है उस पर व्यक्ति का पूर्ण अधिकार होता है तथा उसने समाज से यह अधिकार प्राप्त कर लिया है। स्पेन्सर यह मान लेता है कि भूमि मे अपना श्रम मिलाने से पहले ही व्यक्ति समाज की स्वीकृति प्राप्त कर लेता है अन्यथा वह श्रम मिलायेगा ही नही।

मिल से बहुत पहिले ही उसने स्त्री मताधिकार का समर्थन किया। सामाजिक जीवन की स्वतत्रता का समर्थन वह इस सीमा तक करता है कि बालको को भी परिवार के कठोर नियत्रण से स्वतंत्र करना चाहता है। परिवार के अनुशासन को वह स्वीकार

नही करता तथा वालकों को माता-पिता के नियंत्रण से स्वतंत्र करना चाहता है क्योंकि ऐसे नियंत्रण से वालको का प्राकृतिक अनुकूलन सही रूप मे नही हो पाता। ऐसा प्रतीत होता है कि स्पेन्सर कदाचित अपने चाचा के उस कठोर नियंत्रण के विरुद्ध विद्रोह कर रहा है जिसके कारण उसे लौटकर पिता के घर जाना पड़ा था। माता-पिता का कार्य भी राज्य की ही तरह रक्षात्मक हो जाता है।

राज्य का मूल कार्य हर व्यक्ति को न्याय प्रदान करता है। वेन्थम के सुधारो से आगे वढकर स्पेन्सर यह चाहता है कि व्यक्ति को न्याय निःशुल्क प्राप्त होना चाहिये अन्यथा लोग दरिद्र व्यक्तियों पर अन्याय करते रहेंगे क्योकि उसमे न्याय का मूल्य चुकाने की क्षमता नही है। इसी आधार पर स्पेन्सर निर्वाचित प्रजातंत्रो में भी अविश्वास प्रगट करता है। उसको यह संदेह है कि जहां निर्णय वहुमत के द्वारा लिये जाते है वहा अल्पमत के साथ अन्याय होगा। वह वर्गो के प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है क्योकि सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार केवल वहुमत के अधिकारो का रक्षक है संपूर्ण समाज के अधिकारो का नही ; किन्तु यह स्मरणीय है कि समाजवाद के समर्थक इस विचार का भी विरोध करते है। समाजवादियो का यह विचार है कि सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार भी विशाल दरिद्र जन-समूह के उत्थान के लिये पर्याप्त नही है और निर्वाचित प्रजातंत्रों का इतिहास भी यह वतलाता है कि दरिद्र वहुमत से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नही है। स्पेन्सर का यह विश्वास है कि सर्वव्यापी न्याय की प्राप्ति उचित औद्योगिक विकास से ही हो सकती है क्योकि पूर्णरूपेण औद्योगिक समाज मे व्यक्तिगत स्वार्थ समाप्त हो जायंगे।

अंत में राज्य के अस्तित्व के संवंध में स्पेन्सर के कुछ विचार 'एथिक्स' के द्वितीय भाग से प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है। वह विश्वास करता है कि जो राज्य प्राकृतिक चयन और श्रेष्टतम के अस्तित्व के नियम को त्याग देता है उसका शीघ्र ही अंत हो जायगा। इस तर्क की पुष्टि परिवार के उदाहरण मे की गई है क्योकि समानता के सिद्धात का अधिकतम समर्थन परिवार की व्यवस्था मे ही मिलता है। स्पेन्सर लिखता है, "वाल्यकाल मे प्राप्त लाभांश कार्यक्षमता के विपरीत अनुपात मे होता है......वयस्क होने के वाद लाभांश क्षमता के अनुपात में ही होना चाहिये......यदि वालको का लाभाश क्षमता के अनुपात मे होगा तो मानव जाति समाप्त हो जायगी।" प्रजाति के संचालन के लिये यह आवश्यक है कि हम अपने शिशु की रक्षा करें और उसके विकसित होने का प्रवन्ध करे। उसमे उत्पादन की क्षमता न होने पर भी उसके जीवन की आवश्यकताओं का प्रबंध करना होगा। इसके ठीक विपरीत यह भी स्वीकार किया गया, "यदि वयस्को

मे लाभांश अक्षमता के अनुपात मे दिया जाने लगा तो अवनति के फलस्वरूप कुछ पीढियों के वाद प्रजाति का अंत हो जायगा।" प्राणि जगत का यह नियम मानव जगत में लागू करते हुए स्पेन्सर कहता है कि कमजोर, अपग और अयोग्य लोगो की सहायता अंततः सामाजिक प्रगति के लिये हानिकारक है। इसका अर्थ होगा अयोग्य वर्ग पर साधनो का अनावश्यक व्यय और योग्य वर्ग को साधनो से वंचित करना।

राज्य के प्रकार—स्पेन्सर दो प्रकार के राज्यो का उल्लेख करता है—सैनिक राज्य और औद्योगिक राज्य। एकतंत्र, कुलीनतंत्र और प्रजातंत्र का विभाजन उचित नहीं है, न ही मूल अंतर पर आधारित है। स्पेन्सर ने वर्गीकरण का आधार उस भावना को माना जो राज्य अपने विकास के प्रति रखता है क्योकि उसके लिये हर वस्तु का जीवनाधार (Raison d-elate) विकास का सिद्धांत ही है। इस आधार पर पहला वर्ग उन राज्यो का है जो अपने विकास के लिये युद्ध की भावना पर आश्रित है जिन्हे 'सैनिक राज्य' या 'लडाकू राज्य' कहा जा सकता है। दूसरे वर्ग मे वे राज्य आते है जो अपनी उन्नति के लिये औद्योगिक उत्पादन पर निर्भर है। सैनिक राज्य की भावना एकतंत्रात्मक होती है चाहे शासन का स्वरूप कुछ भी हो। इस प्रकार का राज्य शक्ति पर आधारित होते है और राज्य से नागरिको का सहयोग अनिवार्य और शक्ति द्वारा बाध्य होता है। इस प्रकार के राज्यो को वह अपूर्णता और पिछड़ेपन की निशानी मानता है। यह राज्य मानव जाति के सही विकास मे सहायक नही हो सकते। "उच्च श्रेणी के राज्य की सभावना युद्ध का अत हो जाने पर निर्भर है।" स्पेन्सर का यह विश्वास है कि औद्योगीकरण से युद्ध की सभावना कम हो जायगी। विशाल उद्योगो के निर्माण से व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक शक्तिया उत्पादन की दिशा मे लग जाती है और युद्ध की ओर से उनका ध्यान हट जाता है। औद्योगिक राज्य का स्वरूप प्रजातंत्रात्मक और शातिप्रिय होता है। औद्योगीकरण से नई आर्थिक शक्तिया उत्पन्न होती है और राज्य मे शक्ति का वितरण स्वाभाविक हो जाता है। राज्य पर किसी निश्चित वर्ग या व्यक्ति का आधिपत्य नही रह जाता। अधिक उत्पादन के लिये स्वतंत्रता आवश्यक हो जाती है और प्राचीन शक्ति-प्रधान-व्यवस्था समाप्त हो जाती है। पूंजी के अंतर्राष्ट्रीय विस्तार और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से राज्यो की अतर्निर्भरता वढ जाती है और अंतर्राष्ट्रीय शाति अधिक आवश्यक हो जाती है किन्तु बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे दो विश्वयुद्ध इस तर्क का खडन करते है।

युद्ध की समाप्ति से सामाजिक जीवन पर भी वहुत अधिक प्रभाव होगा। पाशविक भावनाओ मे कमी होगी, वहुपत्नी प्रथा समाप्त हो जायगी, क्योकि उसका

यह विश्वास है कि युद्ध के कारण पुरुष का औसत जीवन स्त्री के औसत जीवन से कम हो जाता है इसीलिये बहुपत्नी प्रथा रहती है। इस परिवर्तन से स्त्रीजाति का उत्थान होगा और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा व कार्यक्षमता बढ़ जायगी। शांति की स्थापना से राज्य की शक्ति क्रमशः कम होती जाती है और व्यक्ति की स्वतंत्रता बढ़ती जाती है। सैनिक राज्य मे व्यक्ति राज्य के लिये होता है और औद्योगिक राज्य में राज्य व्यक्ति के लिये।

समाजवाद सैनिक राज्य का ही रूप है क्योंकि समाजवाद मे शक्ति का केन्द्रीयकरण, व्यक्ति-स्वतंत्रता का ह्रास और शासन की शक्ति मे वृद्धि स्वाभाविक है। वह लिखता है "इन परिस्थितियों मे एक नया कुलीनतंत्र उत्पन्न होगा जिसे जनता का समर्थन प्राप्त होगा; और जो केन्द्रित होने के कारण अत्यधिक शक्तिशाली होगा जो शक्ति भूतकाल के किसी कुलीनतंत्र को नही रही।" स्पेन्सर का यह संदेह वर्तमान साम्यवादी राज्यो मे कितना सही सिद्ध हुआ है यह स्वतः स्पष्ट है। स्पेन्सर मानता है कि आर्थिक और राजनीतिक क्रियाओ मे मौलिक अंतर है जिसके कारण दोनो क्षेत्रों को मिलाया नही जा सकता। आर्थिक व्यवस्था राजनीतिक व्यवस्था की अपेक्षा अधिक जटिल है। इन दोनों के मिश्रण से आर्थिक व्यवस्था मे असंतुलन, स्वतन्त्रता का ह्रास और शक्तिशाली नौकरशाही का निर्माण होगा। स्पेन्सर समकालीन व्यवस्था के दोषों से अनभिज्ञ नही था किन्तु उसका विश्वास था कि यह कमजोरियां अपने-आप दूर हो जायंगी। सामाजिक विकास की यह अंतिम अवस्था नही है बल्कि अभी अधिक श्रेष्ठ अवस्था आनेवाले है। वह लिखता है, "जिस प्रकार लड़ाकू और औद्योगिक राज्यो का अंतर इस विश्वास को, कि व्यक्ति राज्य के लाभ के लिये जीवित है, इस प्रकार उलट देने से होता है कि राज्य व्यक्ति के लाभ के लिये है; उसी प्रकार औद्योगिक प्रकार और आनेवाले प्रकार मे अंतर इस विश्वास को, कि जीवन श्रम के लिये है, इस प्रकार बदल देने से होता है कि श्रम जीवन के लिये है।" इन शब्दो में यह आशा छिपी है कि वर्तमान समाज मे जो कुछ लोग उत्पादन पर अधिकार जमाये बैठे है और स्वयं कोई श्रम नही करते उनको स्वयं श्रम करने की प्रेरणा मिलेगी और यह अधिकार अधिक लोगो मे वितरित हो जायगा।

स्पेन्सर ने नैतिकता के प्रश्न का अध्ययन भी इसी आधार पर किया है। सर्वश्रेष्ठ आचरण का अर्थ है स्वयं को जीवन की पूर्णता के अनुकूल बनाना। वातावरण के प्रति सर्वाधिक अनुकूलन ही नैतिकता का मापदंड है। मनुष्य अपने-आप को कहां तक

समाज के अनुकूल बना सकता है यह इस बात पर निर्भर है कि उसमे कहा तक असमानताओ के अनुकूल बनने की शक्ति है, क्योकि समाज असमानताओ का सगठन है। स्पेन्सर यह मानता है कि आचरण के निर्णय मे जैविक आवश्यकताओं का प्रभाव बहुत अधिक होता है इसीलिये भिन्न समाजो मे नैतिक मापदंड भिन्न होते है। सामूहिक जीवन पर सामाजिक संगठन के स्वरूप का प्रभाव बहुत अधिक होता है। सैनिक राज्य मे वीरता, बल, साहस आदि पर अधिक जोर दिया जाता है। अनेक कबाइली और आदिवासी जातियो मे हत्या, डकैती आदि को अनैतिक नही माना जाता बल्कि कई लडाकू जातियां कृषि, व्यापार और श्रम को अपमानजनक समझती है। इसके विपरीत औद्योगिक समाजो में मानवता, उदारता, दया, सहानुभूति इत्यादि गुणो को प्रधानता दी जाती है और शक्ति प्रयोग तिरस्कृत किया जाता है। किन्तु स्पेन्सर यह नही जानता था कि कुछ ही वर्षो बाद दुनिया की औद्योगिक शक्तियां व्यापार के विस्तार के लिये सारी दुनिया को युद्ध की आग मे झुलस देंगी।

हर्बर्ट स्पेन्सर ही एक ऐसा दार्शनिक है जिसने अपने ही जीवन काल मे अपनी लोकप्रियता भी देखी और लोकप्रियता को समाप्त होते भी देखा। जीवन के अंतिम वर्षो मे उसे सभी वर्गो का विरोध सहना पड़ा। अनुचित निष्कर्षो के कारण समकालीन वैज्ञानिको ने उसका विरोध किया। धर्म और रूढियो के समर्थक उसके भौतिकवाद के कारण विरोधी बन गये ; यहाँ तक कि उदारवादी भी उससे सतुष्ट नही थे। उदारवाद के नाम मे उसने राज्य के कार्यक्षेत्र को इतना सीमित कर दिया जैसा पहले कभी कल्पना नही की गई थी, यहाँ तक कि टकसाल और डाक व्यवस्था को भी उसने राज्य के नियंत्रण से अलग करना चाहा। मेवाइन ने तो स्पेन्सर को प्रतिक्रियावादी कहा है क्योकि "वह उस समय भी दार्शनिक उग्रवादी बना रहा जब कि दार्शनिक उग्रवाद एक पीढी पहले मृत हो चुका था।"

स्पेन्सर ने अपने विचारो की पुष्टि करने के लिये प्राणिविज्ञान का सहारा अवश्य लिया और उसके द्वारा इतिहास दर्शन की ओर जाने का भी प्रयास किया किन्तु उसकी प्रणाली न तो वैज्ञानिक थी न ऐतिहासिक। उसने वैज्ञानिक और ऐतिहासिक तर्को का प्रयोग केवल पूर्वमान्य सत्यो को सिद्ध करने के लिये ही किया है। सावयव सिद्धांत का खडन अनेक प्रकार से किया जा चुका है। स्पेन्सर ने इस समानता का उपयोग व्यक्तिवाद का समर्थन करने के लिये किया, किन्तु वह राज्य और शरीर की समानता मे इतना उलझ गया कि अपना मूल उद्देश्य भूल गया। दो सावयवो के

अध्याय २०

हीगेल

(१७७०-१८३१)

(Hegel : 1770-1831)

पाश्चात्य राजदर्शन मे हीगेल के साथ आदर्शवाद की एक नई शाखा का आरंभ होता है जिसे जर्मन आदर्शवाद या उग्र आदर्शवाद कहा जाता है। रूसो के सिद्धात मे समुदाय की एक इच्छा-शक्ति की कल्पना की गई और इसी इच्छा को मानव के लिये उचित, नैतिक और स्वतत्र इच्छा कहा गया। इसी आधार पर कान्ट ने एक नैतिक इच्छा की कल्पना की और इसी इच्छा के आधार पर हीगेल ने राजनीति दर्शन मे एक नये आदर्शवाद को जन्म दिया जिसमे राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर' का रूप दिया गया। हीगेल का दर्शन अत्यन्त भावात्मक, क्लिष्ट और उलझा हुआ है और उसके निष्कर्ष भी आज नि.संकोच रूप से स्वीकार नही किये जा सकते किन्तु फिर भी हीगेल राज-दर्शन के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुका है। जर्मनी मे आदर्शवाद का प्रचार, द्वन्दवाद और इतिहास-दर्शन हीगेल की प्रमुख देन है। हीगेल ने सबसे पहले यह स्पष्ट किया कि मानव सभ्यता के विकास का भी एक निश्चित सिद्धात है, इतिहास का भी एक दर्शन है। इसी विचार से प्रभावित होकर मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की।

जर्मन आदर्शवाद १८ वी शताब्दी के आदर्शवाद और फ्रांस की राज्यक्रांति के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। रूसो की युवावस्था फ्रास की राज्यक्राति के उद्वेलित कर देनेवाले दिनो मे गुजरी। इस क्राति से उसे कुछ समय तक सहानु-भूति थी, जो उस पीढी के नवयुवको मे सामान्य बात थी किन्तु बाद मे उसमे इस क्राति के विचारो के प्रति प्रतिक्रिया हुई। संपूर्ण यूरोप के राजनीतिक विचारो मे परिवर्तन हो रहा था; प्राकृतिक अधिकार, सामाजिक अनुबध और क्राति के विचारों की लोक-प्रियता समाप्त हो रही थी। फ्रास मे क्राति के बाद भी स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की स्थापना नही हो सकी; और जनसाधारण के हितो के अनुकूल प्रजातंत्र की स्थापना नही हो सकी। इङ्गलैण्ड मे राजमुकुट की शक्तियो को सीमित कर देने के बाद भी जन-

साधारण को संतोप नही मिल सका। मेषसी के शब्दों मे "उन्नीसवी शताब्दी ने क्राति को अराजकता और प्रतिक्रिया मे पतित होते देखा ; प्रजातंत्र को स्वयं अट्ठारहवीं शताब्दी के आदर्शो से धोखा करते देखा"। परिणाम स्वरूप संपूर्ण यूरोप के राजनीतिक विचारों मे तीव्र गति से परिवर्तन हुआ। इङ्गलैंड मे उपयोगितावादियों ने प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धात के विरुद्ध सर्वाधिक सुख का मापदंड प्रस्तुत किया और यूरोप मे दर्शन का नेतृत्व जर्मनी को प्राप्त हो गया जिसने आदर्शवाद का एक नया स्वरूप प्रस्तुत किया। फ्रेच क्राति के वाद शीघ्र ही उन सारे विचारो का अंत हो गया जो क्राति से पहले क्रातिवाद और स्वतत्रतावाद के आधार माने जाते थे, इसलिये जार्ज सेवाइन ने फ्रेन्च क्रांति को "एक बौद्धिक और राजनीतिक युग का अंत" माना है। जर्मन विचारकों ने रूसो के आदर्शवाद को उसकी रोमाटिक शैली निकालकर ग्रहण कर लिया जिसका परिणाम हीगेल का सिद्धात हुआ। राज्य की इच्छा शक्ति वनी रही किन्तु व्यक्तिगत इच्छा का महत्व रोमाटिक शैली के साथ ही समाप्त हो गया और व्यक्ति राज्य का दास वन गया।

हीगेल ने आदर्शवाद का सिद्धात कान्ट (Immanuel Kant) और फिक्टे (Fichte) से ग्रहण किया। जिस समय हीगेल उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिये विश्वविद्यालय पहुँचा जर्मनी के बौद्धिक और शैक्षणिक जगत मे इन दोनो विचारकों का प्रभाव वहुत अधिक था। यह दोनो विचारक विश्वविद्यालयीन प्राध्यापक थे। कान्ट कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय मे आध्यात्मदर्शन का प्राध्यापक था और उसका मूल क्षेत्र आध्यात्म-दर्शन (Metaphysics) ही था राजनीति नही ; फिर भी उसने मनुष्य की नैतिक इच्छा (Moral Will) का उल्लेख किया है जो रूसो की यथार्थ इच्छा (Real Will) के समरूप है। हर मनुष्य के लिये इसी इच्छा का पालन करना हितकर है क्योंकि यही शुद्ध व सर्वव्यापी इच्छा है। कान्ट के विचारो में राज्य का आदर्शीकरण और व्यक्ति-स्वतंत्रता का ह्रास उस मात्रा मे नही हुआ जैसे हीगेल के सिद्धांत में। आदेशात्मक प्रेरणा (Categorical Imperative) के आधार पर कान्ट ने एक विश्वव्यापी नैतिक विधि की कल्पना की तथा मानव स्वतंत्रता और अधिकारो को इसी विधि पर आधारित माना।

फिक्टे के विचार व्यक्ति स्वतंत्रता के विरोधी और अधिनायकवाद के अधिक निकट है। फिक्टे भी मूल रूप से आध्यात्म दार्शनिक था और उसने कान्ट के विचारो की रचना करनी चाही किन्तु वाद के वर्षो मे वह कान्ट के व्यक्तिवाद से क्रमशः दूर होता गया और राज्य के सर्वाधिकारी (Totalitarian)

स्वरूप का समर्थक बन गया। फिक्टे के लिये व्यक्ति का विवेक सर्वव्यापी विवेक का ही एक अंश है तथा सर्वव्यापी विवेक ही अंतिम सत्य है, जो ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नही। विश्वव्यापी इच्छा के पालन मे ही स्वतंत्रता निहित है और इसका विरोध स्वतन्त्रता का विनाश है। हीगेल का सिद्धात फिक्टे के इन्ही विचारों से प्रभावित दिखता है। फिक्टे के बाद हीगेल को एक ही काम रह गया था कि इस सर्वव्यापी इच्छा को राज्य और शासक की इच्छा के अनुरूप बतलाये। फिक्टे के अनुसार राज्य का प्रमुख उत्तरदायित्व व्यक्तिगत इच्छा और सर्वव्यापी इच्छा मे एकीकरण स्थापित करना है, जो बाह्य परिस्थितियो के परिवर्तन तथा आतरिक शक्तियो के निर्माण से होता है। फिक्टे ने सत्तावाद और राष्ट्रवाद का समर्थन किया।

हीगेल का जन्म २७ अगस्त १७७० मे को स्टुटगार्ट के एक सपन्न परिवार में हुआ था। १८ वर्ष की आयु मे उसने धर्मशास्त्र (Theology) का अध्ययन करने के लिये विश्वविद्यालय मे प्रवेश किया। १७६० मे उसने दर्शन मे उपाधि प्राप्त की और १७६३ मे धर्मशास्त्र का प्रमाण-पत्र। हीगेल अच्छे छात्रो मे होते हुए भी विशेष प्रतिभाशाली छात्रो मे नही था और जब उसने विश्वविद्यालय छोडा तो शिक्षकों के विचार मे वह दर्शन मे कमजोर था। विश्वविद्यालय से निकलकर उसने व्यक्तिगत शिक्षक (Private tutor) के रूप मे अपना जीवन आरभ किया और बर्न तथा फ्रेन्कफर्ट मे रहा। १७६६ मे पिता की मृत्यु के पश्चात् उसने विश्वविद्यालय मे शिक्षक का स्थान प्राप्त करने की कोशिश की। १८०१ मे जेना (Jena) विश्वविद्यालय मे उसे दर्शन और तर्कशास्त्र के ट्यूटर (Tutor) का स्थान मिल गया और १८०५ मे यहीं पर वह प्राध्यापक बन गया। १८०६ मे फ्रांस ने जर्मनी पर आक्रमण किया और हीगेल ने जेना का युद्ध स्वयं अपनी आँखो से देखा। इस घटना ने हीगेल के विचारो को प्रभावित किया जैसा कि नेपोलियन को व्यापक इच्छा का प्रतीक मानने से स्पष्ट हो जाता है। इस आक्रमण के कारण जेना विश्वविद्यालय टूट गया और हीगेल को एक पत्र के सपादक के रूप मे कार्य करना पडा। १८०८ से १८१६ तक वह न्यूरेम्बर्ग के एक विद्यालय (Gymnesium) के प्रधान के रूप मे कार्य करता रहा। १८०७ मे उसने 'फिनायिनालाजी आफ स्पिरिट' (Phenomenology of Spirit) प्रकाशित हुई और १८१६ मे 'साइन्स आफ लाजिक' (Science of Logic)। दोनों पुस्तको के प्रभाव का अन्तर इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि पहली के प्रकाशन के बाद भी ८ वर्ष तक हीगेल एक माध्यमिक विद्यालय मे ही बना रहा और दूसरी पुस्तक

के प्रकाशन से उसे एर्लान्जेन (Erlangen), वर्लिन और हीडेलवर्ग (Heidelberg) में प्राध्यापक का पद ग्रहण करने के लिये आमंत्रित किया गया। हीगेल ने हीडेलवर्ग जाने का निर्णय किया। इसी समय Encyclopaedia of Philosophical Sciences प्रकाशित हुई जिसमें उसने संपूर्ण दार्शनिक पद्धतियों का विवेचन किया है। इन रचनाओं के परिणाम स्वरूप जर्मनी के बौद्धिक जगत मे हीगेल की प्रतिभा स्वीकार कर ली गई और १८१८ में फिक्टे की मृत्यु के वाद वर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के प्रधान के रूप मे वुला लिया गया। १८२१ में 'फिलासफी आफ राइट' (The Philosophy of Right) और मरणोपरान्त १८३७ में 'फिलासफी आफ हिस्ट्री' (Philosophy of History) प्रकाशित हुई। १४ नवम्बर १८३१ को उसकी मृत्यु हैजे के कारण हो गई। उसके विचारों का प्रभाव मृत्यु के वाद भी यूरोप और पाश्चात्य जगत के विचारो पर वना रहा। सवसे महत्वपूर्ण वात यह है कि हीगेल का प्रभाव केवल आदर्शवादी दार्शनिको पर ही नही हुआ वल्कि अन्य विचारधाराओं पर भी हुआ जो आपस में विरोधी है—मार्क्सवाद तथा फासीवाद दोनों हीगेल से प्रभावित हैं। हीगेल ने दो विचारो का समन्वय करना चाहा द्वन्दवाद और राष्ट्रवाद और राष्ट्रीयराज्य को द्वन्दवाद पर आधारित माना किन्तु आनेवाले युग में यह विरोधी सिद्धांत वन गये। एक ओर मार्क्स तथा उसके समर्थक द्वन्दवाद का समर्थन करते हैं और राष्ट्रीयतावाद का विरोध तो दूसरी ओर फासीवादियों ने राष्ट्रवाद को स्वीकार किया तो द्वन्दवाद को तिलांजलि दे दी।

अध्ययन के दृष्टिकोण से आदर्शवाद सामान्यत. एक कठिन सिद्धांत माना जाता है क्योकि उसका आधार भावात्मक है ठोस नही। हीगेल की रचनाओं में यह विचारधारा और क्लिष्ट हो जाती है तथा उसका दर्शन पूर्णरूपेण भावात्मक हो जाता है। विचारों की प्रधानता को वनाये रखने के लिये हीगेल ने व्यावहारिक जगत की सामान्य मान्यताओं को भी त्याग दिया तथा उसकी लेखन शैली ने उसके विचारों को और भी अधिक उलझा दिया। यह कहावत प्रचलित है कि हीगेल स्वयं कहा करता था कि "मुझे एक व्यक्ति ने समझा है और वह भी नही समझ सका"। यह कथन भले ही कपोल कल्पित हो परन्तु हीगेल के दर्शन की क्लिष्टता को देखते हुए इसके सत्यांश को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'फिलासफी आफ राइट' के वारे मे हर्नशा (Hearnshaw) ने लिखा है कि जो लोग इस प्रणाली (दार्शनिक प्रणाली) से पूर्णरूप से परिचित नहीं हैं तथा "जो मूल रूप से राजनीति सिद्धांत से ही सम्वन्धित हैं उनके लिये यह पुस्तक समझ में न आनेवाले कथनो तथा रहस्यपूर्ण तकनीकी

(technical) शब्दों व शब्दावली से भरी है।" हीगेल ने आदर्श और व्यावहारिक का समन्वय करना चाहा। वह न तो आदर्शवाद को त्यागना चाहता है न आदर्श की कल्पना में यथार्थ को ही भूलना चाहता है। अतः वह विवेकवाद (Rationalism) को ऐसा रूप देना चाहता है जो यथार्थ जगत के अनुकूल हो। ऐसा करने के लिये उसने विश्वव्यापी सत्य की खोज की तथा एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना चाहा जिसमें व्यक्तिगत और विश्वव्यापी का समन्वय हो सके।

द्वन्द्वाद : राजनीति विज्ञान—हीगेल का यह विश्वास था कि अन्य विचारों की तरह सामाजिक विकास और राजनीतिक संस्थाओ का भी एक निश्चित सिद्धांत होता है जिसकी खोज वह करना चाहता है। प्लेटो की तरह वह किसी 'यूटोपिया' (Utopia) की कल्पना नही करना चाहता वल्कि दर्शन के माध्यम से राज्य के यथार्थ रूप को तथा व्यक्ति और राज्य के सही सम्बन्धो को निश्चित करना चाहता है। दर्शन का उद्देश्य आदेश की कल्पना नहीं वल्कि सत्य की खोज है और राजदर्शन को भी निश्चित विज्ञान का रूप दिया जा सकता है। अफसोस इस वात का है कि कोई साधारण व्यक्ति विशेप ज्ञान प्राप्त किये विना वनस्पति या रसायन विज्ञान के क्षेत्र में हस्तक्षेप नही करता किन्तु हर साधारण आदमी बिना किसी पृष्ठभूमि के राज्य के वारे मे अपने विचार व्यक्त करना अपना अधिकार समझता है। इन विचारो के कारण राज्य का वास्तविक रूप धुंधला हो जाता है और हम यह समझने लगते है कि राज्य का वैज्ञानिक अध्ययन संभव नही है।

वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिये हीगेल द्वन्दवाद का सहारा लेता है। द्वन्दात्मक प्रणाली दर्शन मे पहले भी प्रचलित रही है और इस प्रणाली के द्वारा विचारों की सत्यता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु हीगेल ने इस प्रणाली को एक विशेष रूप दिया और इसका प्रयोग सामाजिक विकास का क्रम निश्चित करने के लिये किया। ज्ञान की पद्धति के नाते द्वन्दवाद दो विरोधी विचारो के सघर्प पर आधारित है और आदर्शवादी होने के कारण हीगेल सत्य को विचारमय (Ideal) मानता है। प्रत्येक विचार सत्य नहीं है वल्कि उसमे सत्य और असत्य का कुछ अश रहता है किन्तु अतिम सत्य कोई भौतिक तत्व नही वल्कि विचार ही है इसलिये सत्य की खोज प्रचलित विचारों के माध्यम से ही हो सकती है। द्वन्दात्मक प्रणाली के तीन अंश है—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis)। प्रारंभ मे जो विचार उत्पन्न होता है वह वाद है। इसे वाद इसलिये कहा जाता है कि यह पूर्ण सत्य

नही है वल्कि केवल एक मत है जिसमें सत्य का कुछ अंश है और कुछ असत्य भी। इस असत्य के कारण इस मत का खंडन किया जाता है; जो विचार खंडन करता है वह प्रतिवाद है। प्रतिवाद मे भी सत्य और असत्य दोनो शामिल है। पूर्ण सत्य न होने के कारण दो मे से कोई भी विचार मान्य नही है वल्कि दोनो विचारों का सत्य का अंश मिलकर एक नये समन्वय को जन्म देता है जिसे संवाद कहा गया है। संवाद कोई नया विचार नही है और संघर्ष मे वाद और प्रतिवाद नष्ट नही होते वल्कि मिलकर ही इस नये विचार को जन्म देते है। इस सवाद मे भी सभी असत्य विचारों का अंत नही होता ; अतः इसका भी विरोध होता है। इस प्रकार संवाद स्वय वाद वन जाता है और उसका भी प्रतिवाद उत्पन्न हो जाता है। यह संघर्ष पुनः एक संवाद को जन्म देता है जिसका फिर प्रतिवाद होता है और फिर संवाद निकलता है। यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक असत्य का पूर्णरूपेण खडन नही हो जाता और पूर्ण सत्य की प्राप्ति नही हो जाती। यह पूर्ण सत्य ही अंतिम संवाद है जिसका खंडन नहीं किया जा सकता। इस प्रकार द्वन्दवाद का अत पूर्ण यथार्थ की अभिव्यक्ति मे ही होता है। विचारो का यह द्वन्द और समन्वय किसी वाह्य शक्ति से प्रभावित नहीं होता। हीगेल का यह विश्वास है कि विचार प्रणाली का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमे विरोध और समन्वय उत्पन्न होते रहते है जो सत्य की प्राप्ति पर ही समाप्त होते है। इस प्रणाली को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

वाद > प्रतिवाद > संवाद > प्रतिवाद > संवाद > प्रतिवाद > अंतिम संवाद

अंतिम संवाद या पूर्ण सत्य विवेकशील है क्योकि इसका विरोध नही हो सकता। अन्य सभी विचार असत्य है और उनका विरोध होता है क्योकि विवेक किसी ऐसे विचार को स्वीकार नही कर सकता जिसका विरोधी विचार उपस्थित है।

अपने इस रूप मे द्वन्दवाद एक दार्शनिक प्रणाली है किन्तु हीगेल ने इसे राजनीतिक अध्ययन मे भी लागू किया। इस प्रणाली के माध्यम से सामाजिक विकास का विश्लेषण करके हीगेल ने इतिहास दर्शन को जन्म दिया। उसका विश्वास है कि मानव समाज का विकास क्रमिक रूप से हुआ है जिसकी व्याख्या वैज्ञानिक रूप मे की जा सकती है। सामाजिक विकास के पीछे एक सार्वभौम सिद्धात निहित है और इस सिद्धांत को जान लेने से सामाजिक अध्ययन भी वैज्ञानिक वन जाता है। मनुष्य की व्यक्तिगत चेतना और सर्वव्यापी चेतना का द्वन्द कुटुम्व को जन्म देता है किन्तु कुटुम्ब सर्वव्यापी चेतना की अभिव्यक्ति नही है। अतः यह द्वन्द चलता रहता है और विभिन्न समुदायो का जन्म होता है किन्तु यह सभी संवाद अपूर्ण है। पूर्ण तथा अंतिम संवाद

राज्य है क्योंकि यह व्यक्ति की सर्वव्यापी चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति है। यह व्यक्तिगत चेतना का सर्वव्यापी चेतना मे विलीनीकरण है। विवेकशील जीवन व नैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति इसी विलयन मे निहित है। राज्य के अभाव मे न तो नैतिकता सभव है न विवेकशील जीवन।

आदर्शवाद—द्वन्दात्मक प्रणाली के माध्यम से हीगेल इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि राज्य मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठ संस्था है, नैतिकता का महानतम स्रोत है। सर्वव्यापी चेतना के विकास मे व्यक्ति क्रमशः अपने विशिष्ट स्वार्थो को भूलकर सामूहिक हितों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। प्रेम और सद्भावना के आधार पर कुटुम्ब की स्थापना होती है और व्यक्ति पारिवारिक हितो की पूर्ति के लिये कार्य करने लगता है। सभ्य समाज मे आकर व्यक्ति अपने पारिवारिक और अन्य सामुदायिक हितो को त्यागकर समाज के हितो के लिये कार्य करता है। हीगेल यह बतलाना चाहता है कि एक अच्छे नागरिक के लिये 'निष्ठाओ का उचित क्रम' (Right ordering of loyalties) आवश्यक है। सामाजिक जीवन मे हर समूह और सस्था का उचित महत्व है। सभी संस्थाये विकास का अग हैं, अतः स्थापित सस्थाओ का विरोध उचित नही है। सभ्य समाज कई जटिल सस्थाओ का समूह है जो व्यक्ति और राज्य के संबंधो को सीमित करती है। इन संस्थाओ मे कुछ असत्य हो सकता है किन्तु कुछ सत्य का अंश भी है जिसके कारण इनका तिरस्कार उचित नही है। अंततः सभी हित राज्य में विलीन हो जाते है। व्यक्ति और राज्य के संबंधो का वर्णन हीगेल ने इन शब्दो मे किया है, "राज्य मस्तिष्क का भौतिकरूप (objectified), अत. इसके एक सदस्य के रूप मे ही व्यक्ति का भौतिक रूप है, वास्तविक व्यक्तित्व और नैतिक जीवन। व्यक्ति का यथार्थ लक्ष्य शुद्ध और सरल एकीकरण है, और व्यक्ति का गंतव्य (destiny) विश्वव्यापी जीवन व्यतीत करना है।" इस तरह के अनेक विलष्ट वाक्यो मे हीगेल अपने विचार व्यक्त करता है और राज्य के वास्तविक स्वरूप को समझना बड़ा कठिन हो जाता है। रोमाटिक विरोधाभास की शैली मे भी रूसो के विचार इतने कठिन नही लगते।

सकता है और उसे कार्यान्वित कर सकता है। राज्य "नैतिक विचारों की पूर्णता" है। यह राज्य के पृथक बौद्धिक अस्तित्व की स्वीकृति है जो व्यक्ति से पृथक है। राज्य की इच्छा जो 'विश्वव्यापी स्तर तक ऊपर उठ चुकी है पूर्णरूपेण विवेकशील है ; इसका पालन ही विवेक का सही मार्ग है और जो इच्छा इसके विपरीत है वह विवेकहीन है। इस राज्य के आदेशो के पालन मे ही नैतिक स्वतंत्रता निहित है। स्वतंत्र और नैतिक जीवन का अस्तित्व राज्य मे ही हो सकता है राज्य से बाहर नही क्योंकि व्यक्तिगत और सर्वव्यापी इच्छा का तादात्य (Identity) यही संभव है। राज्य की इच्छा और व्यक्ति की इच्छा मे कोई विरोध नही हो सकता और यदि विरोध प्रतीत होता है तो इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति अपने विवेक को भूल गया है। हीगेल के लिये स्वतंत्रता का यही अर्थ है। 'मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है,' इस वाक्यांश का अर्थ हीगेल के लिये यह है "मनुष्य मे स्वतंत्र जीवन की क्षमता निहित है तथा उसका गंतव्य स्वतन्त्रता की स्थिति है, क्योकि किसी वस्तु की प्रकृति उसके 'विचार' (Idea) के अनुरूप ही होती है।" इस कथन के साथ यह स्मरण रखना आवश्यक हो जाता है कि स्वतंत्रता का अर्थ है सर्वव्यापी मे विलीन हो जाना। नैतिकता, न्याय, सामाजिक और राजनीतिक जीवन राज्य मे ही संभव है।

इस प्रकार हीगेल राज्य के यशस्वीकरण (Glorification) पर पहुँच जाता है। राज्य विवेक का शुद्ध रूप और सर्वव्यापी विचार का मूर्तिमान रूप है तथा जो विचार सर्वव्यापी है वही सत्य है क्योकि ईश्वर सत्य है और सर्वव्यापी है। राज्य न केवल एक सत्य है बल्कि सर्वोच्च सत्य है 'पृथ्वी पर ईश्वर की यात्रा,' 'पृथ्वी पर स्थापित ईश्वरीय विचार' है। इस भौतिक जगत मे राज्य सर्वश्रेष्ठ भौतिक शक्ति है क्योंकि उसके ऊपर केवल अपार्थिव ईश्वरीय शक्ति ही हो सकती है। यह यशस्वीकरण एक भावात्मक राज्य का भी है और समकालीन प्रशा (Prussia) का भी क्योकि हीगेल को इन्ही विचारो के कारण राज्य का संरक्षण प्राप्त हुआ था। हीगेल का द्वन्दात्मक तत्व निश्चित रूप से सर्वव्यापी राज्य या विश्वराज्य की ओर ले जाती है किन्तु वह अकस्मात् राष्ट्रीय राज्य की कल्पना पर ही रुक जाता है तथा राष्ट्रीय राज्य को ही सर्वव्यापी तत्व मान बैठता है। सर्वशक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य ही समकालीन जर्मनी की सबसे बड़ी आवश्यकता थी इसलिये हीगेल इससे आगे बढने का प्रयास नहीं करता। राष्ट्रीय राज्य का समर्थन हीगेल इस तर्क से करता है कि राज्य की स्थापना के बाद द्वन्दवाद राष्ट्रों के बीच निरंतर संघर्ष का रूप ले लेता है जिसका स्थायी निर्णय नही हो सकता। विश्वराज्य की कल्पना द्वन्दवाद के विपरीत है। हीगेल इस निष्कर्ष पर

पहुँचता है, "राष्ट्रीय राज्य ही पूर्ण विवेकशील मस्तिष्क है ; अतः पृथ्वी पर अंतिम शक्ति है। इसका परिणाम यह हुआ कि पृथ्वी पर हर राज्य अपने पडोसी राज्य के विरुद्ध सार्वभौम तथा स्वतंत्र है।" राज्यो के आपसी सम्बन्ध आज भी प्राकृतिक अवस्था की स्थिति मे है और उनके बीच कोई सामान्य शक्ति नही है जो राज्यो मे सर्वव्यापी की स्थापना कर सके इसलिये हर राज्य की एक इच्छा होती है जो संप्रभु है और जिसका विरोध नही किया जा सकता। सामाजिक विकास का राष्ट्रीय संगठन की अवस्था पर रुक जाना और सर्वव्यापी इच्छा का राष्ट्रीय इच्छा मे संकुचित हो जाना हीगेल के द्वन्दात्मक तर्क के विपरीत है किन्तु फिर भी वह इस तर्क को आगे नही ले जाना चाहता। परिणाम यह होता है कि हीगेल को युद्ध की अनिवार्यता मे विश्वास करना पड़ता है क्योकि, "यदि राज्यो में मतभेद है और उनकी विशेष इच्छाओ का समन्वय नही किया जा सकता तो विवाद केवल युद्ध के द्वारा ही सुलझाया जा सकता है।" यह युद्ध का अनावश्यक और अनुचित समर्थन भी है और तर्कहीनता का प्रतीक भी। यदि समाज के विकास मे आज तक सभी संस्थाओ और संगठनो के द्वन्द का संवाद मिला है तो राज्यो के द्वन्द का सवाद क्यो नही मिल सकता। जव राष्ट्रीय राज्य की इच्छा का विरोध हो सकता है तो उसे अतिम संवाद या सर्वव्यापी इच्छा कैसे मान लिया गया।

हीगेल के विकासवाद से यदि शब्दजाल को निकाल दिया जाय तो वह अरस्तू के सिद्धात से अधिक कुछ नही है। राज्य का विकास कुटुम्ब से आरंभ होता है और अन्य संस्थाओं के माध्यम से विकसित होकर अंत मे राज्य का रूप प्राप्त करता है। यह विकास स्व-चेतन से आरंभ होकर व्यापक चेतना की ओर जाता है। व्यक्ति अपने-आप मे स्व-चेतन है, कुटुम्ब मे वह अपने अतिरिक्त कुटुम्ब के अन्य सदस्यो के प्रति चेतन है किन्तु यह चेतना पूर्णरूप से निर्लिप्त नही है। पूर्ण निर्लिप्त चेतना राज्य मे ही व्यक्त होती है जो केवल व्यक्तियो का नही वल्कि सभी समुदायो का संगठन है। अन्य समुदाओं मे वर्ग और व्यक्ति के स्वार्थ वने रहते है ; विवेकशील जीवन का शुद्ध रूप राज्य मे ही मिलता है। अरस्तू के दो विचार हीगेल ग्रहण करता है—'पूर्णता ही सत्य है' (The whole is real) और 'यथार्थ विवेकशील है' (Actual ':rational)। इस आधार पर राज्य ही यथार्थ है क्योकि वह पूर्ण है और अन्य सभी समुदाय अपूर्ण है, इस पूर्णता के अंग है। राज्य विवेक की प्रतिमूर्ति होने के कारण भी वह सत्य है। कुटुम्ब और राज्य का सम्वन्ध अरस्तू की ही तरह संभावना (Potentiality) और वास्तविकता (Actuality) का सम्वन्ध है।

"प्रगति की गति अपूर्ण से पूर्ण की ओर प्रतीत होती है, किन्तु पहले (अपूर्ण) को अंतिम रूप से अपूर्ण नहीं मान लेना चाहिये, वलिक एक ऐसी वस्तु जो अपने विरोधी तत्व—जिसे पूर्णता कहते हैं—को भी एक बीज या प्रेरणा के रूप में लिये है। ...... इस प्रकार अपूर्णता, जिसमे उसका विरोधी तत्व शामिल है, एक स्वतः विरोधी विचार है, जो निश्चित रूप से स्थापित है, किन्तु जो निरंतर नष्ट हो रहा है और सुलझ रहा है।" कुटुम्ब, सभ्यसमाज और राज्य की भिन्नता दर्शाते हुए हीगेल इन्हें क्रमशः एकता (Unity), विशेषता (Particularity) और सर्वव्यापकता (Universality) वतलाता है। कुटुम्ब संगठनात्मक एकता का प्रतीक है जिसमें व्यक्ति एक प्रारंभिक समुदाय मे शामिल तो हो जाता है किन्तु सभी सदस्यो मे घनिष्टतम सम्बन्ध बने रहते है। विकास के परिणाम स्वरूप एक परिवार अनेक परिवारो मे विभक्त हो जाता है और एक सभ्य समाज की स्थापना होती है जिसमें इन विशेष इकाइयो का पृथक् अस्तित्व बना रहता है क्योंकि इनका विलयन पूर्ण नही होता। इन इकाइयों का पूर्ण विलयन राज्य मे ही होता है और राज्य इसीलिये सर्वव्यापकता का प्रतीक है। स्पेन्सर विकास के इसी क्रम से प्रभावित है किन्तु आध्यात्मक के भावात्मक शब्दो की अपेक्षा विज्ञान के जैविक शब्दो का प्रयोग है परिणाम स्वरूप एकता सजातीयता बन जाती है जो पारस्परिक संबंधो के कारण टूटती है और राज्य में सबके विलयन से अविभेदीकृत विजातीयता बन जाती है। अविभेदीकृत विजातीयता का विचार हीगेल के राज्य के दो नैतिक आधारो से प्रभावित दिखता है, ये आधार है "(१) स्वाधीन आत्म-चेतन के आंतरिक अनुभवो की अपार भिन्नता और (२) सर्वव्यापकता का स्वरूप, शिक्षा और विचारो मे निहित जिसके कारण मस्तिष्क वस्तुगत (Objective) बन जाता है।" सभ्य समाज और राज्य का अंतर शासन मे निहित है। समाज में जब शासन की स्थापना हो जाती है तो वह राज्य बन जाता है, किन्तु यह शासन एक निर्लिप्त और 'सर्वव्यापी नौकरशाही' का शासन है।

स्वतंत्रता और संप्रभुता—आदर्शवाद की स्थाई समस्या स्वतंत्रता और राजसत्ता के बीच समन्वय करना है और सामान्य रूप से इस प्रश्न का हल राज्य के पक्ष में ही किया गया है। हीगेल के सिद्धांत में भी स्वतंत्रता का महत्व कम हो गया है और सत्ता का महत्व बढ़ गया है। राज्य को केवल नागरिकों पर नही वल्कि अन्य सभी समुदायों पर संपूर्ण शक्ति प्रदान कर दी गई है। राज्य सर्वोच्च नैतिक संस्था तो है ही, उसकी पृथक इच्छा का भी उल्लेख किया गया और सर्वव्यापी चेतना के माध्यम से राज्य को ही विवेक का एकमात्र प्रतीक मान लिया गया। मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण की प्राप्ति राज्य के माध्यम से ही हो सकती है। इन सभी कारणो

से हीगेल निश्चित और निरंकुश सप्रभुता का समर्थक हो जाता है। राज्य की शक्ति सर्वोच्च है और उस पर किसी प्रकार के बंधन नही लगाये जा सकते। राज्य का आदेश सर्वव्यापी इच्छा का प्रतीक है और व्यक्ति विशेप इच्छा का, अत व्यक्ति का कल्याण राज्य के आदेश का पालन करने मे ही है। यह निरंकुशता और भी भयानक हो जाती है जब इस बात का स्मरण होता है कि रूसो की तरह सर्वव्यापी चेतना सबकी यथार्थ इच्छाओ का समन्वय नही है बल्कि उसका स्वतंत्र अस्तित्व है। रूसो के सिद्धांत मे सबसे बडा प्रश्न यह है कि वास्तविक और यथार्थ इच्छा का अंतर किस आधार पर किया जाय। व्यावहारिक जीवन मे यह अतर हमेशा सरल और स्पष्ट नही होता। हीगेल के लिये यह प्रश्न कोई महत्व नही रखता क्योकि व्यावहारिक रूप से उचित और सही इच्छा राज्य के आदेशों मे व्यक्त होती है और व्यक्ति की जो इच्छा राज्य के आदेश के विपरीत है वह गलत है, अनैतिक है। इस प्रकार राज्य की इच्छा को स्वीकार कर लिया गया, किन्तु हीगेल कही यह नही दर्शाता की राज्य की इच्छा क्या है, इसका निर्माण कैसे होता है या इसकी पहिचान क्या है? इन प्रश्नो के उत्तर के अभाव मे हीगेल का सपूर्ण सिद्वात मानव स्वतत्रता के लिये घातक बन जाता है। विशेष रूप से उस समय जब कि शासक को ही राज्य मान लिया जाता है और राज्य तथा शासक इच्छा मे अंतर नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे शासक अपनी इच्छा को ही राज्य की या सर्वव्यापी इच्छा बतलाने का प्रयास करते है। शासक स्वय राज्य बन जाता है और अपनी व्यक्तिगत इच्छा को ही सर्वव्यापी इच्छा कहकर लागू करता है तथा विरोध करने वाले को दड देता है। इसके अतिरिक्त शासन के द्वारा अनजाने भी गलतिया हो सकती है जिन्हे रोकने का कोई उपाय समाज के पास नही रह जाता। सार्वजनिक या सर्वव्यापी इच्छा को शुद्ध विवेक से प्रेरित शुद्ध इच्छा मान भी लिया जाय तो सवाल यह है कि इसे व्यक्त या कार्यान्वित करने वाला वर्ग तो गलती कर ही सकता है। राज्य की इच्छा विधि मे निहित है, विधि शासक बनाता है और शासक का निर्णय गलत भी हो सकता है। इन सभी बातो का एक ही निष्कर्प निकलता है कि राज्य को श्रेष्ठतम नैतिक सस्था मान लेने के बाद व्यक्ति को शासन की कृपा पर छोड़ दिया जाता है।

हीगेल यह तो स्वीकार कर लेता है कि राज्य के द्वारा गलती हो सकती है किन्तु फिर भी राज्य के विरोध को उचित नही मानता। वह लिखता है, "सक्रिय अर्थ की अपेक्षा कमजोरिया खोजना अधिक सरल है इसलिये मनुष्य राज्य के विशेष तत्वों पर अधिक ध्यान देने की गलती कर बैठता है और उसके सावयव रूप को भूल जाता है।

राज्य कृत्रिम नही है। वह पार्थिव है, उसमे घृणा, त्रुटि, आकस्मिकता होती है। बुरे व्यवहार से राज्य कुरूप हो सकता है किन्तु सबसे कुरूप मनुष्य, अपराधी, अपंग भी जीवित प्राणी है। उसमें बुराइयों के होते हुए भी निश्चित तत्व प्राण है।" इसी प्रकार राज्य में जब तक सब तत्व मौजूद है उसकी अवहेलना या उसका विरोध नही किया जा सकता चाहे वह अच्छा हो या बुरा। राज्य की यथार्थता उसके अस्तित्व मे है, उसके लक्षणो मे है, उसके अच्छे या बुरे स्वरूप मे नही। जब तक हम राज्य के अस्तित्व को स्वीकार करते है उसकी सत्ता को भी स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार राज्य का नैतिक मापदड भी बदल जाता है। रूसो तथा अन्य आदर्शवादियों के लिये व्यक्ति और राज्य का एक सामान्य मापदंड है—जो नैतिक है वही यथार्थ है; किन्तु हीगेल के राज्य पर यह नियम लागू नही होता। राजसत्ता यथार्थ है इसलिये मान्य है, चाहे वह नैतिक हो या अनैतिक। राजसत्ता की उत्पत्ति किसी संविदा से नहीं है बल्कि वह राजनीतिक संगठन का एक स्वाभाविक लक्षण है। तात्पर्य यह है कि आंतरिक रूप से राज्य की शक्ति असीम है, और वह व्यक्ति के किसी अधिकार से सीमित नही है। राजसत्ता की परिधि के बाहर कोई मौलिक या प्राकृतिक अधिकार नहीं हो सकता। सभी अधिकार राज्य द्वारा प्रदत्त है। राज्य का प्रत्येक निर्णय अंतिम है और व्यक्ति उसका पालन करने के लिये बाध्य है। स्वतंत्रता का वास्तविक रूप राज्य के संरक्षण मे ही प्राप्त होता है राज्य से बाहर नही।

बाह्य रूप मे भी राजसत्ता असीम है और राज्यो के पारस्परिक व्यवहार या अंतर्राष्ट्रीय विधि राज्य की संप्रभुता को सीमित नही करती। द्वन्दात्मक विकास की अंतिम सीढी राज्य है। अतः प्रत्येक राज्य अपने-आप मे पूर्ण है और उनके बीच कोई केन्द्रीय शक्ति या सर्वव्यापी शक्ति नही है अतः उनके आपसी व्यवहार विशेष इच्छाओ से प्रेरित है। राज्यो के पारस्परिक संबंध आज भी प्राकृतिक अवस्था मे है इसलिये प्रत्येक राज्य की शक्ति बाह्य रूप मे अनियंत्रित है।

युद्ध—बाह्य रूप से स्वतंत्र और असीम सत्ता का सिद्धांत हीगेल को युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार करने के लिये बाध्य करता है। इस सम्बन्ध में कान्ट के विचार अधिक सराहनीय हैं जो युद्ध को अनावश्यक मानता है। हीगेल के दर्शन की धारा से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वव्यापी इच्छा की पूर्ण अभिव्यक्ति विश्वराज्य की कल्पना मे ही होना चाहिये, किन्तु हीगेल राष्ट्रीय राज्य की अवस्था पर पहुँचकर ही रुक जाता है। यहा आकर हीगेल का द्वन्दवाद अपने पथ से डिग जाता है और एकाएक हीगेल यह मान लेता है कि विश्वआत्मा की अभिव्यक्ति विश्व के इतिहास में है। यह इतिहास,

जो मूल रूप से सामूहिक जीवन के विकास का इतिहास है, राष्ट्रीय राज्य की अवस्था पर पहुँचकर राज्यो के उत्थान-पतन का इतिहास बन जाता है। इतना ही नही, हीगेल यह भी मान लेता है कि किसी विशेप समय पर जो राज्य जितना शक्तिशाली होता है वह विश्वआत्मा (सर्वव्यापी चेतना) के उतने ही निकट होता है। इससे भी आगे हीगेल व्यक्ति-पूजा का भी समर्थन करने लगता है और जूलियस सीजर व नेपोलियन जैसे व्यक्तियो को युगप्रवर्तक और विश्वआत्मा का प्रतीक मान बैठता है। इस प्रकार के निष्कर्ष अत्यंत भ्रमात्मक है। शक्ति कभी भी प्रतिभा का प्रतीक नही बन सकती, न उसे विश्वव्यापी और स्थाई सत्य माना जा सकता है। हीगेल, एक ओर मानव सभ्यता को विवेक का परिणाम मानता है किन्तु दूसरी ओर विवेकहीन शक्ति को निर्णायक और निर्देशक का स्थान दे बैठता है। बौद्धिक द्वन्दवाद राज्यो के बीच भौतिक संघर्प का रूप ले लेता है। इस द्वन्द का कोई अंत नही है, अत. राज्यो के आपसी सघर्प केवल सामयिक रूप से ही सुलझ सकते है। इस द्वन्द का सामयिक हल युद्ध मे है क्योकि शक्ति से जो स्थापित होता है उसे स्थायी नही कहा जा सकता। द्वन्दवाद का यह नया रूप हमे इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि विश्वराज्य का विचार एक कल्पना-मात्र है और राज्यो के बीच स्थायी शाति एक स्वप्न है जो समय-समय पर टूटता रहता है। हीगेल ने कान्ट की स्थायी शाति की कल्पना को भी ठुकरा दिया और फिक्टे की अतर्राष्ट्रीय योजना को भी स्वीकार नही किया।

हीगेल के लिये अंतर्राष्ट्रीय युद्ध न्यायसगत भी है और मानव इतिहास का आवश्यक अग भी। युद्ध भी एक नैतिक आवश्यकता है क्योंकि 'मानवजाति का नैतिक स्वास्थ्य इसलिये सुरक्षित है कि उसमे निश्चित सस्थाओ के स्थायित्व के प्रति लगाव नही है; जिस प्रकार वायु प्रवाह समुद्र के जल को प्रशाति से होनेवाली गंदगी को बचाता है उसी प्रकार राष्ट्रो मे स्थायी शाति का परिणाम भ्रष्टाचार ही होगा।" हीगेल उन नैतिक गुणो की ओर हमारा ध्यान आकर्पित करता है जो युद्ध के समय निर्मित और विकसित होते हैं। सभी नागरिक अपना व्यक्तित्व भुलाकर राज्य के लिये सभी कुछ वलिदान करने के लिये तैयार हो जाते हैं। राज्य को यदि सावयव सगठन मानें तो सावयवता का श्रेष्ठतम रूप समाज मे युद्ध के समय ही देखने को मिलता है जबकि सभी नागरिक अपने आपसी मतभेद भुलाकर एक शरीर वन जाते है और एक ही विचार से प्रेरित होकर कार्य करते है। युद्ध के समय प्रत्येक नागरिक मे कर्त्तव्य-परायणता भी सर्वोत्कृष्ट होती है और राज्य के आदेशो का पालन भी अधिकतम मात्रा मे होता है। युद्ध का यह समर्थन इसलिये आवश्यक हो जाता है कि हीगेल के लिये

जो 'वास्तविक है वह विवेकशील' भी है। युद्ध हमेशा से होते आये हैं और होते हैं; अतः वे यथार्थ भी है और विवेकशील भी। हीगेल यह मानता है कि आकस्मिक घटनाये भी इसलिये होती है कि वे प्रकृति की योजना का आवश्यक अंग है। हीगेल का भ्रम यह है कि दुनिया मे जो भी होता है वह सर्वव्यापी इच्छा की अधिकतम अभिव्यक्ति के लिये होता है, अतः युद्ध का परिणाम भी अंतर्यामी शक्ति के द्वारा इसी दिशा मे होता है। इसके फलस्वरूप हीगेल यह मानने के लिये बाध्य हो जाता है कि युद्ध मे विजयी होने वाली शक्ति सर्वव्यापी चेतना के अधिक निकट है इसलिये ईश्वर उसे विजयी बनाता है। यह निष्कर्ष अनेक कारणो से खतरनाक है और शक्ति के संघर्ष को निर्णायक स्थान देना मानव जाति के लिये हानिकारक है। यदि हीगेल को वर्तमान विध्वंसात्मक शक्ति का ज्ञान होता तो वह कभी युद्ध का समर्थन न करता।

शासन का सिद्धांत--राज्य एक विवेकशील सस्था है जिसका आधार सार्वजनिक हितों की पूर्ति है क्योकि सर्वव्यापी चेतना सबके लिये समान रूप से हितकारी है। इस संगठन का आधार राज्य का संविधान है जो मनुष्यो के सदियो तक एक ही सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के अतर्गत रहने के कारण स्थापित हो जाता है। "राष्ट्र के मस्तिष्क के रूप मे, राज्य आतरिक सम्बन्धो को निर्धारित करने वाली विधि तथा नागरिको के व्यवहार तथा उनकी चेतना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी राष्ट्र का संविधान उस राज्य की स्वचेतना के स्वरूप और विकास पर निर्भर है।" हीगेल संविधान मे शासन की तीन शक्तियो को स्वीकार है परन्तु विधायिनी, कार्यकारिणी और न्यायपालिका के बीच सत्ता विभाजन को तथा उनके स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार नही करता। राज्य का संविधान तीन तत्वो का सगठन है--एकता, विशेषता और सर्वव्यापकता। इन तीन तत्वो का प्रतिनिधित्व राज्य मे राजमुकुट, कार्यपालिका और विधायिनी शक्तिया करती है। मान्टेस्क्यू के बाद भी हीगेल न्यायपालिका का पृथक वर्णन नही करता। इन शक्तियों का स्वतंत्र अस्तित्व इसलिये संभव नही है कि राज्य एक सावयव सगठन है जिसमे सभी विभिन्नताओ का एकीकरण हो जाता है।

विधायिनी:--हीगेल के लिये विधायिनी व्यापक तत्व का प्रतीक है, वह शक्ति जो सर्वव्यापी की स्थापना तथा उसका करती है। फिर भी विधायिनी का सगठन सार्वजनिक आधार पर नही है न शासन में जनसाधारण को कोई स्थान ही प्राप्त है। हीगेल का विश्वास है कि "विवेक का आदेश ज्ञान, गहन अतर्दृष्टि का परिणाम है और यह शक्ति सामान्य नही है।" इस कारण विधायिनी मे श्रेष्ठ या कुलीन लोगो

को ही स्थान मिलेगा । वह द्विसदनात्मक विधान मंडल को स्वीकार करता है जिसमें एक सदन ब्रिटेन की लार्ड सभा की तरह, बड़े भूमिपतियो और जागीरदारो को स्थान मिलता है । इनका पद राजमुकुट की तरह वशानुगत होता है । ऐसे लोग धन के लालच मे पथभ्रष्ट नही हो सकते क्योकि इनकी जीविका के साधन निश्चित रहते है । इनकी संपत्ति राज्य की संपत्ति की तरह निश्चित है, जिसमे लाभ-हानि की भावना नही रहती । अतः यह वर्ग सरलता से प्रभावित नही होता और पक्षपात की संभावना कम रहती है । हीगेल का विश्वास है कि यह वर्ग राजतंत्र और सामान्य जनता के वीच के तत्व का प्रतिनिधित्व करता है जो दोनो वर्गो के हितों को उचित रूप से समझता है और उनका समन्वय कर सकता है ।

दूसरे सदन मे संपूर्ण समाज के प्रतिनिधि रहते हैं किन्तु सामान्य निर्वाचन के द्वारा निर्वाचित नही । यह सदस्य जनसंख्या का नही वल्कि समाज के विभिन्न वर्गो, समुदायो और संगठनो के प्रतिनिधि होते है—ऐसे सगठन जो अन्य कार्यों के लिये वनाये गये है, राजनीतिक कार्यो के लिये नही । यह सदन राजा के आमंत्रण पर ही संगठित होता है, और समाज का प्रतिनिधित्व भौगोलिक नही वल्कि व्यवसायिक आधार पर करता है । हीगेल प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का विरोध करता है । व्यक्ति को मताधिकार देने से कोई लाभ नही क्योकि सामान्य रूप के मतदाता अपने अधिकार के प्रति अधिक उत्साह नही दर्शाते तथा मतदान व्यक्तिगत निर्णय से नही वल्कि सामूहिक निर्णय से होता है और निर्वाचन संगठित समुदायो के संचालको का साधन मात्र वनकर रह जाता है । यह संचालक संपूर्ण समाज के नही वल्कि एक वर्ग विशेष के हितो का प्रतिनिधित्व करते है । हम हीगेल के इस कथन मे भले ही सहमत न हो किन्तु निर्वाचन प्रणाली की इन कमजोरियो से हम मुंह नही फेर सकते । इसके अतिरिक्त हीगेल राज्य और व्यक्ति के सम्वन्धो को प्रत्यक्ष नही मानता । राज्य समुदायो का सघ है और हर व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य होता है , अतः राज्य मे व्यक्ति का नही इन समुदायो का प्रतिनिधित्व होना चाहिये । वर्तमान निर्वाचन प्रणाली के अतर्गत प्रत्येक राजनीतिक दल का प्रतिनिधित्व हो जाता है किन्तु अन्य समुदायो का नहीं ।

विधायिनी को हीगेल ने बहुत कम शक्तिया प्रदान की है । सभाओ को न तो विधि निर्माण का विस्तृत अधिकार है और न कार्यकारिणी के नियंत्रण और निर्देशन की शक्ति । विधि सामान्य रूप से सप्रभु के आदेशो के द्वारा वनाई जाती है । सभायें केवल विधि के सामान्य सिद्धांतो का प्रस्ताव कर सकती है तथा व्यावहारिक वातो पर

विशेषज्ञ मत प्रदान कर सकती है क्योंकि इन सभाओ मे सभी वर्गो के ऐसे व्यक्ति रहते है जिन्होने व्यक्तिगत अनुभव से ज्ञान प्राप्त किया है। यह सभायें केवल मध्यवर्ती शक्तियो के रूप में कार्य करती है। एक ओर यह दोनो सदन राजा को सर्वशक्तिशाली और निरंकुश होने से रोकती है तो दूसरी ओर समाज मे घोर व्यक्तिवाद और समूह की मनमानी पर भी प्रतिबन्ध लगती है। विधानमंडल जनता और शासन के बीच का माध्यम है। इसका प्रमुख कार्य है जनमत का निर्माण करना। इन सभाओ के माध्यम से जनसाधारण को शासन की समस्याओ और कार्यो का ज्ञान होता है जिससे लोग शासन की कठिनाइयो का आभास करते है और शासको के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। इन सभाओ का वास्तविक मूल्य शैक्षणिक है, क्योंकि इनके माध्यम से जनसाधारण के सभी भ्रम और दूषित विचारो का निराकरण किया जा सकता है। इन सभाओं के अभाव मे अनेक ऐसी व्यक्तिगत धारणाये प्रचलित रहेंगी जो सत्य से परे हैं। जो व्यक्तिगत है वह विवेकशील नही है और यह सभायें व्यक्तिगत मतों के स्थान पर सर्वव्यापी चेतना का निर्माण करती हैं।

राजमुकुटः—सम्प्रभुता का प्रतीक और राजनीतिक एकता का आधार राजमुकुट है। अंतिम रूप से शासन का अधिकार उसी के पास है। सर्वव्यापी इच्छा राजमुकुट के द्वारा ही व्यक्त होती है, क्योंकि इच्छा के अंतिम निर्णय का अधिकार उसी को है। सर्वव्यापी इच्छा को व्यक्त करने वाला राजमुकुट ही राज्य के विकास की सर्वोच्च अवस्था का प्रतीक है। किसी सावयव का श्रेष्ठतम विकास उसी समय कहा जाता है जब उसमे एक निश्चित इच्छाशक्ति आ जाती है। राजमुकुट ही राज्य की निश्चित इच्छा है इसलिये राजमुकुट मे ही राज्य की सावयव-एकता निहित है। सर्वव्यापी इच्छा के विकास की तीन अवस्थाये हीगेल मानता है ;-पहला रूप पूर्वीय निरंकुश राज्यों मे पाया जाता है, दूसरा यूनान और रोम के मिश्रित राज्यो मे और तीसरा जर्मन राजतंत्र मे। हर शासन प्रणाली और प्रत्येक संविधान सामयिक परिस्थितियो का परिणाम होता है और प्रस्तुत वातावरण के माध्यम से सर्वव्यापी चेतना विकसित होती रहती है। श्रेष्ठ राज्य मे प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र और एकतत्र के तत्व समान रूप से पाये जाते है किन्तु संपूर्ण समूह की एकता राजा की इच्छा मे निहित होती है ; "संगठन का संपूर्ण निर्णायक तत्व साधारण व्यक्तित्व नही है बल्कि एक निश्चित व्यक्ति, राजा।" नागरिक स्वतंत्रता सावयव एकता के लिए पर्याप्त नही है क्योंकि जहां हर नागरिक अपने विचार स्वयं व्यक्त करता है वहां सावयव एकता नही हो सकती बल्कि इस संगठन की इच्छा एक निश्चित व्यक्ति—राजा—के द्वारा व्यक्त होनी चाहिये।

हीगेल का यह तर्क निरंकुश शासन का समर्थक नही है क्योंकि संप्रभुता राज्य मे निहित है, राजा मे नही और राजा राज्य का प्रतीकमान है जिसकी स्वयं की इच्छा नही है बल्कि वह राज्य की इच्छा (सर्वव्यापी इच्छा) को ही व्यक्त करता है। हीगेल यह भूल जाता है कि इतना स्वार्थहीन व्यक्ति मिलना यदि असभव नही तो दुर्लभ अवश्य है। वह इस बात को भी भूल जाता है कि राज्य की इच्छा और शासक की इच्छा मे अंतर करने का कोई साधन उसके सिद्धात मे नही है। यदि वर्तमान तानाशाहों की तरह कोई शासक अपनी इच्छा को ही राज्य की इच्छा के रूप मे प्रस्तुत करे और राजसत्ता की सहायता से उसका पालन कराये तो प्रजा के पास उसे रोकने का कोई उपाय नही है। हीगेल इस बात को स्वीकार करता है कि यदि शासक अपनी व्यक्तिगत इच्छा को सर्वव्यापी इच्छा के स्थान पर लागू करता है तो वह निरंकुश शासन है। सप्रभुता का असीम होना या एक व्यक्ति के पास होना निरकुशता का प्रमाण नही है बल्कि सर्वव्यापी इच्छा के स्थान पर व्यक्तिगत इच्छा विधि का आधार बन जाने से शासन निरकुश हो सकता है। यह व्यक्तिगत इच्छा राजा की भी हो सकती है समूह की भी। हीगेल का राजतंत्र अपने-आप ही सीमित है। सामान्य परिस्थिति मे शासन विधि प्रधान होता है और राजा समाज की इच्छा की अभिव्यक्ति का माध्यम ही है। राज्य एक सावयव संगठन है जिसमे एक इच्छा के द्वारा निर्देशित होना भी उतना ही आवश्यक है जितना समाज कल्याण की भावना का प्रचलित होना। राज्य के सावयव स्वरूप की शुद्धता सकटकाल मे देखने को मिलती है, जब सपूर्ण समूह एक व्यक्ति की इच्छा के पीछे चलने लगता है और केवल ऐसी विषम स्थिति मे ही राजा स्वयं शासन करता है, अन्यथा शासन का कार्य मंत्रियों और कर्मचारियो के द्वारा ही चलाया जाता है। यह मत्री राजा के द्वारा ही नियुक्त किये जाते है, ये न तो जनता के प्रतिनिधि होते है न उत्तरदायी। इस व्यवस्था के द्वारा हीगेल प्रशा के समकालीन राजतत्र का समर्थन करना चाहता था किन्तु वह इस बात को भूल जाता है कि यह व्यवस्था केवल एक कल्पना है जिसे व्यवहार मे लागू करने के अनेक दुष्परिणाम हो सकते है। राजा पर न तो किसी प्रकार की वैधानिक सीमा है न कोई उत्तरदायित्व। मत्री और कर्मचारी राजा को असतुष्ट करने की धृष्टता नही कर सकते। एकतत्र और अत्याचारतंत्र मे अतर तो दर्शाया गया है किन्तु एकतंत्र के पतन को रोकने का कोई अधिकार उसके पास नही है।

कार्यकारिणी—कार्यकारिणी के अंतर्गत हीगेल ने केवल स्थायी कार्यपालिका का ही उल्लेख किया है—असैनिक कर्मचारियो का समूह—नौकरशाही। हीगेल के

शासन मे इस वर्ग का महत्व सबसे अधिक है क्योकि यह सामाजिक द्वन्द का सवाद है। समाज मे दो विरोधी वर्ग है—कृपक वर्ग और बौद्धिक वर्ग। कृपक उत्पादन करने वाला वर्ग है जो समाज को जीवन का आधार प्रदान करता है किन्तु यह वर्ग कभी अपने कुटुम्ब की सीमा के बाहर नही सोच पाता। बौद्धिक वर्ग में व्यापार, कला, उत्पादन मे हिस्सा लेने वाले सभी व्यक्ति शामिल है। शिक्षा और बौद्धिक विकास के कारण इन लोगो में व्यक्तिगत और सामूहिक हितो का अतर करने की शक्ति आ जाती है। यह वर्ग पृथक समुदायो के रूप मे रहता है; हीगेल का तात्पर्य व्यवसायिक समुदायों से है। नौकरशाही इन दोनो वर्गो का समन्वय है, जिसमे राज्य का वास्तविक रूप निहित है। कृपक वर्ग मे व्यक्तिगत, बौद्धिक वर्ग मे विशेप और कर्मचारी वर्ग मे सर्वव्यापी इच्छा व्यक्त होती है। अच्छे शासन का प्रधान उत्तरदायित्व इस कर्मचारी वर्ग पर ही है तथा यह वर्ग विधानमंडल के नियंत्रण और निर्देशन से मुक्त रहता है। हीगेल का यह विश्वास है कि "राज्य के सगठन तथा आवश्यकताओ का ज्ञान उच्च कर्मचारियो को अधिक अच्छी तरह होगा।" इसके विपरीत विधानमडल के सदस्य न तो शासन की जटिलताओं को समझते है न उन्हे शासन का कोई अनुभव ही होता है। दोनों शक्तियो के बीच कार्यकारिणी का निर्णय सही होने की संभावना अधिक है। शासन का प्रधान भार प्रबुद्ध और निःस्वार्थ नौकरशाही को है। विधान मंडल के सिर्फ दो कार्य हीगेल बतलाता है (१) कार्यकारिणी के सम्मुख समाज की वे समस्याये तथा आवश्यकताये प्रस्तुत करना जो उसकी दृष्टि से बच गई हो तथा (२) शासन के कार्यो के प्रति जनमत को अभिव्यक्ति का माध्यम प्रदान करना। हीगेल का यह वर्ग भी उतना ही काल्पनिक है जितना राजा। किसी भी समाज मे प्रबुद्ध और नि.स्वार्थ कर्मचारी बिना किसी वैधानिक नियत्रण के समाज के लिये कार्य करते रहे यह सभव नही दिखाई देता।

द्वन्दवाद की भूल-भुलैया से निकलकर यदि हीगेल के राजनीतिक विचारो का अध्ययन किया जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उसके विचारो मे नूतन बहुत कम है। उसके विचार यूनानी दर्शन मे प्रभावित है और राज्य का यूनानी स्वरूप ही उसके सिद्धात मे पल्लवित हुआ है। मानव की पूर्णता राज्य मे ही निहित है तथा अन्य सभी समुदाय राज्य के अविकसित और अर्धविकसित रूप होने के कारण अपूर्ण है। राज्य के इस स्वरूप को द्वन्दवाद का आवरण पहनाकर हीगेल ने यह मान लिया कि यही राज्य के विकास का अंतिम और शुद्ध रूप है। किन्तु हीगेल का द्वन्दवाद स्वयं एक भावात्मक और अनिश्चित आधार है। द्वन्दवाद को वह आवश्यकता से अधिक महत्व दे देता है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हीगेल के सिद्धात मे द्वन्दवाद

माध्यम नही बल्कि निष्कर्ष है। द्वन्दवाद के माध्यम से राज्य का स्वरूप समझाते हुए वह स्वयं द्वन्द के जाल में इतना अधिक उलझ जाता है कि राजनीतिक विचारधारा गौड़ हो जाती है तथा द्वन्दवाद अधिक महत्वपूर्ण दिखने लगता है। वह इस बात को भूल जाता है कि क्या मूल है और क्या गौड और ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे वह राज्य के विकास के उदाहरण से द्वन्दवाद को प्रमाणित करना चाहता है। द्वन्दवाद के जाल मे वह इतना उलझ जाता है कि निकलने का कोई मार्ग नही रह जाता और सर्वव्यापी के साथ ही राज्य का महत्व बढता जाता है और व्यक्ति का मूल्य कम होता है। राज्य की तुलना मे व्यक्ति नगण्य है, केवल मात्रात्मक रूप मे ही नही बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक रूप मे भी। राज्य का आध्यात्मिक महत्व इतना बढ जाता है कि राज्य को व्यक्ति के नही बल्कि व्यक्ति को राज्य के अनुकूल बनना पडता है। लेन्कास्टर के शब्दो मे "यद्यपि व्यक्ति की अवास्तविकता पर हीगेल का जोर देना जागृतिकाल के उग्र अणुवाद को सुधारने मे उपयोगी था, वह इस विचार को उस सीमा तक ले जाता है जहा व्यक्ति का मूल्य पूर्ण रूप से लुप्त हो जाता है।"

हीगेल का सिद्धांत केवल गलत ही नही है बल्कि अत्यंत हानिकारक है क्योकि वह हमे तानाशाही की ओर ले जाता है। व्यक्ति के जीवन की वास्तविकता राज्य का सदस्य बनने मे ही है या इससे भी अधिक राज्य के द्वारा शासित होने मे। कठोरतम तानाशाही के निर्माण के लिये केवल एक बात की आवश्यकता रह जाती है कि शासक अपनी व्यक्तिगत इच्छा को राज्य की इच्छा के स्थान पर प्रस्तुत कर दे और यह कार्य कठिन नहीं है तथा ऐसा हो जाने पर शासक की मनमानी पर प्रतिबंध लगाने का कोई साधन असहाय प्रजा के पास नही रह जाता। हीगेल के निष्कर्ष उसके मूल आधारो के विपरीत हो जाते है कम से कम उसका प्रभाव तो विपरीत दिशा मे ही हुआ है। जैसा कि वेयर ने लिखा है, "विवेक का श्रद्धालु प्रचारक, उसने इस अविवेकशील युग के निर्माण मे सबसे अधिक सहयोग दिया है जिस युग मे हम आज है। जो बुराई उसने की है वह उसके बाद भी जीवित है और वर्तमान विश्व मे व्याप्त है।"

हीगेल के सिद्धात के तीन खड है और इन हिस्सो ने वर्तमान युग मे तीन विरोधी धाराओ को जन्म दिया है। यह तीन सिद्धात है—द्वन्दवाद, राष्ट्रवाद और आदर्शवाद। हीगेल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और मौलिक अनुदाय द्वन्दवाद को माना जाता है जिसका ऋण मार्क्स स्वीकार करता है। मार्क्स ने हीगेल से केवल द्वन्दवाद ग्रहण किया और शेष दो विचार त्याग दिये तथा द्वन्दवाद का भी आधार बदल दिया। हीगेल

और मार्क्स के द्वन्दवाद मे केवल अंतर ही नही बल्कि विरोध पाया जाता है। माध्यम एक होते हुए भी दोनो के निष्कर्ष अलग हैं। राष्ट्रीयता का सिद्धांत नाजीवाद और फासीवाद ने ग्रहण किया जिन्होंने संगठित व शक्तिशाली राष्ट्र के लिये व्यक्तिगत हितो और अधिकारों का पूर्ण बलिदान स्वीकार कर लिया। इन विचारधाराओं ने द्वन्दवाद और आदर्शवाद को त्याग दिया जिसके कारण इनके निष्कर्ष अत्यंत क्रूर और हानिकारक हो गये। अंतिम वर्ग इङ्गलैंड के आक्सफोर्ड आदर्शवादियो का है जिन्होंने हीगेल से केवल आदर्शवाद ग्रहण किया और द्वन्दवाद का मायाजाल भी त्याग दिया तथा राष्ट्रवाद की कठोरता भी। इसके अलावा आदर्शवाद को इङ्गलैंड के उदारवाद से मिश्रित करके उसे अधिक व्यवहारिक और आकर्षक स्वरूप प्रदान किया।

— o —

अध्याय २१

कार्ल मार्क्स

(१८१८ - १८८३)

(Karl Marx : 1818-1883)

प्रत्येक क्रिया की उचित प्रतिक्रिया होती है और सामाजिक व्यवस्था भी इस नियम का अपवाद नही है। किसी निश्चित समाज का जो स्वरूप होता है उसकी प्रतिक्रिया समकालीन दर्शन मे होती है। यूरोप मे जिस गति से औद्योगीकरण हुआ और उसके परिणाम स्वरूप जो सामाजिक व्यवस्था विकसित हुई उसकी प्रतिक्रिया समाजवादी दर्शन के रूप मे हुई। समाजवाद को द्वन्दात्मक शब्दावली मे व्यक्तिवाद और आर्थिक स्वतंत्रता का प्रतिवाद कह सकते हैं। औद्योगीकरण के आरंभिक वर्षो मे यूरोप में औद्योगिक समाज के अनुकूल विचार धाराओ का जन्म और प्रचार हुआ। यह धारा मूल रूप से इंगलैंड मे प्रारंभ हुई और बहती रही। एडाम स्मिथ, बेन्थम, मिल, स्पेन्सर आदि लेखकों ने औद्योगिक प्रगति के लिये आवश्यक विचारो का प्रचार किया। दूसरी ओर औद्योगीकरण से जो समाज विकसित हुआ उसमे सैनिक दोप थे और यह समाज विशाल जनसमूह को सतोप प्रदान नही कर सका। उत्पादन की मात्रा निरंतर बढ़ रही थी किन्तु अधिकाश लोगो का जीवन फिर भी अभावग्रस्त बना हुआ था। उद्योगपति वर्ग को संपन्न और ऐश्वर्यशाली जीवन के साधन प्राप्त हो गये किन्तु समाज के विशाल वर्ग का जीवन असंतोषजनक था। आर्थिक असमानता बढ रही थी और अधिक स्पष्ट होती जा रही थी। श्रमिको की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति गिरती जा रही थी। जिनका जीवन सुखी और सतुष्ट था वे भी अपने आस-पास व्याप्त दुख और असतोप को देखकर विचलित हो रहे थे। बौद्धिक धारा की दिशा बदल रही थी और अनेक कल्पनावादियो ने नये समाज की कल्पना की और रावर्ट ओवेन जैसे उद्योगपति धरती पर स्वर्ग बनाने का प्रयास कर रहे थे किन्तु जनसाधारण का उत्थान नही हो रहा था। सर्वाधिक सुख, स्वतन्त्रता, समानता और बधुत्व के अधिकार मृगतृष्णा बन चुके थे। हीगेल का वैज्ञानिक आदर्शवाद भी अनुपयोगी हो चुका था। न तो राज्य का ईश्वरीकरण ही जनसाधारण को मुक्ति दे सका, न यद्भाव्यम् का विचार। राज्य की उदासीनता के कारण

उद्योगपतियों का ही लाभ हो रहा था और स्वतंत्रता शोषण करने का अधिकार बन चुकी थी। विशाल श्रमिक और धनहीन वर्ग को न तो इंगलैंड का यद्भाव्यम् राज्य दे सका न फ्रांस और जर्मनी के असीम संप्रभु। मानव जीवन की राजनीतिक और आर्थिक समस्याये अलग नहीं थी बल्कि हर समस्या 'आर्थिक राजनीतिक' मिश्रण बन गई थी। राजनीतिक सिद्धात अपने-आप मे पर्याप्त नही थे बल्कि नये समाज दर्शन की जरूरत थी जो 'सामाजिक—आर्थिक—राजनीतिक' सिद्धात हो। हीगेल के समाज दर्शन में आर्थिक विचारों की कमी थी जिसके कारण सामाजिक समस्याओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था।

सपूर्ण सामाजिक दर्शन देने का प्रयास कार्ल मार्क्स ने किया। मार्क्स को इस बात की अनुभूति हुई कि मानव को हीनता और दीनता के जीवन से बचाने के लिये समाज का स्वरूप बदलना आवश्यक है ; यह परिवर्तन अर्थव्यवस्था को बदल कर ही लाया जा सकता है और राज्य की शक्ति मे परिवर्तन किये बिना अर्थव्यवस्था को बदलना संभव नही। इस प्रकार कार्ल मार्क्स के साथ समाज दर्शन का एक नया रूप शुरू हुआ जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चिन्तन का मिश्रण पाया जाता है। सामाजिक रोग के विश्लेषण मे और उसके लिये औषधि प्रदान करने मे मार्क्स कहा तक सफल हुआ यह निश्चित और निष्पक्ष रूप मे कहना सभव नही है, क्योकि "जिस व्यक्ति को लाखो लोग ईश्वर की तरह पूज्य मानते हो और अन्य लाखो शैतान की तरह निदंनीय, ऐसे व्यक्ति का मूल्यांकन शात मस्तिष्क से करना कठिन है—" (मेक्सी)। वर्तमान विश्व मे और विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध के बाद मार्क्स के पक्ष और विपक्ष का विरोध इतना तीव्र हो चुका है कि प्रत्येक व्यक्ति उसके विचारो के अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव अनजाने ही ग्रहण कर लेता है। मार्क्स के पक्ष और विपक्ष मे जो विशाल साहित्य लिखा गया है और वर्तमान अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे शीतयुद्ध के परिणाम स्वरूप जो वातावरण तैयार हो गया है उसके कारण मार्क्स का निष्पक्ष अध्ययन सभव नही है। यह भी निश्चित है कि राजदर्शन का अध्ययन इस दार्शनिक के बिना पूर्ण नही होगा। आगे की पक्तियो मे मेक्सी स्वयं यह लिखते हैं कि "यदि मार्क्स की अवहेलना की जा सकती तो यह दोनो विरोधी वर्गो की दुर्भावना (antipathy) मोल लेने की आवश्यकता ही नहीं थी किन्तु जिस व्यक्ति के विचारों ने संपूर्ण विश्व को दो विरोधी गुटो मे बाट रखा है उस व्यक्ति की अवहेलना कैसे सभव है।" इन कारणों से यह आवश्यक हो जाता है कि हम मार्क्स का अध्ययन अधिक से अधिक निष्पक्ष रूप से करे और उसके सबंध मे जो भी पूर्वधारणाये है उन्हें भूल जावे।

जर्मनी के ट्रीव्स (Treves) नगर मे ५ मई १८१८ को कार्ल मार्क्स का जन्म

हुआ था। उसके पिता यहूदी थे किन्तु कार्ल के बाल्यकाल मे ही उन्होने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। कार्ल मार्क्स के पिता एक साधारण वकील थे और चाहते थे कि पुत्र भी शिक्षित होकर उनका व्यवसाय ग्रहण करे। इस उद्देश्य से उसे बॉन और बर्लिन विश्वविद्यालय भेजा गया किन्तु उसे कानून के अध्ययन मे रुचि नही थी और उसने इतिहास तथा दर्शन का अध्ययन शुरू किया। विश्वविद्यालय मे वह हीगेल के दर्शन के प्रभाव मे आया। हीगेल की मृत्यु कुछ वर्ष पूर्व हो चुकी थी किन्तु उच्चशिक्षा के तीर्थो पर उसका प्रभाव बना हुआ था विशेष रूप से बर्लिन और जेना मे सभी विवादों मे हीगेल की चर्चा होती थी। १८३८ मे कार्ल मार्क्स के पिता का देहान्त हो गया और उसे स्वय जीविका की खोज करनी पडी। उसका विचार अध्यापक बनने का था इस लिये जेना विश्वविद्यालय मे दर्शन मे डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। ऐसा कहा जाता है कि इसी समय शिक्षा मत्रालय मे परिवर्तन होने से उसे अपनी पसन्द का पद न मिल सका, इसलिये वह जीविका की खोज मे बर्लिन आया। टीकाकारो का यह विचार है कि यदि जीवन के आरभिक वर्षो मे मार्क्स को यह असंतोष न मिला होता और उसकी बौद्धिक प्रतिभा विश्वविद्यालय के जीवन मे व्यस्त हो जाती तो उसकी शक्तियां दलित वर्ग की क्राति की ओर न मुडती। बर्लिन मे मार्क्स ने पत्रकार का जीवन शुरू किया और शीघ्र ही प्रधान सपादक के पद पर पहुँच गया। १८४३ मे एक पत्रिका के सह-सपादक के रूप वह पेरिस गया किन्तु एक वर्ष बाद ही पत्रिका का प्रकाशन बद हो जाने से उसे घोर निर्धनता का सामना करना पड़ा।

१८४४ मे मार्क्स के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना हुई—फ्रेडरिक एंगिल्स से परिचय। एंगिल्स (Engels) एक सपन्न व्यवसायी थे जिनकी कई कपड़े की मिलें थी किन्तु उनके विचार दृढ समाजवादी थे। यह मित्रता मेक्सी के शब्दो मे "इतिहास मे एक अद्भुत बौद्धिक और आध्यात्मिक सहयोग" का उदाहरण है। इस मित्रता के परिणामस्वरूप मार्क्स की विचारधारा क्रमशः क्रातिवाद की ओर बढती गई। एन्गिल्स ने मार्क्स की आर्थिक सहायता तो की ही उसके विचारो के निर्माण और प्रचार मे भी महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। यह सहयोग इतना अधिक है कि मार्क्सवाद को मार्क्स और एन्गिल्स का सम्मिलित सिद्धात कहा जाता है। एन्गिल्स स्वय एक बौद्धिक प्रतिभा-वाला व्यक्ति था जिसे आर्थिक सिद्धातो का बहुत अच्छा ज्ञान था और मार्क्सवाद के अनेक ग्रन्थ मार्क्स और एन्गिल्स के सम्मिलित नाम से प्रकाशित हुए है। १८४५ मे उग्र विचारो से पूर्ण एक लेख के प्रकाशन के कारण मार्क्स को फ्रास से निकाल दिया गया। ब्रसेल्स (Brussels) पहुँचकर उसने साम्यवादी संघ की सदस्यता ग्रहण की और क्रातिकारी आन्दोलन मे सक्रिय सहयोग लेना शुरू कर दिया। १८४८ मे साम्यवाद

का महान् धर्म ग्रन्थ 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' (Communist Manifesto) मार्क्स और एन्गिल्स के नाम से प्रकाशित हुआ। इसी समय फ्रास की क्रांति मे अपने विचारो को क्रियान्वित करने के लिये मार्क्स पेरिस भागा किन्तु विलम्ब से पहुँचा। क्राति असफल हो चुकी थी और उसे फ्रांस से फिर भागना पडा। कोलोन (जर्मनी) पहुँचकर उसने अपने भाग्य की परीक्षा करनी चाही किन्तु वहा से भी निकाल दिया गया, पेरिस मे भी जगह नही मिली और उसे लंदन जाना पडा जहां उसका शेष जीवन एन्गिल्स की आर्थिक सहायता पर गुजरा। लंदन मे मार्क्स का जीवन एक पागल विद्यार्थी की तरह ब्रिटिश म्यूजियम मे अध्ययन और लेखन मे गुजरा। यह कहा जाता है कि वह ग्रन्थालय मे पढते हुए प्राय: भोजन करना भी भूल जाता था और इस कठोर परिश्रम ने अनेक ग्रन्थ प्रदान किये 'क्रिटिक आफ पोलिटिकल इकानामी' (१८५६) 'वेल्यू, 'प्राइस एन्ड प्राफिट' (१६६५) और विशाल ग्रन्थ 'डास केपिटल' (Das Kapital) जिसका प्रथम भाग १८६७ में प्रकाशित हुआ और शेष दो भाग उसकी मृत्यु के बाद एन्गिल्स ने प्रकाशित किये। १८८३ मे मार्क्स की मृत्यु हो गई किन्तु वह दुनिया को हिला देने के लिये अनेक ज्वालामुखी छोड़ गया।

मार्क्स के विचारो ने दुनिया में एक तहलका जरूर मचा दिया किन्तु मार्क्स का दर्शन राजनीति दर्शन को नवीन देन नही है। मार्क्सवाद के सभी सैद्धातिक आधार यूरोप के बौद्धिक क्षेत्र मे पहले से ही प्रचलित थे। किसी न किसी रूप मे यह सभी विचार बौद्धिक वातावरण मे व्याप्त थे, किन्तु यह सभी विचार अलग और असंबद्ध थे। समाजवाद का कोई निश्चित और पूर्ण सिद्धांत नही था। मार्क्स ने अपने दर्शन का मूल आधार विश्वविद्यालय के जीवन मे ही प्राप्त किया। हीगेल की प्रणाली से प्रभावित होकर उसने द्वन्दवाद को भी स्वीकार किया और इतिहास दर्शन को आवश्यकता को भी। दोनो सिद्धातों का स्वरूप मार्क्स ने ग्रहण किया किन्तु विषय वस्तु बदल दी। मार्क्स का द्वन्दवाद भौतिक है और सामाजिक विकास की व्याख्या आर्थिक। इसका कारण भी स्पष्ट है, मार्क्स के जीवन में असंतोष और विक्षोभ के कारण उसकी सद्भावना दलित वर्ग के साथ हो गई और उसने जीवन के आर्थिक पहलू को भी समाज दर्शन मे शामिल कर लिया। मार्क्स ने आर्थिक अध्ययन पेरिस मे शुरू किया क्योंकि संपादक के रूप मे उसने इस बात का अनुभव किया कि अर्थशास्त्र के ज्ञान के बिना सामाजिक समस्याओं का अध्ययन पूर्ण नही हो सकता है। श्रमिकों का शोषण, उनकी दयनीय अवस्था और उनके जीवन के प्रति राज्य की उदासीनता अनेक विचारको का ध्यान आकर्षित कर चुकी थी। औद्योगीकरण के दुष्परिणाम स्पष्ट हो चुके थे और

समाज के बड़े वर्ग के सुख, शांति और स्वास्थ्य की सुविधा की खोज शुरू हो चुकी थी।

साम्यवाद का वर्णन सदियों पहले प्लेटो कर चुका था, सर टामस मूर का यूटोपिया भी नए साम्यवादी समाज की कल्पना थी। कुछ वर्षो पहले रावर्ट ओवेन (Robert Owen) और चार्ल्स फूरिये (Charles Fourier) ने भी पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध नई व्यवस्था बनाने का प्रयास किया था। रावर्ट ओवेन इङ्गलैंड के प्रमुख व्यवसायियों में शामिल थे और श्रमिक वर्ग के प्रति उचित सहानुभूति भी रखते थे। इन्होने स्वयं का धन लगाकर अमेरिका मे एक ऐसा औद्योगिक उपनिवेश बनाने का प्रयास किया जो श्रमिक वर्ग का स्वर्ग हो। १८१३ मे उसके कुछ लेख प्रकाशित हुए जिनमे उसने श्रमिको की अवस्था सुधारने के विभिन्न उपायो का वर्णन किया है। १८१७ में उसने ब्रिटेन की संसद के सामने श्रमिको के उद्धार के लिये एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जिसमे उसने यह दर्शाया कि औद्योगीकरण और विशाल उत्पादन के परिणाम स्वरूप श्रमिक की मजदूरी कम हो गई है और उसकी आर्थिक दशा बिगडती जा रही है। इस व्यवस्था मे सुधार करने के लिये ओवेन ने सहकारी ग्रामो की स्थापना का सुझाव दिया। फ्रास मे चार्ल्स फूरिये ने भी सहकारिता पर जोर देते हुए समाजवादी ग्रामो का निर्माण करने का प्रयत्न किया। दोनो विचारको ने अपनी कल्पना को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास अवश्य किया किन्तु फिर भी उनके विचार कल्पना प्रधान थे। आर्थिक उत्पादन को सामाजिक व्यवस्था का आधार मानने की और वर्ग सघर्ष की बात संत साइमन कर चुका था और प्रूधा ने हर प्रकार की संपत्ति को चोरी बतलाया था तथा राज्यहीन समाज की कल्पना भी की थी।

मार्क्स के आर्थिक विचारो का आधार अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात है जो स्वयं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के मूल्य के श्रम सिद्धात पर आधारित है। क्रातिकारी श्रमिक संगठन भी यूरोप के अनेक नगरो मे कार्य कर रहे थे और उनसे मार्क्स का प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। आर्थिक असतोष नये समाज की कल्पना, इतिहास दर्शन, क्रातिवाद सभी यूरोप के वातावरण मे समाये हुए थे किन्तु सब एक दूसरे से अलग थे। मार्क्स ने इन सब विचारो को एकत्र किया, उनका समन्वय किया और उन्हे एक नया वैज्ञानिक रूप दिया। इतना ही नही मार्क्स और एन्गिल्स ने अपने विचारो को क्रियान्वित करने का भी प्रयत्न किया। फ्रास और जर्मनी की क्रांति मे असफल हो जाने पर भी ये कर्त्तव्यनिष्ठ दार्शनिक श्रमिक संगठनो के निर्माण और संचालन मे लगे रहे।

अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी सगठन की स्थापना की गई और लंदन से ही मार्क्स श्रमिक नेताओ का पथ प्रदर्शन करता रहा। मार्क्स का यह विश्वास था कि उसके विचार 'पूर्ण रूपेण व्यावहारिक हैं और उसने सामाजिक विकास का वैज्ञानिक सिद्धांत खोज लिया है जिसमे न कोई कमी है, न कोई संदेह। इसलिये यह कहा जाता है कि "मार्क्स ने साम्यवाद को अराजकता की स्थिति मे पाया और उसे एक आन्दोलन के रूप मे छोड़ गया।" यह कहने की आवश्यकता प्रतीत नही होती कि मार्क्स के वाद से आज तक साम्यवाद एक सक्रिय और शक्तिशाली आन्दोलन वना हुआ है। हम इस विचारधारा से सहमत भले ही न हो किन्तु इसके अस्तित्व को तो स्वीकार करना ही होगा। मार्क्स के विचारो का महत्व केवल सैद्धातिक नही वल्कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी वहुत अधिक है। मार्क्स के पहले साम्यवाद और समाजवाद एक कल्पना, एक आकर्पक कामना थी किन्तु मार्क्स ने उसे वैज्ञानिक, संगठित और क्रातिकारी स्वरूप प्रदान किया। मार्क्स स्वयं यह विश्वास करता था कि इन विचारो के माध्यम से सपूर्ण विश्व को वदला जा सकता है। अपना उद्देश्य निर्धारित करते हुए वह लिखता है, "दार्शनिको ने विश्व की व्याख्या करने के प्रयत्न किये है, किन्तु महत्वपूर्ण वात है उसे--वदलना।" मार्क्स ने अपना यह विश्वास अपनी पीढ़ी को व आनेवाली पीढियो को प्रदान किया और उन्हे इस उद्देश्य की प्राप्ति का मार्ग दर्शाया। आज के साम्यवादी मार्क्स के सिद्धात मे उतनी ही श्रद्धा रखते है जितना कोई व्यक्ति अपने धर्म में रखता है इसलिये यह कहना अधिक उचित होगा कि उसने साम्यवाद को केवल आन्दोलन ही नही वल्कि एक संप्रदाय वना दिया" (Not only a movement but a creed) और इस संप्रदाय की पूर्ण श्रद्धा 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' के अंतिम वाक्य मे व्यक्त है, "दुनिया के मजदूरो एक हो जाओ; तुम्हारे पास हारने को कुछ नही है और संपूर्ण विश्व विजय करने के लिये तुम्हारे सामने है।"

मार्क्स का संपूर्ण दर्शन आर्थिक और राजनीतिक सिद्धातो का मिश्रण है। पूजीवाद का विश्लेपण, श्रमिक जीवन का चित्रण, आर्थिक शोषण नियतिवाद और नये समाज की कल्पना सभी विचार मूलत. आर्थिक है। इन विचारो की पुष्टि के लिये दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धातो की स्थापना की गई है। फिर भी राजनीतिक सिद्धांतो के लिये 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' और आर्थिक सिद्धांतों के लिये 'डास केपिटल' ही प्रधान ग्रन्थ है। अध्ययन के दृष्टिकोण से मार्क्स के सिद्धांत को तीन वर्गो मे वाट लेना अधिक उचित होगा--(१) समाज दर्शन जो संपूर्ण दर्शन का वैज्ञानिक आधार है। इसके अंतर्गत द्वन्दात्मक भौतिकवाद, एतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग सघर्प का सिद्धांत शामिल है। (२) दूसरे वर्ग में राजनीतिक सिद्धांत है जिनके अंतर्गत समाजवादी क्रांति

और वर्गहीन व राज्यहीन समाज की कल्पना प्रधान है। (३) आर्थिक सिद्धांत जिसके अंतर्गत आर्थिक नियतिवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत, आर्थिक शोषण और संपत्ति के राष्ट्रीयकरण के विचार शामिल हैं।

समाज दर्शन—मार्क्स का समाज दर्शन हीगेल की वैज्ञानिक पद्धति से प्रभावित है तथा हीगेल की तरह इतिहास दर्शन पर आधारित है। मार्क्स यह दर्शाना चाहता है कि मानव जाति का विकास असंबद्ध घटनाओं का परिणाम नहीं है बल्कि इस विकास की एक वैज्ञानिक पद्धति है। मानव समाज का विकास निश्चित नियमों से हुआ है और आगे भी इन्ही नियमो से होगा। यदि इस नियम को हम जान लें तो समाज का अध्ययन पूर्ण रूप से वैज्ञानिक बन सकता है। हीगेल ने इस वैज्ञानिक अध्ययन के लिये द्वन्दवाद का सहारा लिया और इसी द्वन्दात्मक प्रणाली से मार्क्स इतिहास की नई व्याख्या प्रस्तुत करता है जो हीगेल की व्याख्या से सर्वथा भिन्न है।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद—हीगेल की द्वन्दात्मक प्रणाली को स्वीकार करते हुए मार्क्स ने उसके मूल आधार को त्याग दिया क्योंकि यह आधार मार्क्स के उद्देश्य के अनुकूल नही था। द्वन्दात्मक प्रणाली मे वाद, प्रतिवाद और सवाद का क्रम मार्क्स स्वीकार करता है और यह भी मानता है कि यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि हम अंतिम समन्वय पर नही पहुँच जाते किन्तु यह विरोध विचारों का नही है बल्कि भौतिक शक्तियों का है। प्रत्येक शक्ति (वाद) की विरोधी शक्ति (प्रतिवाद) होती है जिसके समन्वय से नई शक्ति का जन्म होता है। अंतिम समन्वय एक ऐसी शक्ति है जिसका विरोध नही किया जा सकता।

मार्क्स के अनुसार हीगेल का मूल भ्रम यह है कि वह मानव चेतना को मूल सत्य मानकर चलता है जो मनुष्य के जीवन और अस्तित्व को निश्चित करती है, जबकि मार्क्स स्वयं यह मानता है कि मनुष्य का सामाजिक अस्तित्व ही मानव चेतना का निर्माण करता है। मानव चेतना का स्वरूप उन परिस्थितियो का परिणाम होता है जिनमे मनुष्य अपना जीवन व्यतीत करता है। देश और काल के अंतर से मानव चेतना का स्वरूप भी बदल जाता है। इतिहास की विभिन्न अवस्थाओ मे सामाजिक चेतना का स्वरूप अलग रहा है जिससे यह प्रमाणित होता है कि चेतना स्वयं जीवन के वातावरण से निर्मित है। सामाजिक जीवन को विभिन्न अवस्थाओ में जीवन की भिन्नता का आधार है बदलता हुआ आर्थिक सगठन। किसी विशेष समय पर सामाजिक जीवन का रूप उपलब्ध उत्पादन के साधनों पर निर्भर रहता है। इस प्रकार मार्क्स

यह दर्शाता है मानव चेतना स्वयं आर्थिक या भौतिक शक्ति से निर्मित होती है ; इसलिये द्वन्द का आधार चेतना न होकर यह भौतिक शक्ति ही होनी चाहिये । इस प्रकार वह द्वन्दात्मक भौतिकवाद पर पहुँचता है ।

मार्क्स ने स्वयं भौतिकवाद को कही स्पष्ट करने का प्रयत्न नही किया किन्तु उसका अर्थ आर्थिक शक्तियो से है । स्पष्टतः उत्पादन के साधन ही सामाजिक द्वन्द को निर्धारित करते है । एक अर्थ मे मार्क्स का भौतिकवाद प्रचलित भौतिकवाद से भिन्न है, कि वह भौतिक तत्व को ही सत्य नही मानता, बल्कि भौतिक शक्ति केवल एक माध्यम है ; सत्य है गति, परिवर्तन, विकास । शक्तियो का द्वन्द इसी विकास को स्पष्ट करता है ।

ऐतिहासिक भौतिकवाद या आर्थिक नियतिवाद :—मार्क्स के सपूर्ण विचारो का आधार द्वन्दात्मक भौतिकवाद है और इसी सिद्धात से उसने सामाजिक विकास की व्याख्या भी की है । इतिहास की व्याख्या भौतिकवादी है, आर्थिक शक्तिया समाज और सभ्यता के विकास को एक निश्चित दिशा मे ले जाती हैं । यह दिशा आर्थिक शक्तियो के द्वारा ही निश्चित होती है और यह शक्तिया स्वचालित है । मनुष्य न तो इन शक्तियो का निर्माण करता है न इनकी क्रिया को बदल सकता है, इसीलिये यह सिद्धात आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) भी कहलाता है । हीगेल की तरह मार्क्स भी सामाजिक विकास का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है किन्तु यह विश्लेषण सर्वथा भिन्न है, क्योकि हीगेल के लिये सभ्यता का विकास चेतना के विकास के साथ होता है । जिस तरह व्यक्ति की चेतना सर्वव्यापी चेतना के निकट पहुँचती जाती है उसी रूप मे समाज अधिक व्यापक और अधिक शुद्ध होता जाता है । इस प्रणाली मे इतिहास की प्रगति संगठित जीवन के निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर किया गया है किन्तु मार्क्स इसे गलत मानता है । समाज का विकास स्वयं अपनी शक्तियो से होता है और मानव मस्तिष्क के प्रभाव से मुक्त है । मार्क्स कहता है, "हीगेल के सिद्धांत में इतिहास की वास्तविक घटनाओ को द्वन्दवाद के ढाचे मे ढालने का प्रयत्न किया गया है तथा उन्हे 'पूर्ण विचार' (Absolute Idea) के विभिन्न स्वरूपों के अनुरूप दर्शाने का प्रयत्न किया गया है ।" इसका परिणाम यह होता है कि सभ्यता का विकास क्रमशः अधिक कठोर संगठन के रूप में होता है और सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य समाज के विकास की चरम सीमा है । मार्क्स का यह दावा है कि इतिहास की सही व्याख्या उसने ही की है और द्वन्दवाद का उचित प्रयोग किया है । मानव सभ्यता के विकास से

राजनीतिक बंधन कठोर नही वल्कि कमजोर होने चाहिये । इसलिये मार्क्स ने हीगेल के द्वन्दवाद मे 'पूर्ण विचार' के स्थान पर उत्पादन के साधनों को आधार माना है। मनुष्य का जीवन उसके वातावरण से निर्मित होता है और वातावरण आर्थिक उत्पादन की प्रणाली से बनता और बदलता है । सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में जो अंतर पाया जाता है उसका मूल कारण है उत्पादन के साधनो का अंतर । मनुष्य का वर्गो मे संगठित होना और उनके पारस्परिक सम्बन्धो का निर्माण उत्पादन के साधनों से ही होता है । इसके परिणाम स्वरूप सामाजिक विकास का रूप ही बदल जाता है और विकास का अंतिम परिणाम सर्वशक्तिशाली राज्य नही है बल्कि राज्यहीन समाज । मार्क्स का निष्कर्ष हीगेल से बिल्कुल विपरीत है । मार्क्स ने हीगेल के द्वन्दवाद को दो प्रकार से उलटा कर दिया—समाज का विकास राज्यहीन दिशा की ओर है और चेतना के द्वन्द से सामाजिक शक्तियो का नही बल्कि सामाजिक शक्तियो के द्वन्द से चेतना का निर्माण होता है । मार्क्स को अपने सशोधन की शुद्धता पर इतना अधिक विश्वास था कि वह लिखता है, "हीगेल के सिद्धात मे द्वन्दवाद अपने सिर पर खड़ा था, मैंने उसे पैरों पर खड़ा किया ।"

परिवर्द्धित और शोधित द्वन्दवाद की सहायता से मार्क्स सभ्यता के विकास की व्याख्या प्रस्तुत करता है । सभ्यता का विकास दो भौतिक शक्तियो के द्वन्द का परिणाम है और यह शक्तियां आर्थिक है । सामाजिक विकास की प्रत्येक अवस्था मे दो आर्थिक शक्तियों का विरोध चलता रहता है और ये शक्तियां तथा इनका संघर्ष उत्पादन की प्रचलित प्रणाली से निर्देशित होती है। "वैधानिक सम्बन्धो और राज्य के स्वरूपो का स्पष्टीकरण मानव मस्तिष्क की सामान्य प्रगति के आधार पर नही किया जा सकता, इनका आधार जीवन की भौतिक परिस्थितियां है ।" प्राचीनकाल से वर्तमान समय तक समाज मे जो परिवर्तन हुए है उनके पीछे यदि कोई निश्चित नियम है तो वह उत्पादन के साधनो मे ही खोजा जा सकता है । मार्क्स का यह विश्वास है कि "सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों से घनिष्ट रूप से संबद्ध है । नई उत्पादन शक्ति को प्राप्त करने मे मनुष्य उत्पादन का रूप बदल लेते है , और उत्पादन का रूप बदलने मे'' '''अपने संपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध बदल लेते है । हाथ की चक्की सामंतवादी समाज को जन्म देती हैं ; वाष्प चक्की पूजीवादी समाज को ।" इस आधार पर मार्क्सवाद मे सामाजिक विकास की अवस्थायें इस प्रकार बतलाई गई है—(१) आदिम साम्यवाद (Primitive Communism) जहा उत्पादन का आविष्कार नही हुआ था बल्कि मनुष्य अपनी

आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं से करता था। (२) दास युग (Age of Slavery)—उस प्राचीन समाज को कहा गया जब मनुष्य ने मनुष्य को उत्पादन का साधन बनाया। एक व्यक्ति अपने दासों के द्वारा उत्पादन कराता था। (३) सामंतवादी युग (Feudal Age)—सरल यंत्रों के आविष्कार से उत्पादन के यांत्रिक साधनों का प्रयोग। पशु चालित हल और हाथ चक्की से उत्पादन का स्वरूप बदलता है और सामाजिक वर्गों के सम्बन्ध भी बदल जाते हैं। उत्पादन अधिकतर भूमि से सम्बन्ध रखता है; अतः शोषण का मूल साधन कृषि ही है। जो लोग अधिक भूमि प्राप्त कर लेते है वे भूमिहीन लोगों का शोषण करते है। समाज में बड़े-बड़े जागीरदारों और भूमिपतियो का प्रभुत्व रहता है इसलिये इसे सामंतवादी युग कहा गया। (४) पूजीवादी अवस्था वर्तमान अवस्था है। वाष्प शक्ति के आविष्कार ने उत्पादन के साधनो मे विशाल परिवर्तन हो जाता है। बड़ी मशीनो का प्रयोग होने से उत्पादन की मात्रा बहुत अधिक बढ जाती है। उत्पादन के साधनों पर एक नये वर्ग का आधिपत्य हो जाता है जो बड़ी मात्रा मे पूजी लगाता है और उसी अनुपात में लाभ कमाना चाहता है। यह उद्योगपति संपत्तिहीन श्रमिक का शोषण करता है। समाज का स्वरूप उद्योगपति और श्रमिक वर्ग के सम्बन्धो मे निर्धारित होता है। इस अवस्था के विश्लेषण के बाद मार्क्स का इतिहास दर्शन एक नये समाज की प्रेरणा का रूप ग्रहण कर लेता है। मार्क्स का विश्वास है कि सामाजिक द्वन्द्ववाद को यही अंतिम अवस्था है और इसके बाद संपत्तिहीन श्रमिक स्वयं सत्ता प्राप्त कर लेंगे तथा उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत आधिपत्य समाप्त कर दिया जायगा। उत्पादन और वितरण पर संपूर्ण समाज का अधिकार होगा जिसके कारण सामाजिक द्वन्द समाप्त हो जायगा और यही अवस्था अंतिम सवाद या विकास की अंतिम अवस्था होगी। यदि मार्क्स की व्याख्या को सही मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि पूजीवाद को मार्क्स ने द्वन्द की अंतिम अवस्था कैसे मान लिया? मार्क्स यह भूल जाता है कि उत्पादन के साधनों मे और भी परिवर्तन हो सकते है और वाष्पशक्ति से भी अधिक शक्तिशाली साधन की खोज हो सकती है। आणविक युग मे उत्पादन के नये साधनो की झलक हमें दिखाई देने लगी है।

वर्ग संघर्ष—मार्क्स की ऐतिहासिक व्याख्या वर्ग संघर्ष के सिद्धांत पर आधारित है। मार्क्स वर्ग संघर्ष का आरंभ करने का श्रेय स्वयं नही लेता बल्कि फ्रेन्च विचारक आगस्टिन थीयरी (Augustin Thierry) को वर्ग संघर्ष का प्रणेता मानता है। मार्क्स का यह विचार है कि फ्रेन्च क्रांति के सभी विचारको में बुर्जुआ क्रांति को

वर्ग संघर्ष का अंत मान लिया जब, कि यह क्रांति वास्तव में एक नये वर्ग को जन्म देती है। मार्क्स समाजवादी क्राति को वर्ग संघर्ष का अंत मानता है किन्तु इतिहास के द्वारा इसका प्रमाणित होना अभी बाकी है। थीयरी के अलावा वर्ग संघर्ष का वर्णन संत साइमन (St. Simon) और गिजो (Guizot) के लेखो मे भी मिलता है। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के इस सिद्धांत को हीगेल के द्वन्दवाद से मिला दिया जिसके कारण वह अपने निष्कर्षो को वैज्ञानिक मान लेता है।

सामाजिक विकास मे द्वन्दवाद को स्पष्ट करते हुए मार्क्स ने यह स्वीकार किया कि समाज मे हमेशा दो विरोधी शक्तियो का संघर्ष होता रहा है। यह विरोधी शक्तिया समाज के दो वर्ग है जिनके आर्थिक हित एक दूसरे के विपरीत होते हैं। आर्थिक हितो का यह संघर्ष वाद और प्रतिवाद का रूप ले लेता है। संवाद के रूप मे समाज के नये संगठन का निर्माण होता है, एक नया वर्ग निर्मित होता है जिसका विरोधी वर्ग भी उत्पन्न हो जाता है और यह संघर्ष उस समय तक चलता रहता है जब तक वर्गहीन समाज की स्थापना नही हो जाती। आर्थिक उत्पादन पर व्यक्ति विशेष का अधिकार होने से शोषण आरभ होता है और समाज मे शोषक और शोषित वर्गो का निर्माण होता है। विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे इन वर्गो का स्वरूप और नाम अलग-अलग रहा है किन्तु मूल रूप मे इन्हे शोषक और शोषित वर्ग कह सकते है—प्रभु और दास, सामत और किसान, उद्योगपति और श्रमिक। एक वर्ग उत्पादन के साधनो का स्वामी होता है और दूसरा स्वयं उत्पादन का साधन मात्र बन-कर रह जाता है। उत्पादन के साधनो पर जिस वर्ग का आधिपत्य रहता है वह वर्ग समाज में श्रेष्ठ और प्रभावशाली बन जाता है तथा अन्य वर्गो का शोषण करता है। उत्पादन के साधनो मे परिवर्तन होने मे नये शोषक वर्ग का निर्माण होता है।

प्राचीन समाज मे उत्पादन मानव श्रम से ही होता था अतः प्रभु अपने दासों से श्रम लेता था और जो उत्पादन होता था उसका मालिक वह स्वयं बनता था। इस प्रकार प्रभु दास का शोषण करता था। वर्ग सघर्ष दास और प्रभु के बीच था। लघु व सरल यन्त्रो के निर्माण से उत्पादन प्रणाली मे परिवर्तन हुआ और दास का स्थान इन यन्त्रो ने ले लिया। इस समाज मे बडे भूमिपतियो ने गरीब किसानो का शोषण किया। संघर्ष किसान और सामंत वर्गो के बीच होने लगा। जब तक आर्थिक व्यवस्था कृषि पर आधारित रही समाज पर सामंतो का आधिपत्य रहा। वाष्पशक्ति के आविष्कार से विशाल यंत्रो का निर्माण हुआ। उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा और इन कारखानो

का संचालन करने के लिये एक नये वर्ग की आवश्यकता हुई जो बहुत अधिक मात्रा में नगद पूजी लगा सकता था। इस वर्ग के हित सामंतो और जमीदारों के हितो से भिन्न थे। जो सामत उद्योग सचालन मे आगे नही आये उनका महत्व समाप्त हो गया और समाज मे पूजीपति वर्ग की शक्ति स्थापित हो गई। उत्पादन की नई प्रणाली मे पूजी-पति श्रमिक वर्ग का शोषण करता है तथा संघर्ष श्रमिक और उद्योगपति के बीच होता है।

मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष सामाजिक विकास की प्रत्येक अवस्था मे होता है किन्तु इसका स्वरूप पूजीवादी अवस्था मे सबसे अधिक स्पष्ट होता है। पूजीवादी व्यवस्था में आर्थिक असमानता की खाई सबसे अधिक व्यापक हो जाती है। औद्योगीकरण से संपत्ति का केन्द्रीयकरण शुरू होता है जिसके परिणाम स्वरूप उद्योगपति निरतर धनवान होता जाता है और अन्य वर्ग क्रमशः अधिक दरिद्र होते जाते है। इस प्रकार पूजीवादी समाज में संघर्ष अधिक स्पष्ट और अधिक तीक्ष्ण होता जाता है। 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' में मार्क्स यह दर्शाता है, "पिछले युगो ने हम हर स्थान पर अनेक स्तरो मे विभाजित एक जटिल सामाजिक व्यवस्था पाते है, सामाजिक पदो का बहुमुखी विभाजन।" वर्तमान बुर्जुआ समाज ने वर्ग सघर्ष का अंत नही किया किन्तु नये वर्गो का निर्माण किया है, "इसने वर्ग संघर्ष को सरल कर दिया। संपूर्ण समाज दो विरोधी गुटो मे अधिकतर विभक्त होता जा रहा है, दो वर्गो मे जो एक दूसरे के प्रत्यच्च सामने है—बुर्जुआ और सर्वहारा।" मार्क्स का यह विश्वास है कि सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण से बीच के सभी वर्ग क्रमश. सर्वहारा मे विलीन होते जाते है। इन वर्गो का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न मार्क्स और एंगिल्स के ग्रन्थों मे नही किया गया। एंगिल्स ने एक बार सर्वहारा की व्याख्या इन शब्दो मे की "सर्वहारा समाज का वह वर्ग है जिसकी जीविका के साधन उसके श्रम के विक्रय पर निर्भर है, पूजी से प्राप्त लाभ पर नही।" यह संपत्तिहीन श्रमिक वर्ग है। यह व्याख्या पिछली शताब्दी मे लागू हो सकती थी किन्तु वर्तमान समय में श्रमिकों को भी उद्योग मे हिस्से (Shares) प्रदान किये जाने लगे है जिसके कारण ये श्रमिक स्वयं उत्पादन से लाभ प्राप्त करने लगे हैं। बुर्जुआ शब्द की स्पष्ट व्याख्या कही नहीं की गई किन्तु इसका अर्थ उद्योगपति वर्ग से है।

वर्ग संघर्ष को मार्क्स अनिवार्य और स्वाभाविक मानता है। इस आधार पर वर्तमान समाज मे श्रमिक और उद्योगपति का संघर्ष कृत्रिम नही है। श्रमिक आन्दोलन संगठनो और राजनीतिक दलों की उत्पत्ति नही है वरन् यह संघर्ष स्वाभाविक विकास का हिस्सा है। वर्ग संघर्ष से तीन निष्कर्ष मार्क्स निकालता है। (१) समाज में वर्गो का

अस्तित्व उत्पादन के साधनो पर आधारित है और इन साधनों मे परिवर्तन होने से वर्गो की स्थिति मे परिवर्तन आ जाता है। (२) वर्ग संघर्ष समाज को एक निश्चित दिशा में गतिशील बनाता है। यह गति स्वाभाविक है और मानव प्रयास से रोकी नही जा सकती। वर्ग संघर्ष का अत सर्वहारा की तानाशाही मे होता है। (३) सामाजिक विकास की गति वर्गहीन समाज की ओर है जहा सामाजिक द्वन्द समाप्त हो जाता है। यही सामाजिक विकास की अतिम अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिये पूजीवाद का अंत समाजवादी क्राति से किया जाता है और क्राति के बाद सर्वहारा की तानाशाही की स्थापना की जाती है।

सामाजिक विकास की स्वाभाविकता और अपने सिद्धान्त की वैज्ञानिकता सिद्ध करने के लिये मार्क्स यह दर्शाता है कि हर अवस्था मे कुछ ऐसे लक्षण निर्मित हो जाते है जो शोषक वर्ग के विनाश के लिये उत्तरदायी है। मार्क्स ने इन लक्षणो का वर्णन व्यापक रूप से पूजीवादी व्यवस्था मे ही किया है, किन्तु सामंतवाद का उल्लेख भी संक्षिप्त मे पाया जाता है। सामतवाद भूमिहीन वर्ग को जन्म देता है जो शहरों की ओर भागता है और उद्योगो मे ही अपनी मुक्ति पाता है। यह उद्योग ही सामंतवाद के विनाश के कारण बनते है। नये बाजारो की खोज से उद्योगो को अधिक प्रोत्साहन मिलता है है और उत्पादन बढाने के लिये विशाल कारखानो का निर्माण किया जाता है। एशिया के समुद्री मार्ग और अमेरिकी महाद्वीप की खोज ने "वाणिज्य, सामुद्रिक यातायात और उद्योग को जो प्रोत्साहन दिया, वह पहले कभी नही मिला, और इस प्रकार टूटती हुई सामतवादी व्यवस्था के क्रातिकारी तत्व को तीव्र गति प्रदान की।" उत्पादन मे वृद्धि के कारण उत्पादन व्यवस्था को नये रूप मे सगठित करने की आवश्यकता होती है। सामववादी व्यवस्था मे औद्योगिक उत्पादन मध्यम औद्योगिक वर्ग करता है—एक ऐसा वर्ग जो आर्थिक दृष्टिकोण से किसानो से अच्छा है किन्तु सामतो से नीचे। बाजार के विस्तार से इन छोटे उद्योगो का स्थान विशाल कारखाने ले लेते है और औद्योगिक मध्यम वर्ग का स्थान पूजीपति वर्ग ले लेता है। नये वातावरण मे सामतवादी व्यवस्था अनुपयोगी हो जाती है। अधिक उत्पादन के लिये बड़े कारखाने चाहिये जिनके लिये एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता है जो बडी मात्रा मे नगद पूजी लगाने के लिये तैयार है। व्यापार की नई सुविधाओ की आवश्यकता हो जाती है—यातायात के नये साधन, खुले बाजार की स्पर्धा। समाज मे इस नये वर्ग के हित अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं और सामंत वर्ग के हित क्रमश कमजोर पड़ते जाते है। क्रमशः सामतवादी व्यवस्था समाप्त हो जाती है और एक नया समाज व नया राज्य विकसित होता है जो पूजीपति वर्ग के

नेतृत्व में उत्पादन बढ़ाने में सहयोग देता है। मार्क्स का इशारा सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड और अट्ठारहवी शताब्दी में फ्रांस मे होने वाले परिवर्तन की ओर है।

इसी प्रकार पूंजीवाद भी स्वयं उन शक्तियों को जन्म देता है जो आगे चलकर उसके विनाश के लिये उत्तरदायी होगी। इस व्यवस्था मे एक नये वर्ग का निर्माण होता है संपत्तिहीन मजदूर जिनका श्रम ही उनकी संपत्ति है। उद्योगपति के द्वारा श्रमिक का शोषण होता है। वह अपनी जीविका कमाने के लिये दिन भर परिश्रम करता है फिर भी जीवन के साधारण सुख प्राप्त नही कर पाता। मार्क्स के समय मे यूरोप के मजदूरो की हालत आज की अपेक्षा बहुत गिरी हुई थी। दिन मे बारह घन्टे और चौदह घन्टे उनसे काम लिया जाता था; बालको और स्त्रियों से भी कठोर काम लिया जाता था। 'केपिटल' मे मार्क्स अत्यंत दयनीय चित्र प्रस्तुत करता है "नौ या दस वर्ष के बालक अपने बिस्तरो से उठाये जाते है और जीवन की नग्न आवश्यकताओ के लिये रात्रि मे दस, ग्यारह या बारह बजे तक कार्य करने के लिये बाध्य किये जाते हैं।" मिलों और श्रमिक बस्तियो का वातावरण अत्यंत गंदा और स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। तात्पर्य यह है कि उत्पादन बढाने के लिये और अधिक लाभ कमाने के लिये श्रमिक का अधिक से अधिक शोषण किया जाता है। इन परिस्थितियों के विरुद्ध श्रमिक संगठित होकर आन्दोलन करते हैं। प्रारंभ मे यह संघर्ष केवल आर्थिक होता है किन्तु क्रमशः यह वर्ग संगठित होता जाता है और अपने हितो के प्रति जागृत हो जाता है तथा यह संघर्ष राजनीतिक रूप ले लेता है।

वर्ग की व्याख्या करते हुए मार्क्स कहता है कि वर्ग एक ऐसा समूह है जिसमे आर्थिक हितो की समानता के साथ सामाजिक और राजनीतिक विचारों की समानता भी पाई जाती है। पूजीवादी व्यवस्था मे श्रमिको को केवल समान हितों का ही ज्ञान नही होता बल्कि उनमे समान विचारधारा का भी निर्माण होता है। पहले के किसी संघर्ष नही रहो जितना सर्वहारा वर्ग मे इतना शक्तिशाली वर्ग है। वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता और सर्वहारा की सफलता को निश्चित मानते हुए मार्क्स लिखता है, "पूजीवादी समाज स्वयं अपने कब्र खोदने वालो का निर्माण करता है। उसका (पूजीवाद) अंत और सर्वहारा की विजय समान रूप से निश्चित है।", पूजीवाद मे स्वयं के विनाश के बीज निहित है। पूजीवाद का आधार है बडे पैमाने पर उत्पादन जिसके कारण उन परिस्थितियो का निर्माण होता है; जो पूजीवाद के विनाश में सहायक होती है।

मार्क्स यह बतलाता है कि विशाल उद्योगों के लिये बड़ी संख्या मे मजदूरों की आवश्यकता होती है और देश के विभिन्न कोनों मे फैले हुए संपत्तिहीन श्रमिक इन कारखानो मे रोजी कमाने के लिये शहरो की ओर भागते है। विशाल श्रमिक बस्तियों की स्थापना होती है और सर्वहारा की बिखरी हुई शक्ति इन बस्तियो मे संकलित हो जाती है। इनके निवास का स्थान अन्य वर्गों से बिल्कुल अलग होता है जिससे इनके पारस्परिक संपर्क अधिक बढ़ते है। साथ काम करने और साथ रहने के कारण एक दूसरे के प्रति सहानुभूति जागृत होती है तथा सामान्य हितो का ज्ञान होता है। शोषित मजदूर यह जानता है कि वह अकेले उद्योगपति का मुकाबला नही कर सकता इसलिये सगठित शक्ति से उद्योगपति का मुकाबला किया जाता है। प्रारभ मे यह आन्दोलन केवल आर्थिक हितो की रक्षा के लिये होता है किन्तु बाद मे यह राजनीतिक रूप ले लेता है। पूंजीवाद मे आर्थिक असमानता भी अन्य अवस्थाओ की अपेक्षा अधिक स्पष्ट हो जाती है। वृहत् उत्पादन से धन थोड़े से हाथो मे केन्द्रित होता जाता है और बडा वर्ग निरतर दरिद्र होता जाता है। यह दोनो वर्ग प्रतिदिन के जीवन मे सपर्क मे आते है और श्रमिको को आर्थिक असमानता का आभास हमेशा होता रहता है। व्यापार की सुविधा के लिये यातायात के नये साधनो का निर्माण होता है जिससे अलग-अलग स्थानो के श्रमिकों को संगठित होकर संघर्ष करने का अवसर मिलता है। क्रमशः श्रमिक आन्दोलन अधिक व्यापक होता जाता है और राजनीतिक आन्दोलन का रूप ले लेता है। औद्योगीकरण जितना व्यापक होता जाता है श्रमिक आन्दोलन उतना ही दृढ होता जाता है। संघर्ष में अंतिम सफलता सर्वहारा को ही मिलती है और वह राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेता है तथा इस शक्ति की सहायता से पूंजीवाद का अंत करता है।

समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा की तानाशाही—पूंजीवादी मे वर्ग युद्ध समाजवादी क्राति की ओर अग्रसर होता है। सर्वहारा और उद्योगपति का संघर्ष क्रमशः बढता जाता है और पूंजीवाद का अंत करने के लिये श्रमिक वर्ग राजनीतिक क्राति करता है। श्रमिक आन्दोलन कई श्रेणियों से गुजरता है। सर्वप्रथम एक श्रमिक अपने हितो की रक्षा के लिये अपने उद्योगपति से संघर्ष करता है फिर एक मिल के श्रमिक संगठित होकर उस विशेष उद्योगपति का विरोध करते है। इस प्रकार मे मजदूर संघ (Trade Union) की स्थापना होती है। इस सगठित विरोध मे श्रमिक वर्ग को कभी-कभी अस्थाई सफलता प्राप्त होती है जिसके कारण उसमे संगठन की भावना और भी दृढ होती है तथा संगठित आन्दोलन को प्रोत्साहन मिलता है। क्रमशः एक

शहर के सभी श्रमिक और फिर संपूर्ण देश के सभी श्रमिक किसी एक उद्योगपति का नही वल्कि पूजीवादी उत्पादन व्यवस्था का विरोधी करने लगते हैं। श्रमिक आन्दोलन पूंजीवादी व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम है, किसी व्यक्ति या संगठन के प्रयासों का फल नही है। इस आन्दोलन मे मार्क्स ने हिंसात्मक और विध्वंसात्मक साधनों के प्रयोग का भी समर्थन किया है। प्रदर्शन, हड़ताल और तोड़-फोड से यह आन्दोलन मजबूत होता है और श्रमिक अपनी मागे पूरी कराने में सफल होते है। शुद्ध श्रमिक आन्दोलन से सर्वहारा को सामयिक सफलता ही मिलती है, उनका कल्याण संभव नही है और पूजीवाद का अंत सभव नही है।

पूजीवाद का अंत करने के लिये राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना आवश्यक है क्योकि मार्क्स का यह विश्वास है कि राज्य हमेशा शोषक करने वाले वर्ग की सहायता करता है। 'राज्य शोषण का यत्र है।' शक्तिशाली शोषण वर्ग हमेशा राज्य पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है और शासन को नियन्त्रित करने मे सफल हो जाता है। सामंतवाद का अंत करने के लिये बुर्जुआ क्राति के द्वारा राजनीतिक साधन पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता हे और उसकी सहायता से पूजीवादी समाज का निर्माण करता है। पूजीपति और सर्वहारा के विरोध मे राज्य हमेशा पूजीपति वर्ग का ही साथ देता है। इसलिये राजनीतिक परिवर्तन के विना सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन संभव नही है। मार्क्स यह मानता है कि श्रमिक वर्ग को राजसत्ता प्राप्त करने के लिये क्राति करना होगी क्योकि सशस्त्र क्राति के विना शोपक वर्ग अपना अधिकार त्यागने के लिये तैयार नही होगा किन्तु उसने यह स्वीकार किया है कि कुछ समाज ऐसे भी है जिसमे यह परिवर्तन सशस्त्र क्राति के विना भी आ सकता है। क्राति से हो या शातिपूर्वक, यह परिवर्तन अवश्यभावी है।

पिछली सभी क्रातियां नये शोपक वर्ग के लिये सहायक हुई हे। मार्क्स ने इङ्गलैड और फ्रांस की क्राति को बुर्जुआ क्राति ही माना है जिसके द्वारा समाज की सत्ता सामंत वर्ग के हाथो से निकलकर पूजीपति वर्ग के पास आ गई। इसके विपरीत सर्वहारा की क्राति शोपण का ही अत कर देती है और किसी नये शोपक वर्ग के निर्माण मे सहायक नही होती। क्राति करने का मूल दायित्व मार्क्स ने सर्वहारा पर ही माना है। क्राति के वाद सर्वहारा वर्ग स्वय निरकुश सत्ता प्राप्त कर लेता है और शासन का स्वरूप सर्वहारा की तानाशाही है। यद्यपि राज्य स्वयं शोपण का यंत्र ही है और अंत मे शोपण के साथ-साथ इस यत्र का अत भी स्वाभाविक है, फिर भी कुछ समय के लिये सर्वहारा को इस यंत्र का सहारा लेना पड़ता है। पूजीवाद का अंत उन्ही साधनों

से करना होगा जिन साधनो से वह स्थापित हुआ है और जिन पर उसका अस्तित्व निर्भर है। आर्थिक नियतिवाद का सिद्धात राज्यहीन समाज की ओर ले जाता है किन्तु यह मार्ग सर्वहारा की तानाशाही के माध्यम से ही है। श्रमिक क्रांति स्वयं नये समाज का निर्माण नही करती वल्कि निर्माण के साधन श्रमिक वर्ग के हाथो मे सौंप देती है। श्रमिक वर्ग को वह शक्ति प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा पूजीवाद का अंत किया जा सकता है और इस शक्ति का निरकुश प्रयोग करना आवश्यक है। 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' कहता है, "पहले के सभी ऐतिहासिक आन्दोलन अल्पमत के आन्दोलन रहे हैं। सर्वहारा वर्ग का आन्दोलन विशाल बहुमत का जागृत और स्वतंत्र आन्दोलन है।" समाज के इतिहास मे पहली वार इतना विशाल जनसमुदाय आन्दोलन के द्वारा स्वयं शक्ति प्राप्त करता है। क्रांति के वाद प्रमुख कार्य है, "सर्वहारा वर्ग को शासक के रूप मे उन्नत करना और प्रजातत्र का युद्ध जीतना। सर्वहारा वर्ग अपनी राजनीतिक सत्त का प्रयोग, पूजीपति वर्ग के हाथो से क्रमश. सपूर्ण पूजी छीनने के लिये तथा उत्पादन के सभी साधनो का राज्य मे केन्द्रीयकरण करने के लिये, करता है।" यह तानाशाही अस्थाई है; केवल संक्रमण कालीन अवस्था है जिसका उद्देश्य पूजीवाद के अवशेषो को समाप्त करना तथा क्राति के परिणाम को दृढतापूर्वक स्थापित करना है। मार्क्स का यह विचार है कि श्रमिक क्राति के वाद पूजीपति अपनी शक्ति वापिस लेने के लिये प्रयत्न करेगे इसलिये प्रतिक्राति की संभावना उस समय तक वनी रहेगी जव तक पूजीवाद के भग्नावशेष भी जड़ से समाप्त नही हो जाते। इस भय के कारण ही मार्क्स यह चाहता है कि सर्वहारा के द्वारा राजनीतिक शक्ति का प्रयोग निरकुशता और कठोरता के साथ होना चाहिये। इस काल मे संपत्ति का राष्ट्रीयकरण होता है और उत्पादन के संपूर्ण अधिकार राज्य स्वयं प्राप्त कर लेता है। उत्पादन का सचालन व्यक्तिगत लाभ-हानि के लिये नही होता वल्कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये। समाज के निर्देशन में आवश्यक उत्पादन मे वृद्धि होने से ही समाज क्रमश. समाजवाद और साम्यवाद की अवस्था मे प्रवेश करता है। पूजीवादी अवस्था मे उत्पादन मे वृद्धि अवश्य होती है किन्तु इसका उद्देश्य उद्योगपति के लिये लाभ प्राप्त करना है, सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना नही है; इसलिये विशाल उत्पादन के वावजूद भी समाज मे अभावग्रस्त जीवन वना रहता है।

केवल राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन ही पर्याप्त नही है वल्कि सामाजिक भावनाओ में भी परिवर्तन करना होगा। प्रत्येक युग की सामाजिक भावनायें और मान्यताये इस युग के शक्तिशाली वर्ग के द्वारा स्थापित और उसी के अनुकूल होती हैं।

"जिस समय कुलीनतंत्र की प्रधानता थी, सम्मान, श्रद्धा इत्यादि गुण श्रेष्ठ माने जाते थे, बुर्जुआ वर्ग की प्रधानता मे स्वतंत्रता और समानता के विचार प्रधान बन गये।" (मार्क्स)। प्रत्येक नया वर्ग जब राजसत्ता प्राप्त करता है तो पुराने विचारो को समाप्त करके अपने हितों के अनुकूल विचारो का प्रचार करता है। इन्ही विचारों को सर्वव्यापी उपयोगिता का स्वरूप प्रदान किया जाता है और इन्ही पर राज्य आधारित होता है। पूँजीवाद के विकास के लिय स्वतंत्र व्यापार और आर्थिक प्रतिस्पर्धा आवश्यक है। अतः इनके अनुकूल स्वतंत्रता और समानता का प्रचार किया जाता है। कुलीनतंत्र में सम्मानित वर्ग अपनी श्रेष्ठता को बनाये रखने के लिये वीरता, कुलीनता, सम्मान, श्रद्धा के आधार पर असमानता का समर्थन करता है। प्रजातंत्र की स्थापना उद्योगपति वर्ग के लिए लाभदायक और औद्योगीकरण के अनुकूल है। मार्क्स से पहले भी प्रजातंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन और राज्य के विकास का अंतिम रूप मान लिया गया था किन्तु मार्क्स के लिये प्रजातंत्र सामाजिक विकास की एक अवस्था है। राज्य स्वयं अस्थाई और अनावश्यक है फिर शासन का स्वरूप चाहे जो भी हो, राज्य एक शोषण का यंत्र है और यह सभी राज्यो पर समान रूप से लागू होता है। प्रजातत्र की स्थापना से इस मान्यता मे कोई अंतर नही आता क्योंकि प्रजातत्र भी राज्य का एक स्वरूप है, अतः अन्य राज्यों की तरह यह संगठित और व्यवस्थित रूप से मनुष्य पर बल का प्रयोग करता है।" मार्क्स का यह विश्वास है कि प्रजातत्रात्मक राज्य पूँजीपति वर्ग को शोषण करने मे सहायता देता है।

राज्य की शक्ति और बल प्रयोग की आवश्यकता श्रमिक वर्ग को भी होती है किन्तु किसी अन्य वर्ग का शोषण करने के लिये नहीं बल्कि पूंजीवाद का विनाश करने के लिये जिस प्रकार अपने प्रभाव को व्यापक बनाने के लिये सामंतो और पूँजीपतियो ने राज्य का सहारा लिया उसी वर्ग प्रकार पूँजीवादी मान्यताओं का अंत करने के लिये और नये विचारो का प्रचार करने के लिये श्रमिक को भी राज्य का सहारा लेना पड़ता है। राज्य के बलप्रयोग का उद्देश्य किसी वर्ग विशेष की सत्ता बनाये रखना नही है बल्कि सभी वर्ग भेद का अंत कर देना। मार्क्स यह भी मानता है कि पूजीवादी युग मे स्वतत्रता और समानता का केवल नारा ही लगाया जाता है व्यावहारिक रूप मे श्रमिक वर्ग को कोई स्वतत्रता नही होती और आर्थिक समानता के अभाव इनका कोई महत्व नही। श्रमिक वर्ग की तानाशाही अन्य सभी अधिकारो को सुरक्षित रखा जाता है किन्तु उत्पादन और विनिमय का अधिकार किसी को नही दिया जाता। यह अधिकार संपूर्ण समाज की ओर से राज्य स्वयं ग्रहण

कर लेता है और क्रमशः प्राचीन आर्थिक व्यवस्था का अंत करके नई व्यवस्था की स्थापना करता है जिसमे आर्थिक क्रियाओं का संचालन सामूहिक रूप से और संपूर्ण समूह के लिये होता है।

वर्गहीन और राज्यहीन समाज—द्वन्दवाद का सिद्धान्त हमे अंतिम समन्वय की ओर ले जाता है, एक ऐसा समन्वय जिसका कोई प्रतिवाद नही है। ऐतिहासिक भौतिकवाद का निष्कर्ष वर्गहीन समाज है क्योकि सामाजिक द्वन्द आर्थिक वर्गो का सघर्ष है और यह द्वन्द उसी समय समाप्त होता है जब समाज मे दो विरोधी वर्ग नही रह जाते, सपूर्ण समाज एक वर्ग बनकर रह जाता है। इस समाज के निर्माण का कार्य श्रमिक वर्ग की क्राति के बाद ही शुरू होता है। इस क्राति से समाज के सबसे बड़े वर्ग को शासन करने का अधिकार पहली बार मिलता है। पिछले सभी परिवर्तनो ने समाज मे एक नये शोषक वर्ग को जन्म दिया है किन्तु यह क्राति शोषण का पूर्णरूपेण विनाश कर देता है। सर्वहारा वर्ग शोषित वर्गो मे निम्नतम और संख्या मे विशालतम वर्ग है। यह वर्ग स्वयं शोषक नही बन सकता। अत. समाजवादी क्रांति के बाद शोषण समाप्त हो जाता है। शोषण रोकने के लिये उत्पादन के सभी साधनो पर से व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त करना आवश्यक है। उत्पादन तथा वितरण राज्य के निर्देशन मे होना चाहिये और राज्य पर सर्वहारा का अधिकार होना चाहिये। सपत्ति के समाजीकरण से वर्ग भेद भी समाप्त हो जाता है और वर्ग संघर्ष का भी अंत हो जाता है। तानाशाही काल मे सर्वहारा संगठित और शक्तिशाली रहता है, उसमें वर्ग चेतना रहती है और वह अपने विरोध को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिये कार्य करता है। पूजीवादी अवशेषो का अंत हो जाने से सर्वहारा की वर्ग चेतना भी समाप्त हो जाती है क्योकि इसे सगठित वर्ग के रूप मे कार्य करने की आवश्यकता ही नही रह जाती। शोषक व शोषित, धनी और गरीब के सभी अंतर समाप्त हो जाते है और वर्गहीन समाज का उदय होता है।

वर्गहीन समाज का निर्माण किन श्रेणियो और अवस्थाओ से होगा तथा इस समाज मे सामाजिक और आर्थिक संबध किस प्रकार के होगे, इन बातो का स्पष्टीकरण मार्क्स ने नही किया। यहां पहुंचकर मार्क्स का दर्शन आदर्शवादी बन जाता है। वह एक आदर्श समाज की ओर इशारा करता है जिसका स्पष्ट और विस्तृत चित्रण न तो उसका वैज्ञानिक सिद्धांत प्रदान कर सका न उसकी कल्पना। इस समाज के संबध मे कुछ विचार अवश्य प्राप्त होते है जिनका संबंध मूल रूप से नई आर्थिक व्यवस्था से है। सर्वहारा की तानाशाही के नेतृत्व मे समाज क्रमशः साम्यवादी अवस्था की ओर अग्रसर

होता है। राज्य के निर्देशन मे आर्थिक उत्पादन समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बढाया जाता है और राष्ट्रीय संपत्ति का वितरण व्यक्तिगत आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति करने के उद्देश्य से किया जाने लगता है। इस आर्थिक विकास की दो अलग-अलग अवस्थाये है। पहली अवस्था समाजवाद है। आर्थिक उत्पादन बढ जाने से समाज अपने सदस्यो की अधिकाश मांगे पूरी कर सकता है किन्तु सभी मांगें पूरी नही कर सकता। इसलिये इस अवस्था मे आर्थिक वितरण का सिद्धांत इस प्रकार होता है "प्रत्येक को उसकी योग्यता और क्षमता के आधार पर"। सामाजिक संपत्ति के वितरण मे दो बातो का ध्यान रखना होगा। उस व्यक्ति ने आर्थिक उत्पादन में कितनी समनाओ का योग दिया है तथा अन्य लोगो की तुलना मे उसकी योग्यता कितनी है। इस अवस्था मे मार्क्स आर्थिक असमानता को स्वीकार कर लेता है। यह अनुपातिक समानता का युग है क्योकि इस अवस्था मे उत्पादन इतना अधिक नही होता कि हर व्यक्ति की हर आवश्यकता की पूर्ति की जा सके। किसी न किसी आधार पर वितरण मे अंतर करने की आवश्यकता होती है और अंतर करने का सबसे अच्छा आधार योग्यता ही हो सकती है क्योकि पूजीवादी युग से आनेवाले लोगो मे योग्यता को श्रेष्ठ मानने की भावना बनी रहती है। इस भावना का एकाएक अत नही होगा और इसकी सपूर्ण अवहेलना उचित नही। इसके अतिरिक्त उत्पादन मे वृद्धि के क्रम को बनाये रखने के लिये भी यह आवश्यक है। योग्यता को प्रोत्साहन देने से हर व्यक्ति अपनी योग्यताओं और क्षमताओ का अधिकतम प्रयोग करता है। इस प्रोत्साहन से समाज क्रमश. साम्यवादी अवस्था की ओर बढता है। उत्पादन की मात्रा पर्याप्त हो जाने पर वितरण का सिद्धांत बदल जाता है "प्रत्येक को उसकी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार"। इस प्रणाली में योग्यता का स्थान आवश्यकता ले लेती है। आनुपातिक समानता के बदले भौतिक समानता स्थापित हो जाती है और हर व्यक्ति की हर उचित आवश्यकता की पूर्ति की जा सकती है। उत्पादन और वितरण की यह सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।

इस आर्थिक विकास मे राज्य का सहयोग आवश्यक होता है किन्तु इसी विकास से राज्य की उपयोगिता भी क्रमशः कम होती जाती है। साम्यवादी अवस्था में वर्ग भावना भी लुप्त हो जाती है और राज्य भी अनावश्यक हो जाता है। शोषण के यंत्र के रूप मे राज्य की आवश्यकता उसी समय तक रहती है जब तक शोषक वर्ग के अवशेष बने रहते हैं। सर्वहारा की विशाल शक्ति के आक्रमण से शोषण का अंत हो जाता है और शोषक वर्ग के अवशेष भी समाप्त कर दिये जाते है। "जब कोई पराधीन वर्ग नही रह जाता ...... "जब दमन करने के लिये कुछ नही रह जाता तो दमन

करने वाली विशेष शक्ति राज्य भी आवश्यक नहीं रह जाता।" इन शब्दों मे एंगिल्स ने राजनीतिक परिवर्तन का एक बहुत बड़ा विरोधाभास दर्शाया है। मार्क्स और एंगिल्स यह मानते है कि राज्य विशाल बहुमत का प्रतिनिधि सर्वहारा की क्रांति के बाद ही बनता है और वर्ग भेद मिट जाने से राज्य संपूर्ण समाज का प्रतिनिधि बन जाता है किन्तु इस उत्थान मे राज्य स्वय अनावश्यक भी हो जाता है। एंगिल्स के शब्दों मे "प्रथम कार्य जिसके श्रेय से राज्य संपूर्ण समाज का प्रतिनिधि बनता है—उत्पादन के साधन पर समाज के नाम मे आधिपत्य प्राप्त करना—यही राज्य का राज्य के रूप मे अंतिम स्वतंत्र कार्य है।" वर्ग भेद मिट जाने से एक वर्ग को दूसरे वर्ग पर स्वामित्व बनाये रखने के लिये राजसत्ता की आवश्यकता नही रह जाती। राज्य का यह अंत एकाएक नही होता बल्कि क्रमशः होता है। मार्क्स भी यह कहता है कि उत्पादन के राष्ट्रीयकरण के बाद "सामाजिक संबंधो मे राज्य का हस्तक्षेप क्रमशः एक के बाद दूसरे क्षेत्र मे अनावश्यक होता जाता है ... —राज्य समाप्त नही किया जाता, वह मर जाता है।" राज्य का यह अवसान क्रमिक होता है वह फूल की तरह 'मुरझा जाता है।' मार्क्स का यह विश्वास है कि इस अवस्था मे व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध स्वचालित हो जाते है और राज्य की शक्ति का प्रयोग कम होते-होते समाप्त हो जाता है।

राज्यहीन समाज की यह कल्पना हमे बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। मनुष्य कितना भी उन्नत हो जाय तथा व्यक्ति के पारस्परिक संबंध कितने भी नियत्रित और मधुर क्यो न हो जायं, राज्य की अनावश्यकता काल्पनिक ही दिखाई देती है। विशेष रूप से संपत्ति के राष्ट्रीयकरण के बाद उत्पादन का सचालन करने वाली कोई शक्ति होनी चाहिये। एक सभा केन्द्रीय सगठन होना चाहिये जो संपूर्ण समाज के लिये विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा और वितरण व्यवस्था निर्धारित करे, चाहे इस केन्द्रीय शक्ति को राज्य या अन्य किसी नाम मे पुकारे। यह माना जा सकता है कि मानव के बौद्धिक और नैतिक विकास के साथ-साथ राज्य का दमनकारी स्वरूप समाप्त होता जायगा, शोषण के यंत्र के रूप मे राज्य नही रह जायगा, राज्य की दंड देने वाली शक्ति का प्रयोग भी अनावश्यक हो जायगा किन्तु नियंत्रण, संतुलन और संचालन करने वाली केन्द्रीय शक्ति फिर भी आवश्यक रहेगी। शासन (Government) का वर्तमान स्वरूप भले ही न रहे किन्तु प्रशासन (Administration) का कोई न कोई रूप तो रहेगा ही। एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि तानाशाही काल मे राज्य की शक्ति और कार्यक्षेत्र बहुत अधिक बढ जाते है फिर एकाएक इनका ह्रास कैसे होगा? मार्क्स के विचारो मे इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। यह स्वीकार करना भी

कठिन है कि तानाशाही काल मे जिनके पास शक्ति है वे स्वयं इसे त्यागने के लिये तैयार हो जायंगे ।

मूल्यांकन—मार्क्स के पक्ष और विपक्ष में जितने साहित्य की रचना की गई है, किसी एक व्यक्ति या विषय पर नही हुई । प्रत्येक दृष्टिकोण से मार्क्स के विश्वासों और निष्कर्षो का खंडन किया गया है और प्रत्येक आरोप का प्रत्युत्तर देने का प्रयास समर्थको ने किया है । इसके अतिरिक्त मार्क्स के सिद्धान्त की इतनी असमान और विरोधी व्याख्याये की गई हैं कि यह कहना मुश्किल है कि मार्क्सवाद का सही रूप क्या है । अराजकतावादियो से लेकर उदार समाजवादियो तक तथा अंतराष्ट्रीय क्रांतिकारियों से लेकर शांतिपूर्ण सहअस्तित्ववादियो तक सभी अपने आप को शुद्ध मार्क्सवादी व दूसरों को मार्क्सवादी विरोधी कहते है । समाजवाद वर्तमान युग का फैशन बन गया है । इन सभी कारणों से एक पुस्तक की सीमा में मार्क्स का संपूर्ण मूल्यांकन नही किया जा सकता । मार्क्स की आलोचनाओं का उल्लेख करते हुए मेक्सी ने लिखा है "आलोचना की जिस विशाल बौछार का सामना मार्क्स के सिद्धान्त को करना पड़ा है आजतक और किसी सिद्धान्त को नही करना पड़ा । उग्रवादी और प्रतिक्रियावादी, समाजवादी और पूँजीवादी विचारकों ने अपनी पूरी शक्ति से मार्क्सवाद पर प्रहार किये हैं ।" इसके बावजूद भी यह विचारधारा नष्ट नही की जा सकी बल्कि आज भी विशाल जनसमूह के मस्तिष्क में दृढता पूर्वक स्थापित है । इसका कारण यह है कि मार्क्स के सिद्धान्त में वर्तमान की विवेचना बहुत कुछ वैज्ञानिक है जैसा कि लेन्कास्टर ने लिखा है "पूँजीवाद के दोषों के साम्यवादी विश्लेषण में बहुत सी ऐसी बाते हैं जिनसे गैर साम्यवादियो को भी सहमत होना पड़ेगा ।" इस विश्लेषण के कारण मार्क्स के सिद्धान्त से त्रस्त और दलित वर्ग को आशा की किरण दिखाई देती है, और उनका विश्वास श्रद्धा का रूप ले लेता है । यह बात उल्लेखनीय है कि मार्क्स के विचारो के प्रति समर्थकों की श्रद्धा किसी भी धर्मान्ध व्यक्ति की श्रद्धा से कम नही है । धर्म को अफीम बतलाने के बाद मार्क्स ने नये विश्वासों का नशा प्रदान किया है । दूसरी ओर द्वन्दात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त विचारो को वैज्ञानिकता का आवरण प्रदान करता है । वेपर ने यह मूल्यांकन इन शब्दो में किया है "उसने अपने युग की रिक्तता की पूर्ति की, क्योंकि उसने अपने विचारों को धार्मिक विश्वासो की शक्ति और स्पष्ट वैज्ञानिक प्रमाण की निश्चयात्मकता प्रदान की ।" किन्तु यह सब कहने के बाद भी मार्क्स के सिद्धान्त मे अनेक दोष पाये जाते हैं ।

मार्क्स ने सामाजिक विकास का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जो इसके अन्य सभी विचारो का आधार है किन्तु यह आधार ही गलत है । समाज के विकास को

निश्चित नियमो से सीमित करना सभव नही और आर्थिक नियतिवाद एक अपूर्ण नियम है। ज्ञान के क्षेत्र में द्वन्दवाद एक महत्वपूर्ण प्रणाली है किन्तु इसके द्वारा समाज के विकास को नही समझाया जा सकता। सभी सामाजिक परिवर्तनों को आर्थिक क्रियाओं के माध्यम से नही समझाया जा सकता वल्कि यह सरल करने की क्रिया का अतिरेक (over simplification) है। समाज के विकास मे अनेक तत्वो ने हिस्सा लिया है और कई तत्व तो आर्थिक तत्वो से भी अधिक महत्वपूर्ण रहे है। आर्थिक व्याख्या के आधार पर लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की पराकाष्ठा कहा है किन्तु यह विश्लेषण प्राचीन साम्राज्यो पर तो लागू नही होता। सिकन्दर का विश्व विजय का अभियान किसी आर्थिक कारण से प्रेरित नही कहा जा सकता और मध्ययुगीन यूरोप मे चर्च ने जो हिस्सा लिया है उसके विना शायद यूरोपीय समाज का रूप ही बदल जाता। किसी भी समाज के विकास मे भौगोलिक स्थिति तथा धार्मिक विश्वासो का जो प्रभाव होता है, उसके महत्व को कम नही किया जा सकता। आज के भौतिक युग मे धर्म को अफीम को सज्ञा भले ही दी जाय किन्तु प्राचीन काल मे शासको और शासितो की ध्वसकारी और अनैतिक शक्तियो पर रोक लगाने का श्रेय धर्म को ही है। मार्क्स के अनुसार इस अफीम का प्रयोग शोषित वर्ग को भुलाने के लिये किया जाता है किन्तु अशोक जैसे महान् शासक का एकाएक बुद्ध धर्म का समर्थक हो जाना इस आधार पर नही समझाया जा सकता।

दूसरी आपत्ति यह है कि समाज को एक गतिशील सगठन माना गया और सभी परिवर्तन गतिशीलता के आधार पर ही समझाये गये है किन्तु सामाजिक विकास का अत एक ऐसी अवस्था मे होता है जहाँ सभी परिवर्तन रुक जाते हैं। वर्गहीन समाज ही मानव जीवन का स्थायी रूप हे किन्तु यह निष्कर्ष एक आत्मविरोध को जन्म देता है। यदि समाज गत्यात्मक है तो परिवर्तन किसी अवस्था मे नही रुक सकते, और यदि परिवर्तन रुकते है तो गतिशीलता समाप्त हो जाती है। गत्यात्मक (Dynamic) शक्ति मे स्थायित्व आने का अर्थ होता है मृत्यु, जैसे कि मानव शरीर की गति रुकने को मृत्यु कहते है। इस आधार पर या तो वर्गहीन समाज को समाज की मृत्यु माना जाय या फिर मार्क्स का निष्कर्ष सामाजिक गतिशीलता के सिद्धात के अनुसार अनुचित माना जाय। दूसरा विकल्प ही अधिक उचित दिखता है क्योंकि प्रत्येक अवस्था मे मनुष्य ने नये परिवर्तन को, अपनी नई कल्पना को ही विकास की चरम सीमा माना है। यदि मार्क्स बुर्जुआ क्राति के इतिहासकारो पर यह आरोप लगाता है कि उन्होने इस परिवर्तन को ही अंतिम परिवर्तन और प्रजातत्र को अतिम अवस्था मान लिया तो यही आरोप उस पर भी लगाया जा सकता है।

वर्ग संघर्ष का सिद्धांत भी समाज की रचना को सही रूप में प्रस्तुत नही करता और इतिहास से भी इसका समर्थन नही होता । मार्क्स ने अपने जीवन काल मे आर्थिक वर्गों की अनुभूति की तथा उनमें विरोध भी पाया किन्तु यह विरोध सामाजिक विकास की हर अवस्था में दर्शाना अनावश्यक समानीकरण है । आधुनिक आलोचक तो इस बात को भी स्वीकार नही करते कि पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग संघर्ष अनिवार्य है । मार्क्स के समय में यह एक सामाजिक अवगुण था किन्तु आधुनिक औद्योगिक समाजो मे वर्ग संघर्ष या वर्ग भावना का कोई निशान नही पाया जाता । संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और अनेक यूरोपीय देशो का उदाहरण इस संदर्भ मे प्रस्तुत किया जाता है । उचित श्रम कानूनों के द्वारा और उद्योगपति व श्रमिको के बीच सहयोग की भावना का प्रचार करके वर्ग संघर्ष की भावना का अंत किया जा सकता है । मार्क्स की पूंजीवाद की आलोचना के विरुद्ध भी यही तर्क प्रस्तुत किया जाता है । वर्तमान व्यवसाय व्यवस्था मे यह आवश्यक नही कि अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये पूंजीपति श्रमिको का शोषण करे बल्कि श्रमिको का सहयोग प्राप्त करके उत्पादन की मात्रा और शुद्धता मे वृद्धि की जा सकती है जो अंतिम रूप से उत्पादक को अधिक स्थाई लाभ प्रदान करती है । हिस्सों का व्यापक वितरण पूंजी के केन्द्रीयकरण को भी रोकता है ।

मार्क्स की आलोचना सबसे अधिक हिंसात्मक क्रांति का समर्थन करने के कारण भी की गई है । वर्तमान युग में जबकि शासन को शांतिपूर्वक बदलने का अधिकार नागरिकों को दिया गया है, क्रांति का प्रचार और समर्थन उचित नही । हिंसा की नींव पर निर्मित नया समाज न तो स्थायी हो सकता है न प्रगतिशील । क्रांति के पहले जो सामाजिक संबंध हिंसा और घृणा से प्रभावित हो जाते है उन्हे समाप्त करके सहयोग की भावना का निर्माण करना अत्यंत कठिन है । मार्क्स का तर्क हमें इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि जिस समाज मे औद्योगीकरण अधिक होगा वहां क्रांति की संभावना भी अधिक होगी किन्तु जिन देशो में क्रांति हुई तथा साम्यवाद की स्थापना हुई, रूस और चीन, दोनो ही औद्योगिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए थे । इसके विपरीत औद्योगिक देशो मे आज भी क्रांति की कोई संभावना नही दिखती ।

राज्य को केवल शोषण का यंत्र मान लेना भी तर्कसंगत नही है । इतिहास इस बात का प्रमाण है कि राज्य मनुष्य का रक्षक और पोषक रहा है । राज्य मानव जीवन की सबसे बड़ी सफलता है । मार्क्स के विपरीत अरस्तू से लेकर आज तक अनेक दार्शनिकों ने राज्य को एक स्वाभाविक संस्था माना है । मार्क्स की यह व्याख्या न तो अरस्तु के विश्वास से मेल रखती है न आधुनिक कल्याणकारी राज्य की कल्पना से ।

भौतिकवाद से प्रभावित होकर मार्क्स यह मान लेता है कि सभी विचार, श्रद्धायें और मान्यतायें (जिनमे धर्म भी शामिल है) अपने युग शोषक वर्ग के अनुकूल होती है। प्रभावशाली वर्ग ऐसे विचारो का प्रचार करता है जो उसके अनुकूल है किन्तु अनेक धर्म बहुत प्राचीन और शास्वत कहे जा सकते है जो मार्क्स द्वारा वतलाई गई अनेक व्यवस्थाओ मे उसी रूप मे मान्य रहे है। ईसाई धर्म स्वयं सामंतवादी और पूजीवादी अवस्थाओ मे विना परिवर्तन के प्रचलित रहा है और हिन्दू धर्म तो और भी प्राचीन है जिस पर समाज के वदलते हुए स्वरूप का कोई विशेप प्रभाव नही हुआ। मार्क्स यह भूल जाता है कि धर्म ने मानव को सभ्य, सुसंस्कृत तथा नैतिक प्राणी वनाने में कितना महत्वपूर्ण हिस्सा लिया है।

मार्क्स के विरोध मे कितना भी कहा जाय उसके प्रभाव को नही भुलाया जा सकता। आनेवाली पीढियो के मस्तिष्क पर जितना गहरा और व्यापक प्रभाव मार्क्स का पड़ा अन्य किसी विचारक का नही पड़ा। मार्क्स ने स्वयं अपने विचारो को क्रियान्वित करने के लिये श्रम सगठनों के निर्माण और संचालन मे हिस्सा लिया। उसे स्वयं तो कोई विशेष सफलता नही मिली किन्तु उसकी मृत्यु के ३४ वर्प वाद ही उसके सिद्धात की पहली सफलता हुई और रूस मे समाजवादी क्राति सफल हुई और 'कम्युनिस्ट मेनी-फेस्टो' के प्रकाशन के सौ वर्प वाद ही यह पुस्तक संपूर्ण विश्व के विभाजन का कारण वन गई। मार्क्स ने केवल वर्ग सघर्प का ही वर्णन किया किन्तु आज वह अंतर्राष्ट्रीय शक्तियो के वीच सैद्धांतिक सघर्प वन गया है और दोनो पक्ष हथियारों का युद्ध वंद करने की वात करते हैं किन्तु विचारो का युद्ध वढाते जा रहे हैं। मार्क्स की विरोधी और समर्थक शक्तिया समान रूप से वढती जा रही है। सभी आक्षेपो के वाद भी इस वात को तो अस्वीकार नही किया जा सकता कि मार्क्स ने श्रमिक वर्ग को आन्दोलन और संगठन का एक निश्चित आधार प्रदान किया है। श्रमिक क्राति सफल हो, या न हो श्रमिक आन्दोलन (Trade Union Movement) सफल हो गया है। सभी देशो मे श्रमिक संघ स्थापित हो गये हैं और श्रमिको की हालत सुधारने के लिये प्रयत्नशील है। १९वीं शताब्दी की तुलना मे आज के श्रमिको का जीवन स्तर वहुत कुछ अच्छा हो चुका है जिसका श्रेय वहुत कुछ मात्रा मे श्रमिक आन्दोलन को है। मार्क्स के दर्शन मे विशाल श्रमिक समूह को प्रभावित करने वाले सभी तत्व उपस्थित है। आर्थिक शोषण का वर्णन उस अन्याय की ओर ध्यान आकर्पित करता है जो विद्यमान समाज मे श्रमिक के प्रति हो रहा था। सगठित शक्ति की सफलता और क्राति अनिवार्यता उन्हे सघर्प की ओर सजग व सक्रिय वनाती है। क्रांति से विमुख होने का कोई कारण नही है क्योंकि समाज का विकास उसी दिशा मे हो रहा है, फिर भी अंतिम वाक्य मे श्रमिको को इस वात का

ध्यान दिलाया गया कि उनके पास हारने के लिये कोई मूल्यवान वस्तु नहीं है इसलिये क्रांति के द्वारा उन्हे अपनी जंजीरे तोड़ देनी चाहिये। वर्गहीन समाज सुन्दर, सरल और संपन्न जीवन स्वप्न है जो सभी अभावग्रस्त व असन्तुष्ट लोगो को आकर्षित करता है। इन सबके ऊपर 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' आह्वान और नारेबाजी से भी भरा हुआ है। श्रमिक वर्ग को उत्तेजित और प्रोत्साहित करने वाले शब्दो और मुहावरों का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे किया गया है। मार्क्स के विशाल प्रभाव का कारण यही है कि उसके सिद्धांत मे दर्शन की महानता, धार्मिक विश्वास की दृढता, आन्दोलन की सक्रियता और समूह को प्रभावित करने की शक्ति है। मार्क्स ने सभी प्रचलित मान्यताओ का निष्ठुर खंडन किया—धर्म समूह को निष्क्रिय बनाने वाली अफीम है, देशभक्ति श्रमिक वर्ग को बंधन मे रखने का बहाना है, कुटुम्ब एक बुर्जुआ संगठन है जो अंत में व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार का समर्थन करने के लिये बनाया गया है और इनके स्थान पर एक नई श्रद्धा का निर्माण मार्क्स ने किया, मनुष्य की मनुष्य के प्रति श्रद्धा। यही कारण है कि मार्क्स के अनुयाइयों मे धर्मान्धता और धर्मपरिवर्तित व्यक्ति की तरह क्रियाशीलता पाई जाती है। निश्चित रूप मे मार्क्स के दर्शन के दो पहलू हैं। वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा उसका प्रभाव शिक्षित और बौद्धिक वर्ग पर हुआ किन्तु श्रमिको के लिये द्वन्दवाद और आर्थिक नियतिवाद का कोई मतलब नही होता। वैज्ञानिक विश्लेषण अशिक्षित मजदूरो को प्रभावित नही कर सकता अतः उसको प्रभावित करने के लिये नारेबाजी, शोषण से मुक्ति के स्वप्न और वर्गहीन समाज के सब्जबाग का सहारा लिया गया। यह विचार मार्क्स के दर्शन को व्यापक लोकप्रियता प्रदान करते हैं।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त—मार्क्स के आर्थिक विचारो को समझे बिना उसके राजनीतिक सिद्धात को नही समझा जा सकता। जीविका की खोज मे जब मार्क्स पेरिस पहुँचा तो वहां संपादक का दायित्व निभाते हुए उसने यह अनुभव किया कि अनेक मतो का खंडन और समस्याओ का समाधान अर्थशास्त्र के ज्ञान के बिना नहीं किया जा सकता है। पेरिस आने से पहले मार्क्स के दार्शनिक आधार बन चुके थे किन्तु आर्थिक पृष्ठभूमि नही बनी थी। यहा पर उसने आर्थिक सिद्धांतों का अध्ययन किया और अपने दर्शन से मिलाकर एक नये समाज दर्शन को जन्म दिया। मार्क्स के समाज दर्शन में राजनीतिक, दार्शनिक और आर्थिक विचार एक दूसरे पर इतने अधिक निर्भर है कि उन्हें अलग नही किया जा सकता और एक के बिना दूसरो को सही रूप मे समझा नही जा सकता। उसके समाज दर्शन का मूल आधार उसके आर्थिक विचार ही है। मार्क्स स्वयं यह मानता है कि हीगेल के दर्शन मे एक बहुत बड़ी कमी रह गई—आर्थिक

सिद्धांत की कमी। आर्थिक तत्व की अवहेलना के कारण समाज का विश्लेषण सही नही हो सका। मार्क्स के बाद से सभी विचारधाराये आर्थिक और राजनीतिक समस्याओ का सम्मिलित अध्ययन ही करती है।

यद्यपि मार्क्स का सपूर्ण इतिहास दर्शन आर्थिक आधारों पर बना है किन्तु उसके आर्थिक सिद्धांत पूँजीवाद की व्याख्या और आलोचना मे अधिक स्पष्ट हुए है। इतिहास दर्शन का आर्थिक आधार शोषण का सिद्धांत है और शोषण का रूप पूँजीवादी अवस्था मे ही सबसे स्पष्ट होता है। विशाल उद्योगो के कारण पूँजीपति श्रमिक का शोषण बड़े पैमाने पर करता है और पूँजी का केन्द्रीयकरण अधिक मात्रा मे तथा अधिक शीघ्रता से होता है। शोषण का वर्तमान रूप अतिरिक्त मूल्य का सिद्धात है जिसके द्वारा मार्क्स यह दर्शाता है कि उत्पादन मे श्रम का जो हिस्सा रहता है उसका पूरा मूल्य श्रमिक को नही मिलता बल्कि पूँजीपति स्वयं रख लेता है। यही शोषण है और यही सपत्ति के केन्द्रीयकरण का आधार है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत स्वयं मूल्य के श्रम सिद्धांत पर आधारित है जो मार्क्स ने आरभिक अर्थशास्त्रियो से ग्रहण किया। जान लॉक ने संपत्ति की परिभाषा श्रम और भूमि के मिश्रण से की थी जिसके आधार पर रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी भी वस्तु को उपयोगिता और मूल्य प्रदान करने का श्रेय वस्तु के उत्पादन मे लगाये गये श्रम को है। श्रम किसी प्राकृतिक वस्तु को उपयोगिता प्रदान करता है और उपयोगिता के कारण ही उसका मूल्य होता है। इसके आधार पर ही मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत स्थापित किया। किसी वस्तु के उत्पादन मे जो विभिन्न तत्व हिस्सा लेते है उनमे श्रम को छोडकर अन्य तत्वों का मूल्य पहले से निर्धारित किया जा सकता है। श्रम का मूल्य पहले से निश्चित नही किया जा सकता क्योकि श्रम का मूल्य वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर है और उपयोगिता निर्माण होने के बाद ही निश्चित की जा सकती है। किन्तु श्रम की मजदूरी भी पहले से निर्धारित करना होती है क्योकि संपत्तिहीन श्रमिक की जीविका प्रतिदिन के श्रम पर ही निर्भर है और वह किसी भी पारिश्रमिक पर कार्य करने के लिये तैयार हो जाता है। उत्पादन के तत्वो मे मजदूरी ही एक ऐसा तत्व है जिस पर होने वाले व्यय को उद्योग-पति कम कर सकता है। वह श्रमिक को न्यूनतम वेतन ही देना चाहता है, जो उसे जीवित रखने के लिये पर्याप्त हो। इस प्रकार श्रमिक की मजदूरी का वस्तु के मूल्य से कोई अनुपात नही रह जाता और वस्तु के उत्पादन मूल्य और विक्रय मूल्य मे अंतर हो जाता है। यही अतिरिक्त मूल्य है। मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार,इस अतिरिक्त मूल्य पर श्रमिक का अधिकार है किन्तु इसे उद्योगपति स्वयं रख लेता है। यही आर्थिक शोषण

है और इसी के परिणाम स्वरूप संपत्ति का केन्द्रीयकरण थोड़े से व्यक्तियो के पास हो जाता है। इस व्याख्या के अनुसार उद्योगपति की संपत्ति निरंतर बढती जाती है और शेष वर्गो की संपत्ति कम होती जाती है। आर्थिक प्रतिस्पर्धा मे छोटे उत्पादक भी क्रमशः समाप्त हो जाते है और उनकी आर्थिक दशा निरंतर गिरती जाती है। इस व्याख्या के द्वारा मार्क्स यह दर्शाना चाहता है कि यदि किसी वस्तु का उत्पादन मूल्य २० रुपया है जिसमे दो रुपया मजदूरी भी शामिल है अर्थात् श्रमिक को छोड़कर शेष तत्वों का योग १८ रुपये के रहा किन्तु यदि उपभोक्ता उसके लिये २५ रुपया देता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि श्रम ने उस वस्तु को सात रुपये की उपयोगिता प्रदान की जबकि उसे मजदूरी केवल दो रुपया दी गई और शेष पाच रुपया अतिरिक्त मूल्य है जो उद्योगपति स्वयं रख लेता है। इस अतिरिक्त आय को वह किसी नये उद्योग मे लगाता है और अपनी पूँजी मे निरंतर वृद्धि करता रहता है।

मार्क्स के अन्य विचारो की तरह इस सिद्धात पर भी अनेक आक्षेप किये गये है। वस्तु का मूल्य केवल श्रम के आधार पर निर्धारित नही किया जा सकता। यदि श्रमिक का वेतन पहले से निर्धारित कर लेना उचित नही तो अन्य तत्वो का हिस्सा भी पहले से निश्चित कर लेना उचित नही। वर्तमान व्यवस्था के समर्थको का सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है कि उत्पादन मे प्रधान हिस्सा साहस या उद्यम (Enterprise) का होता है। जो व्यक्ति उत्पादन का कार्य आरंभ करता है, उसमे विशाल पूँजी लगाता है और लाभ व हानि का जोखिम (Risk) समान रूप से लेता है तो विक्रय मूल्य पर उसका अधिकार होना स्वाभाविक है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन मे हानि होती है तो श्रमिक उस हानि की पूर्ति नही कर सकते बल्कि उद्योगपति को हीहानि सहना पड़ती है। अतः लाभ होने की स्थिति मे भी वही लाभ का अधिकारी होगा। वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर अवश्य निर्भर है किन्तु मूल्य का श्रम सिद्धात उसी समय स्वीकार किया जा सकता है जब उद्योगपति को हानि के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान कर दी जाय। वर्तमान समय मे अतिरिक्त लाभ मे श्रमिक को हिस्सा देने के भी अनेक तरीके प्रचलित हो गये है तथा उन्हे हर वर्ष इसी आधार पर बोनस भी दिया जाता है।

अध्याय २२

टामस हिल ग्रीन

(१८३६-८२)

(Thomas Hill Green : 1836-82)

इग्लैड मे आदर्शवाद का आरंभ टामस हिल ग्रीन से होता है। ग्रीन का आदर्शवाद पूर्ण रूप से शुद्ध नही है बल्कि वह आग्ल उदारवाद से मिश्रित है। व्यक्ति स्वतंत्रता की भावना आग्ल दर्शन, समाज और बुद्धि मे स्थायी बन चुकी थी और १६ वी शताब्दी मे स्वतत्रता और उदारवाद की जो तीव्र लहर इंग्लैड मे आई थी उससे कोई भी विचारक बच नही सकता था। बेल्थम, स्पेन्सर व मिल के उदारवाद मे व्यक्ति-स्वतत्रता का जो महत्व बतलाया गया था वह तो स्वीकृत हो चुका था किन्तु राज्य के जिस व्यक्तिवादी स्वरूप का समर्थन इस दर्शन मे हुआ था वह क्रमशः हानिकारक सिद्ध होता जा रहा था और उस पर से अहस्तक्षेप की नीति सामाजिक उत्थान मे सहायक नही हो सकी। स्वतंत्र स्पर्धा मे उत्पादन अवश्य बढ रहा था, लाभाश भी बढ रहा था किन्तु दरिद्रता भी बढ रही थी, ज्ञान और नैतिकता का ह्रास हो रहा था। अभावग्रस्त जीवन ने केवल कार्ल मार्क्स को ही प्रभावित नही किया बल्कि जान स्टुअर्ट मिल और ग्रीन भी इस अवगुण के प्रति सजग थे और इसे दूर करना चाहते थे। मिल अपने जीवन के अतिम चरण मे राज्य के हस्तक्षेप और विधि निर्माण द्वारा सुधार का समर्थक बन गया था। उदारवादी नेताओ ने स्वयं १८५० के बाद सामाजिक विधियो का समर्थन किया और भूमि सुधार, श्रम कल्याण और शिक्षा के विकास के लिये कानून बनाये गये। मिल ने स्वय इस हस्तक्षेप का समर्थन किया किन्तु वह दार्शनिक रूप से अपने इस विचार को प्रारभिक उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी विचारो के अनुकूल नही बना सका। मिल की मृत्यु के बाद यह कार्य और भी कठिन हो गया। व्यावहारिक राजनीति मे उदारवाद का स्वरूप बदल गया किन्तु उसके सैद्धातिक आधार पूर्ववत् ही बने रहे। इस भेद को दूर करना और उदारवाद की नई व्याख्या करना आवश्यक हो गया था। यह व्याख्या आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक ग्रीन ने प्रस्तुत की और इस संस्था मे ग्रीन की परिपाटी कई पीढियो तक चलती रही जिसके कारण इस आदर्शवाद के साथ आक्सफोर्ड का नाम भी जोड दिया जाता है। यूरोपीय आदर्शवाद और

आंग्ल उदारवाद का समन्वय करके ग्रीन ने उदारवाद को एक नया स्वरूप प्रदान किया जिसे 'उदारवाद का आदर्शवादी पुनर्वेक्षण' कहा जाता है।

ग्रीन ने अपने समाज में एक बौद्धिक दुविधा का अनुभव किया। व्यक्ति के जीवन के प्रति उदासीन राज्य की सफलता मे संदेह उत्पन्न हो चुका था किन्तु सक्रिय शासन करने वाले राज्य के प्रति भय वना हुआ था। अहस्तक्षेप के कारण दरिद्रता, अज्ञान, अनैतिकता में वृद्धि हो रही थी किन्तु सक्रिय राज्य मे व्यक्ति स्वतंत्रता के समाप्त होने का भय था। इस दुविधा को ग्रीन ने नये समन्वय के द्वारा सुलझाया। ग्रीन के समय राज्य के प्रति दो विचार प्रचलित थे। ऑस्टिन की सार्वभौम राज्य की कल्पना जहा संप्रभु का आदेश ही कानून था और वेन्थम, मिल व स्पेन्सर की यद्रभाव्यम् राज्य की कल्पना। राज्य का पहला स्वरूप सक्रिय था तो दूसरा निष्क्रिय। इन दोनो विचारों का समन्वय करके ग्रीन ने राज्य को अप्रत्यक्ष सक्रियता का रूप प्रदान किया। राज्य मनुष्य के विकास मे निश्चित रूप से सहयोग देता है किन्तु प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के द्वारा नही बल्कि अप्रत्यक्ष निवारण के द्वारा। इस समन्वय के लिये ग्रीन ने स्वतंत्रता की नई व्याख्या भी की—वेन्थम और मिल की स्वतंत्रता की निषेधात्मक (Negative) व्याख्या के स्थान पर आदेशात्मक (Positive) व्याख्या की। स्वतंत्रता का अर्थ केवल बधनों के अभाव से नही है बल्कि नैतिक विकास के अधिकार से है।

आरंभिक उदारवाद में लोकप्रियता के सभी लक्षण विद्यमान थे किन्तु फिर भी वह व्यावहारिक जीवन में सफल नही हो सका। उपयोगितावाद अनुपयोगी हो गया और व्यक्ति को राज्य से ऊपर उठानेवाली कल्पना ने विशाल जनसमूह को कुछ व्यक्तियों की कृपा पर छोड़ दिया। लोगों को अधिकतम सुख तो याद रहा किन्तु अधिकतम संख्या भूल गई और अनुभववाद सामाजिक दर्शन न बनकर केवल व्यक्तिगत विचारधारा रह गई। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे ग्रीन पर दो प्रभाव निश्चित रूप मे हुए—उदारवाद मे विश्वास और अनुभववाद का त्याग और उसने उदारवाद को उपयोगितावाद और अनुभववाद से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न किया। आक्सफोर्ड मे प्राचीन ग्रन्थों के अंतर्गत ग्रीन ने प्लेटो और अरस्तू का अध्ययन किया और जब उसे समकालीन दर्शन में प्रकाश नही मिला तो उसने प्राचीन दर्शन में खोज आरंभ की। पहले के उदारवादी राज्य के नैतिक स्वरूप को भूल गये थे। ग्रीन ने राज्य की आदर्शवादी कल्पना का सहारा लिया किन्तु जो गलती हीगेल कर चुका था ग्रीन उसके प्रति सजग था। अंग्रेजों को स्वभाव से ही 'राज्य का ईश्वरीयकरण' ग्राह्य नही था; इसके अतिरिक्त अपने शुद्ध और सुन्दरतम रूप में भी सार्वजनिक इच्छा का सिद्धात अस्पष्ट था। व्यावहारिक रूप मे यह सिद्धात

स्वतंत्रता और समानता का आधार नही बन सका और मिल के शुद्धीकरण के बाद भी 'सुअर दर्शन' सामाजिक नैतिकता के अनुकूल नही हो सका। न तो इंग्लैंड का प्रचलित दर्शन उचित था न यूरोपीय महाद्वीप का। ऐसी स्थिति मे ग्रीन प्राचीन गौरव की ओर आकर्षित हुआ और अरस्तू से 'स्वर्णिम मध्यम मार्ग' ग्रहण किया तथा मानव के 'सामाजिक सद्‌गुण' मे यूनानी आस्था को भी स्वीकार कर लिया। सामाजिक जीवन मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था है इसलिये राजदर्शन का नया आधार 'सामान्य हितो के प्रति सामान्य जागृति' ग्रीन ने प्रस्तुत किया, जिसका मनोवैज्ञानिक आधार संदिग्ध नही है और व्यावहारिक अर्थ वही है जो सार्वजनिक इच्छा का तथा अधिकतम सुख का। वेपर के शब्दो मे "ग्रीन की सबसे बड़ी सफलता यही है कि उसने अग्रेजो को मुहमागी कीमत पर एक ऐसा सिद्धात प्रदान किया जो बेन्थम के दर्शन से अधिक सतोषप्रद था; उसने उदारवाद को रुचि (interest) के बजाय श्रद्धा (faith) की वस्तु बना दिया, उसने व्यक्तिवाद को नैतिक एवं सामाजिक तथा आदर्शवाद को सभ्य और सुरक्षित बना दिया।" ग्रीन के विचार राज्य के प्रति जो श्रद्धा उत्पन्न करते है वह हीगेल से भी अधिक है और दूसरी ओर व्यक्ति स्वतंत्रता का समर्थन मिल से कई गुना अधिक शक्तिशाली है। राज्य आवश्यक है एक बुराई के रूप मे नही बल्कि नैतिक जीवन के पथ प्रदर्शक के रूप मे। राज्य स्वतंत्र कार्यो पर बधन लगाकर नैतिकता का निर्माण नहीं करता बल्कि नैतिक विकास की बाधाओ को हटाकर स्वतन्त्रता में सहायक होता है। आदर्शवाद मे जो परिवर्तन ग्रीन ने किया उसके पीछे एक महत्वपूर्ण अंतर छिपा हुआ है। ग्रीन के लिये नैतिकता की इकाई राज्य या समाज नही है बल्कि व्यक्ति स्वयं है इसीलिये ग्रीन राज्य के आदर्शीकरण से बच जाता है।

सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि ग्रीन पर समाजवादी विचारधारा का कोई प्रभाव नही पडा और मार्क्स के विचारो का तो कोई संदर्भ ही नही आता। १८४८ में 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' प्रकाशित हो चुकी थी और एक निष्कासित जर्मन विचारक लंदन के पुस्तकालय मे बैठकर विशाल साम्यवादी ग्रन्थ 'केपिटल' की रचना कर रहा था और आक्सफोर्ड का विचारक प्राध्यापक अपने देश मे प्रचलित उदारवाद के शुद्धीकरण के लिये जर्मन आदर्शवाद और उसके पूर्ववर्ती सिद्धातो की ओर देख रहा था। इसका एक ही कारण हो सकता है कि आक्सफोर्ड की परम्परा मे पलने के कारण वह हीगेल, रूसो, अरस्तू और प्लेटो के अधिक समीप था।

७ अप्रैल १८३६ को यार्कशायर मे बर्किन (Birkin) नामक स्थान पर ग्रीन का जन्म हुआ था। आध्यात्मिकता ग्रीन को विरासत मे मिली थी, उसके पिता एक प्रख्यात धर्माधिकारी थे। १४ वर्ष की आयु तक उसकी शिक्षा घर पर ही हुई और

उच्च शिक्षा रग्बी (Rugby) तथा वेलियल कालेज आक्सफोर्ड में हुई। १८६० में टामस ग्रीन वेलियल कालेज मे ही अध्यापक नियुक्त हो गया तथा १८७८ तक इस पद पर कार्य करता रहा। इस वर्ष वह आक्सफोर्ड मे नैतिक दर्शन का प्राध्यापक बना दिया गया तथा मृत्यु तक इसी पद पर कार्य करता रहा। सार्वजनिक जीवन मे भी ग्रीन की उतनी ही रुचि थी जितनी अध्ययन और अध्यापन मे। सार्वजनिक क्षेत्र से वह आक्सफोर्ड नगर समिति का सदस्य चुना गया तथा शिक्षा और सामाजिक सुधार मे भी बहुत रुचि ली। पूर्ववर्ती उदारवादियो की तरह ग्रीन मे भी सुधारवादी उत्साह बहुत अधिक था जिनमे अनिवार्य शिक्षा, मद्यनिषेध और दंड व्यवस्था प्रधान है। ग्रीन का दर्शन तीन प्रधान पुस्तको मे सकलित है 'प्रोलीगोमीना टु एथिक्स' (Prolegomena to Ethics), 'लिबरल लेजिसलेशन' (Liberal Legislation and Freedom of Contract) 'तथा पोलिटिकल आब्लीगेशन' (lectures on Principles of Political Obligation)। राजनीतिक दायित्व (Political Obligation) पर यह व्याख्यान १८७६-८० मे दिये गये थे तथा उसकी मृत्यु के बाद उसके शिष्यो द्वारा प्रकाशित किये गये।

स्वतंत्र इच्छा—'पोलिटिकल आब्लीगेशन' के आरंभ मे स्वतंत्र इच्छा की व्याख्या दी गई है। यह सिद्धात केवल ग्रीन के नही बल्कि वर्तमान आदर्शवादी विचारों का आधार है। रूसो, कान्ट, हीगेल सभी आदर्शवादियो ने नैतिक इच्छा को किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया है, यथार्थ इच्छा, नैतिक इच्छा स्वतत्र इच्छा और सर्वव्यापी इच्छा सभी नाम एक ही अर्थ प्रदान करते हैं। रूसो के बाद आदर्शवाद इच्छा के विभाजन पर आधारित रहा है। व्यक्ति मे दो प्रकार की इच्छाएं या प्रेरणायें होती है, एक उसे सामाजिक जीवन की ओर ले जाती है तो दूसरी सामाजिक जीवन की अवहेलना करके स्वार्थ की ओर। सामाजिक इच्छा ही व्यक्ति की नैतिक, उचित एव सही इच्छा है। इसी इच्छा के पालन मे ही मनुष्य का नैतिक विकास निहित है। ग्रीन भी इच्छा के इस स्वरूप को मानकर चलता है और इसे ही स्वतंत्र इच्छा कहता है। ग्रीन ने स्वतंत्र इच्छा के दो अर्थों का विवेचन किया है। एक ओर साधारण या मनोवैज्ञानिक अर्थ है जिसके अनुसार प्रत्येक इच्छा स्वतत्र इच्छा है क्योंकि इच्छा आतरिक होने के कारण व्यक्ति का स्वतंत्र कार्य है तथा प्रत्येक इच्छा आत्म-संतुष्टि (Self-satisfaction) की प्रेरणा देती है। मनुष्य अपनी तृप्ति के लिये जब बिना किसी दूसरे व्यक्ति के आदेश के कार्य करता है तो वह स्वतंत्र कार्य होता है किन्तु इच्छा की स्वतंत्रता का सही निर्णय इस आधार पर होता है कि वह आत्म-संतुष्टि सही है अथवा नही। मानव प्रकृति, जिसे ग्रीन जीवन का नियम (Law of his being) कहता

है, मनुष्य की यथार्थ-आत्म संतुष्टि निर्धारित करती है। जो इच्छा इस प्रकृति या नियम के अनुकूल है वह स्वतंत्र है, तथा जो इच्छा निम्न, स्वार्थी और असामाजिक विचारों की गुलाम है वह स्वतंत्र नही। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है जो नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहता है, जो समाज से विलग होकर नहीं प्राप्त किया जा सकता। समाज के बाहर एकाकी जीवन-में नैतिकता और अनैतिकता का कोई प्रश्न उत्पन्न नही होता। इच्छा की स्वतन्त्रता इसी में निहित है कि कोई व्यक्ति स्वयं के लिये हानिकारक कार्य न करे इसलिये जो निर्णय व्यक्ति के नैतिक विकास के विपरीत है वह स्वतंत्र इच्छा का निर्णय नही कहा जा सकता। यह इच्छा सामयिक लाभ की प्रेरणा या भावावेश नही है बल्कि स्थायी लाभ के लिये विवेक का निर्णय है। यह स्वतंत्र इच्छा राज्य के संगठित जीवन मे ही प्राप्त हो सकती है राज्य के बाहर नही। हीगेल का यह विश्वास कि स्वतंत्र इच्छा की अभिव्यक्ति राज्य के द्वारा ही होती है ग्रीन को मान्य नही है। राज्य के माध्यम से केवल इस इच्छा को कार्यान्वित करने के प्रयत्न ही किये जा सकते है। ग्रीन के शब्दो मे "किसी समाज मे, सबसे अच्छी परिस्थितियो मे भी इस स्वतंत्रता की प्राप्ति अत्यंत अपूर्ण होती है। एथेन्स के एक दास के लिये, जो अपने प्रभु की आकांक्षाओ की पूर्ति का साधन है, राज्य को स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति मान लेना हास्यास्पद होगा, और कदाचित लंदन के एक अशिक्षित और मूर्ख निवासी के लिये जिसके दाये और बाये शराब की दुकाने हों, वह इससे कम नही कहा जा सकता।" ग्रीन केवल इतना मानता है कि प्रत्येक संगठित समाज व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये कार्य करता है। दृष्टिकोण का का यह परिवर्तन अत्यधिक महत्वपूर्ण है; यही हीगेल और ग्रीन के दार्शनिक अंतर का आधार है। इसी के कारण हीगेल के लिये राज्य साध्य है और ग्रीन के लिये साधन।

स्वतन्त्र इच्छा स्वय के निर्णय से भिन्न है क्योकि आत्म-निर्णय मे हम केवल इस बात का ध्यान रखते है कि व्यक्ति के निर्णय बिना किसी बाहरी बंधन या प्रभाव के लिये गये है जबकि स्वतंत्रत इच्छा मे इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि उस निर्णय का उद्देश्य नैतिक है अथवा नही। स्वतंत्र इच्छा की यही व्याख्या हमे इच्छा के विभाजन की ओर ले जाती है। रूसो ने तो केवल इच्छा के ही दो रूप माने किन्तु कान्ट ने आत्मा के भी दो रूप मान लिये—शुद्ध आत्मा (Pure Ego) और अनुभवात्मक-आत्मा (Empirical Ego)। ग्रीन आत्मा के इस विभाजन से सहमत नही है बल्कि शुद्ध और अनुभवात्मक एक ही आत्मा के दो पहलू है। शुद्ध रूप एक सभावना है—एक आदर्श जिसकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्नशील है और अनुभवात्मक रूप वर्तमान सत्य है। आदर्श और वास्तविक मे हमेशा अंतर रहता है। पूर्ण आत्म—संतुष्टि प्राप्य नही है किन्तु

मनुष्य की इच्छा इस आत्म-संतुष्टि के अनुकूल होने का प्रयत्न करती है और इसी अनुकूलता के अनुपात मे वह स्वतंत्र है। इस आधार पर इच्छा साधारणत: आंशिक रूप मे ही स्वतंत्र होती है किन्तु आदर्श स्थिति मे यह पूर्ण स्वतंत्र होती है। इच्छा के विभाजन के सिद्धात मे यह भ्रम उत्पन्न होता है कि मनुष्य के सामने दो रास्ते है जिनके बीच वह चुनाव करता है अर्थात् इन इच्छाओ का चयन करने वाली एक और इच्छा होती है। व्यक्ति की इच्छा एक ही होती है यदि वह नैतिक आदर्श के अनुकूल है तो हम उसे स्वतंत्र इच्छा कहते है अन्यथा नही। ग्रीन के अनुसार स्वतत्र इच्छा के दो गुण होते है—

(१) सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ बन्धनो का अभाव नही बल्कि कुछ विशेष कार्य करने की स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता कार्यो से मुक्ति नही बल्कि कार्य करने का अधिकार और दायित्व दोनो है।

(२) स्वतंत्र इच्छा सभी प्रकार के कार्यो के लिये नही बल्कि उन निश्चित कार्यो के लिये है जो नैतिक विकास के अनुकूल है। स्वतंत्र इच्छा की यह व्याख्या ग्रीन ने १८७९ में दिये गये व्याख्यान मे की थी। इन व्याख्यानो मे उसने कान्ट के दर्शन की व्याख्या की है किन्तु इस व्याख्या का सबध उसके राजनीतिक विचारो से इतना अधिक है कि इसे राजनीतिक सिद्धांतो से अलग नही किया जा सकता।

राजनीतिक दायित्व के आधार—१८७९-८० मे ग्रीन ने 'राजनीतिक दायित्व' (Political Obligation) पर जो भाषण दिये थे उनमे ही ग्रीन के राजनीतिक विचार प्राप्त होते है। यह स्मरणीय है कि ग्रीन के ये व्याख्यान नैतिक दर्शन के प्राध्यापक के रूप मे दिये गये हैं अत: उसका दृष्टिकोण और तर्क नैतिक ही है। राजनीतिक दायित्व और विधि पालन की भावना का आधार भी नैतिक है। सभी संस्थाओं का महत्व नैतिक जीवन के नाते है। शिवम् (Good) की खोज मे यह आवश्यक है कि विद्यमान सस्थाओं मे जो स्थायी अच्छाइया है उनका हम ज्ञान प्राप्त करे और यह मालूम करे कि ये सस्थाये नैतिक विकास में कहा तक सहायक है। राजनीतिक दायित्व के अतर्गत ग्रीन "विधि अथवा राज्य द्वारा लागू किये गये अधिकारो व उत्तरदायित्वो के नैतिक लक्ष्य का अध्ययन करना और इस प्रकार विधि पालन के सही आधार खोजना" चाहता है। वैधानिक बंधनो से नैतिक उत्तरदायित्व अलग है और ग्रीन यह दर्शाना चाहता है कि विधि का पालन करने के लिये मनुष्य का नैतिक उत्तरदायित्व कहा तक है तथा विधि का सही कार्य व उद्देश्य क्या होना चाहिये। विधि तथा अन्य सभी संस्थाओ का औचित्य इसी बात पर निर्भर है कि यह संस्थाये नैतिक उन्नति मे कहां तक

सहायक होती है। नैतिकता का आधार विवेकशील इच्छा है अत. सामाजिक संस्थाए जिस सीमा तक विवेक की अभिव्यक्ति मे सहायक होती है उसी सीमा तक उनका नैतिक औचित्य स्वीकार किया जा सकता है तथा उन्हें प्राकृतिक विधि के अनुकूल कहा जा सकता है।

ग्रीन प्राकृतिक विधि की नई व्याख्या प्रस्तुत करता है। सविदावादियो की तरह प्राकृतिक विधि को पूर्व-राजनीतिक अवस्था की विधि नही कहा जा सकता। राज्य से पहले और राज्य के बिना विधि और अधिकार की कल्पना गलत है वल्कि प्राकृतिक विधि का अर्थ अधिकारो और कर्त्तव्यो की उस व्यवस्था से है जो नैतिक विकास के लिये होना चाहिये। विधि के अध्ययन मे हमारे सामने दो वाते आती है, प्रथम, केवल व्यक्ति के कार्यों के आधार पर ही विधि का निर्णय होता है यद्यपि कार्य के माध्यम से हम व्यक्ति के प्रयोजन (Intention) का निर्णय करते है क्योकि प्रयोजन एक आतरिक क्रिया है इसलिये जब तक कार्य न किया जावे विधि मे केवल प्रयोजन का निर्णय नही हो सकता। इस कारण से विधि के द्वारा केवल कार्यो को ही रोका या प्रोत्साहित किया जा सकता है ध्येय को नही। विधि उन कार्यो को रोकती है जो समाज के लिये हानिकारक माने जाते है और उन कार्यो के लिये आदेश देती है जो सामाजिक जीवन से लिये हितकर हैं। दूसरी वात यह है कि विधि का आदर्श नैतिक उद्देश्य के सदर्भ मे हो निश्चित किया जा सकता है। इसी आधार पर राज्य का कार्यक्षेत्र निश्चित किया जाना चाहिये। सद्भाव्यम् को नीति मे पैतृक शासन के विरुद्ध जो आपत्तिया प्रस्तुत की गई है वे अनुचित है क्योकि उनका आधार नैतिक नही है।

सविदावाद का विरोध करते हुए ग्रीन यह दर्शाता है कि मूल प्रश्न यह नही है कि वर्तमान समाज मे विधि व्यवस्था या राज्य की स्थापना किस प्रकार हुई वल्कि यह कि ये संस्थायें न्याय संगत किस कारण से है। इस दृष्टिकोण से सविदा सिद्धात की अपेक्षा उपयोगितावाद अधिक उचित है क्योंकि वह विधि को एक उद्देश्य प्रदान करता है।

उपयोगितावाद प्राकृतिक विधि की कल्पना करने की भूल नही करता। राजनीति दर्शन का मूल क्षेत्र ग्रीन राजनीतिक दायित्व के माध्यम से निश्चित करता है। राजनीतिक दायित्व का अर्थ है यह जानना है कि विधि किस प्रकार की होनी चाहिये और विधि का पालन क्यो होता है? इस अध्ययन मे हमारा सबंध इस वात से नही है कि वर्तमान विधि का स्रोत क्या है या वह प्राकृतिक अधिकारो से किस प्रकार से संबधित है। प्राकृतिक विधि का अर्थ उन नियमो से है जो मनुष्य के नैतिक विकास के अनुकूल है।

चेतना, अधिकार और राज्य—विधि प्राकृतिक अधिकारों पर निर्भर है किन्तु ऐसे अधिकारो पर नहीं जो विधि या राज्य से पहले थे। बेन्थम और मिल ने जिस प्राकृतिक अधिकार के सिद्धात को ऊँची मूर्खता कहकर तिरस्कृत कर दिया था ग्रीन उसकी एक नई व्याख्या प्रस्तुत करता है। अधिकार प्राकृतिक इसलिये नहीं कहे जाते कि उनका अस्तित्व राज्य से 'पहले था बल्कि इसलिये कि वे मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल है। वर्तमान अधिकारो का उद्गम पूर्व-राजनीतिक अधिकारों से मान लेने से भी इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता कि अधिकार कहां से आये। इसके विपरीत ग्रीन यह मानता है कि अधिकारो का मूल स्रोत नैतिक आदर्श का ज्ञान है इसलिये जिस व्यक्ति में नैतिक आदर्श की भावना होती है उसे अधिकार भी होना चाहिये। इस आधार पर अधिकार नैतिक व्यक्ति के पास ही हो सकते हैं यद्यपि ऐतिहासिक रूप से यह बात सही हो सकती है कि राज्य विधि और अधिकार नैतिक व्यक्ति से पहले हैं किन्तु सामान्य हितो के प्रति जागृत समाज के बिना शक्तिया हो सकती है अधिकार नहीं।

ग्रीन के इस विचार को बार्कर ने बहुत ही सुंदर रूप मे प्रस्तुत किया है—"मानव चेतना मे स्वतंत्रता निहित है; स्वतंत्रता मे अधिकार अंतर्निहित है; अधिकारो के लिये राज्य आवश्यक है।" इस एक वाक्य मे राजनीतिक दायित्व की आदर्शवादी व्याख्या पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। ग्रिन इस प्रश्न को महत्वहीन समझकर अलग कर देता है कि राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई बल्कि केवल यह दर्शाने का प्रयत्न करता है कि हम राज्य मे क्यो रहते है और राज्याज्ञा का पालन क्यों करते है। अरस्तू की तरह मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हुए ग्रीन यह स्वीकार कर लेता है कि मनुष्य में अपने व समाज के नैतिक विकास की चेतना स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। नैतिक विकास की यह भावना प्रत्येक मनुष्य का आंतरिक लक्षण है। नैतिक विकास की इसी भावना को चेतना कहा गया है। सामान्य हितों की यह चेतना हर व्यक्ति मे होती है अतः ग्रीन इसे 'सामान्य हितों की सामान्य चेतना' कहता है। एक समाज में रहने वाले लोगो के कुछ सामान्य हित होते हैं और इन हितो का ज्ञान व इनकी प्राप्ति की इच्छा हर व्यक्ति मे होती है। इस प्रकार चेतना शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया गया है; चेतना व्यक्तिगत होते हुए भी व्यक्ति की परिधि से सीमित नही है बल्कि वह सभी के नैतिक विकास से संबंधित है। चेतना का अर्थ केवल भावना, जागृति या ज्ञान से नही है बल्कि एक प्रेरणा से है। व्यक्ति को सामान्य हितों का केवल ज्ञान ही नही होता बल्कि वह इन हितों की पूर्ति के लिये निरंतर कार्य करता है। इस रूप मे ग्रीन की चेतना यूनानी सक्रिय ज्ञान के समान है। सामान्य चेतना मनुष्य को एक उद्धेश्य भी प्रदान करती है और उस उद्धेश्य की पूर्ति के लिये प्रेरणा भी देती है।

मनुष्य अपनी इस प्रेरणा के अनुसार उसी समय कार्य कर सकता है जब स्वतंत्र हो। चेतना अभिव्यक्ति चाहती है और अभिव्यक्ति के लिए इच्छा की स्वतंत्रता आवश्यक है। स्वतंत्रता का भी नैतिक रूप ही स्वीकार किया गया है। स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का अभाव नही है बल्कि नैतिक विकास के लिये कार्य करने की स्वतंत्रता। स्वतंत्रता किसी भी प्रकार कार्य करने का अधिकार नही है बल्कि एक निश्चित रूप मे कार्य करने का उत्तरदायित्व। इस रूप मे ग्रीन की स्वतंत्र इच्छा रूसो की यथार्थ इच्छा से मिलती है और वास्तविक या अनैतिक इच्छा को स्वतंत्र नही कहा जा सकता।

स्वतंत्रता अधिकारो की स्थापना करती है क्योकि सामान्य हितो की चेतना हमे इस बात का भी ज्ञान कराती है कि जो सुविधायें (स्वतंत्रता) हम अपने लिये चाहते है वह हर अन्य व्यक्ति के लिये भी उतनी ही आवश्यक है और हम वह सुविधा दूसरो को प्रदान करने के लिये तैयार रहे। मनुष्य एक दूसरे की स्वतंत्रता को मान्यता देते हैं और जब किसी समाज के अधिकाश मनुष्य एक दूसरे की इन सुविधायो को स्वीकार कर लेते है तो वह स्वतंत्रता अधिकार बन जाती है। चेतना की अभिव्यक्ति के लिये उसके अनुकूल कार्य करने की स्वतत्रता होनी चाहिये किन्तु यह स्वतंत्रता सुरक्षित भी होनी चाहिए और निश्चित भी। यह स्वतंत्रता दूसरो के द्वारा स्वीकृत होनी चाहिये और किसी शक्ति के द्वारा सुरक्षित होनी चाहिये ताकि कोई व्यक्ति हमारी स्वतंत्रता को छीन न सके। इस प्रकार अधिकारो की उत्पत्ति होती है किन्तु अधिकार एक संगठित समाज में ही हो सकते है। अधिकारो को स्वीकृति और संरक्षण देने वाली शक्ति राज्य है। इस प्रकार राज्य की आवश्यकता मनुष्य की चेतना की अभिव्यक्ति के लिये है और राज्य उसी अर्थ मे एक स्वाभाविक सस्था है जिस अर्थ मे अरस्तू स्वीकार करता है। चेतना और राज्य का यही संबंध राज्य को नैतिक संस्था का स्वरूप प्रदान करता है तथा उसे सर्वोच्च नैतिक सस्था बना देता है।

अधिकार—राज्य को चेतना की अभिव्यक्ति मानते हुए ग्रीन अधिकारो का उल्लेख राज्य से पहले कर जाता है किन्तु उसका तात्पर्य पूर्वराजनीतिक अवस्था में अधिकारो के अस्तित्व को स्वीकार करने से नही है। नैतिक दृष्टिकोण से अधिकार राज्य से पहले है एतिहासिक रूप से नही। स्पिनोजा, हाब्स, लॉक व रूसो के समझौता सिद्धांत की आलोचना करते हुए ग्रीन स्पष्ट रूप से कह देता है कि सविदावाद का मूल दोष उसकी एतिहासिक असत्यता नही है बल्कि राज्य से पूर्व अधिकारो की संभावना का उल्लेख करना। प्राकृतिक अधिकारो का समर्थन करने वाले विचारक यह भूल जाते है कि अधिकारो और कर्त्तव्यो का अन्योन्याश्रित संबंध होता है। जहा अधिकार हैं वहा है कर्त्तव्य भी होना चाहिये। किन्तु पूर्व सामाजिक अवस्था मे कर्त्तव्य नही हो

है कि राज्य की आज्ञा का पालन क्यों होना चाहिये ? इस संबंध मे ग्रीन के सम्मुख दो विचार थे। एक ओर स्पिनोजा, हॉब्स और आस्टिन के विचार जो यह मानते है कि समाज में एक संप्रभु शक्ति होती है जिसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य है और अवहेलना करने वाला उस शक्ति के द्वारा दंडित किया जाता है। इस सिद्धांत मे आज्ञापालन का आधार दंड का भय है। दूसरी ओर रूसो का सिद्धात है जो यह मानता है कि विधि और व्यक्ति की इच्छा मे अंतर ही नही है और विधिपालन में ही वास्तविक स्वतंत्रता निहित है।

स्पिनोजा के विचारों की व्याख्या करते हुए ग्रीन कहता है कि उसने प्राकृतिक अधिकार और शक्ति को समान माना है जिसके कारण शासक निरंकुश बन जाता है। राजनीतिक शक्ति, प्राकृतिक अधिकार तथा जीवन उद्देश्य के संबंध में स्पिनोजा के विचार स्वतः विरोधी व भ्रमात्मक हैं। हाब्स का सिद्धांत निरंकुशता का समर्थक है, यद्यपि राज्य का निर्माण सामाजिक समझौते के द्वारा होता है किन्तु समझौते के उपरांत सभी शक्तियां संप्रभु के पास आ जाती हैं। हाब्स प्राकृतिक अवस्था में अधिकारों का अस्तित्व स्वीकार नही करता। राज्य से पहले केवल शक्तिया थी, अधिकार नही। इस आधार पर ग्रीन कहता है कि संविदा के द्वारा व्यक्ति राज्य को वही वस्तु हस्तांतरित करेगा जो उसके पास है, अर्थात् शक्ति। राज्य के पास भी केवल शक्ति हो सकती है, अधिकार नही। लॉक राज्य को सपूर्ण और निरंकुश सत्ता प्रदान नही करता। वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो को भी स्वीकार करता है तथा व्यक्ति और राज्य के बीच समाज का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। इस सिद्धांत की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि राज्य से पहले अधिकार और विधि की कल्पना को स्वीकार किया गया है।

रूसो की सबसे महत्वपूर्ण देन सार्वजनिक इच्छा का सिद्धांत है किन्तु किसी भी राज्य मे इच्छा जैसी भावात्मक वस्तु संप्रभु नही हो सकती इसलिये रूसो का विचार भी पूर्ण रूप से ग्राह्य नही है। ग्रीन ने संप्रभुता के सम्बन्ध में रूसो और आस्टिन के सिद्धांतों का समन्वय किया है। रूसो और आस्टिन समान रूप से संप्रभुता को सर्वोच्च, असीम और अविभाज्य मानते हैं किन्तु रूसो का सप्रभु निर्जीव, निर्गुण और अनिश्चित है और आस्टिन का संप्रभु एक निश्चित और सजीव व्यक्ति है। आस्टिन के विचार रूसो से दो प्रकार से भिन्न हैं। आस्टिन का संप्रभु एक निश्चित व्यक्ति है, रूसो का संप्रभु अनिश्चित और अमूर्त इच्छा है। आस्टिन के लिये आज्ञापालन का आधार दंड देने वाली शक्ति का भय है, रूसो के लिये आज्ञापालन स्वेच्छा से होता है क्योंकि व्यक्ति और राज्य की इच्छा में कोई विरोध नही है। आस्टिन का सिद्धात वास्तविक है किन्तु क्रूर है; रूसो

का सिद्धांत उदार है किन्तु अवास्तविक और अव्यावहारिक है। ग्रीन संप्रभु को वास्तविक और उदार बनाने के लिये दोनो विचारों का समन्वय करता है। वह आस्टिन के इस विचार को स्वीकार कर लेता है कि सप्रभु निश्चित होना चाहिये। विधि के स्रोत के रूप मे संप्रभु का निश्चित होना आवश्यक है अन्यथा विधि का निश्चय करना और उसका पालन करना संभव नही हो सकेगा। संप्रभुता एक स्वयं कार्य करने वाली शक्ति है इसलिये इच्छा जैसी अमूर्त शक्ति संप्रभु नही हो सकती। इच्छा अभिव्यक्ति का माध्यम चाहती है और रूसो किसी ऐसे साधन को स्वीकार नही करता जिसके कारण उसका सिद्धांत भावात्मक बनकर रह जाता है। प्रथम खंड आस्टिन का मान्य है, रूसो का नही।

संप्रभुता का दूसरा खड आज्ञापालन का है। इस क्षेत्र मे ग्रीन आस्टिन के विचारो को ठुकराकर रूसो के विचार स्वीकार करता है। आस्टिन का यह विचार उचित नही है कि संप्रभु की आज्ञा (विधि) का पालन दंड के भय से किया जाता है। आज्ञापालन का आधार शासक की शक्ति मे नही वल्कि सामान्य इच्छा मे निहित है। शक्ति से अधिकारो की स्थापना नही होती क्योंकि शक्ति से जो प्राप्त होता है वह छीना भी जा सकता है। व्यक्ति और राज्य के सम्वन्धो का सही विश्लेषण भय के माध्यम से नही किया जा सकता वल्कि व्यक्ति शासन के आदेश इसीलिये स्वीकार करता है कि वे उसके लिये हितकर हैं, अथवा उसके नैतिक विकास मे सहायक है।

ग्रीन यह भी मानता है कि किसी राज्य मे ऐसी दो प्रथक शक्तिया हो सकती हैं। एक शासन करने वाली शक्ति जो आदेश देनी है किन्तु विधि नहीं वनाती ; यह शक्ति निश्चित और सर्वोच्च होती है। दूसरी विधि वनाने वाली शक्ति जो अनिश्चित होती है। प्राचीन साम्राज्यो मे यह अतर अधिक स्पष्ट रूप मे पाया जाता था। शासन का प्रमुख कार्य कर वसूल करना और जीवन की सुरक्षा प्रदान करना था। जीवन और व्यवहार के सभी नियम सामाजिक, धार्मिक और नैतिक विश्वासो पर आधारित थे। राजा स्वय इन नियमो का निर्माण नही करता था और व्यक्ति इनका पालन राजनीतिक शक्ति के भय से नही करता था। सर हेनरी-मेन के विचारो का सहारा लेकर ग्रीन इस बात का समर्थन करता है कि अनेक प्राचीन शासक वर्तमान अर्थ मे विधि निर्माता नही थे। सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति शासक के पास रहती है किन्तु उसका प्रयोग केवल सीमित क्षेत्र मे ही हो सकता है। शासक प्रचलित सामाजिक व धार्मिक प्रथाओ मे हस्तक्षेप नही कर सकता। राज्य मे केवल शासक की सत्ता ही वाह्य नियत्रण से मुक्त होती है किन्तु वह इस शक्ति के द्वारा न तो कानून वनाता है न उन्हे लागू करता है। विधि निर्माण और विधि पालन

का कार्य सार्वजनिक इच्छा के द्वारा ही होता है। इस प्रकार राज्य मे दो संप्रभु शक्तिया हो जाती है। एक सैनिक अधिकारी जिसमें बाध्य करने की असीम शक्ति (unlimited coercive power) है किन्तु यह शक्ति केवल सीमित क्षेत्र मे ही लागू की जा सकती है। दूसरी शक्ति समाज मे प्रचलित सामान्य नियम है जो न तो प्रथम शक्ति द्वारा निर्मित है न उस पर आधारित। इन नियमो को क्षेत्रीय शक्तियां (ग्राम पचायत इत्यादि) लागू करती है और यह शक्तिया भी सामान्य इच्छा पर ही आधारित रहती है। सैनिक शासक कर वसूल करता है, सैनिको की भरती करता है, युद्ध और शांति का निर्णय करता है, किन्तु इन सामान्य शक्तियो के साथ हस्तक्षेप नही करता क्योंकि ऐसा करने से समाज मे अराजकता फैल सकती है। यह नियम सामाजिक प्रथाओ और परम्पराओ पर आधारित होते है और व्यक्ति इनका पालन राज्य के भय से नही वल्कि अपनी इच्छा से करता है क्योकि इनका पालन उसके विकास के अनुकूल है। इसी अर्थ मे सावजनिक इच्छा को संप्रभु कहा जा सकता है। इस इच्छा के अतिरिक्त निश्चित बाध्य करने वाली शक्ति आवश्यक है चाहे वह एक व्यक्ति मे निहित हो, कुछ व्यक्तियों में या सब मे। सयोग से सार्वजनिक इच्छा और बाध्य करने वाली शक्ति एक ही हो सकती है किन्तु प्रजा द्वारा आज्ञापालन इस शक्ति के कारण नही वल्कि सामान्य इच्छा के कारण होता है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिये वास्तविक (De facto) और वैध (De jure) सप्रभुता का अंतर भी किया जाता है। बाध्य करने वाली शक्ति को वास्तविक और सामान्य इच्छा को वैध सप्रभुता कहा जाता है, किन्तु ग्रीन इससे सहमत नही है। इस प्रकार का अतर करना अत्यत भ्रमात्मक है। इस व्याख्या मे ग्रीन यह भूल जाता है कि वर्तमान समय मे क्रमशः निर्मित विधियो की सख्या बढती जा रही है और प्रचलित व परपरागत विधिया कम होती जा रही है। वर्तमान राज्य प्रधान रूप से विधि निर्माता बनते जा रहे है। यह वात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि ग्रीन ने स्वयं राज्य के विधि निर्माण के क्षेत्र मे विस्तार करना चाहा और राजनीतिक शक्ति के माध्यम से सामाजिक प्रथाओ मे सुधार का समर्थन किया।

इस व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक विधि सामान्य इच्छा या सामान्य हितो के अनुरूप होनी चाहिये किन्तु इस बात का निर्णय कौन करेगा कि कोई विधि सामान्य हित के अनुकूल है अथवा नही। ग्रीन कहता है कि व्यक्ति ही इस बात का निर्णय कर सकता है। यदि व्यक्ति विधि को सामान्य हित के प्रतिकूल पाता है तो ऐसी स्थिति मे भी उसे विधि का पालन करना चाहिये तथा उसे बदलने के लिये संवैधानिक तरीको से प्रयास करना चाहिये। विधि के सार्वजनिक विरोध का परिणाम अराजकता

ही हो सकता है। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जहां विधि पालन अत्यंत कठिन हो जाता है। प्रथम जबकि संप्रभु शक्ति निश्चित न हो और यह नही कहा जा सके कि किसके आदेश को स्वीकार करना चाहिये। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को इस बात का निर्णय करना चाहिये कि किस शक्ति की सफलता मानव समाज के लिये अधिक लाभदायक होगी; ऐसी ही शक्ति का पालन करना चाहिये। दूसरी परिस्थिति वह है जहा अनुचित विधि को सुधारने का कोई वैधानिक तरीका नही रह जाता। इस स्थिति मे संप्रभु की न केवल अवहेलना होगी वल्कि उसका विरोध करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होगा। इस परिस्थिति मे ग्रीन व्यक्तिगत व सामूहिक रूप से सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience) को स्वीकार करता है। इस अस्त्र का प्रयोग भारत मे महात्मा गाधी ने किया। ग्रीन यह मानता है कि राज्य की विधि के पालन का दायित्व उसी सीमा तक है जहा तक विधि सामान्य हितो के अनुकूल है तथा विधि पालन इसीलिये होता है कि वह सामान्य हितो के अनुकूल है। जहा विधि और सामान्य हितो का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, विधि पालन का दायित्व भी समाप्त हो जाता है किन्तु उस विधि को संवैधानिक साधनों से बदलने का प्रयत्न करना चाहिये और उसका विरोध या अवज्ञा उसी समय उचित है जब उसे बदलने का कोई संवैधानिक तरीका नही रह जाता। सामान्य इच्छा और संप्रभुता का यह अंतर दर्शाकर ग्रीन ने सामान्य इच्छा के सिद्धात को 'स्वतंत्रता के विरोधाभास' से बचा लिया।

राज्य का आधार—सामान्य इच्छा की नई व्याख्या करते हुए ग्रीन राज्य के आधार के वर्णन पर पहुँचता है। 'पोलिटिकल आब्लिगेशन' का सातवा अध्याय इस सिद्धात की व्याख्या करता है कि 'राज्य का आधार बल नही इच्छा है'। इसका यह अर्थ नही कि ग्रीन राज्य का निर्माण इच्छा के द्वारा मानता है या राज्य मे इच्छा को ही सर्वोच्च मानता है। संविदा सिद्धात और सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचारो का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। ग्रीन इस बात का अनुभव करता है कि नागरिक और राज्य के संबंधो की उचित व्याख्या करना आवश्यक है। पूर्ववर्ती विचारकों ने इस व्याख्या मे या तो व्यक्ति के लिये राज्य का महत्व कम कर दिया या राज्य के लिये व्यक्तित्व की आहुति चढा दी। ग्रीन यह मानता है कि राज्य के बधनो को स्वीकार करना आवश्यक है किन्तु इन बंधनो को शासन की शक्ति पर आधारित नही किया जा सकता। राज्य के बंधन व्यक्ति केवल इसलिये स्वीकार करता है कि इनके अभाव मे वह अपने जीवन का नैतिक लक्ष्य प्राप्त नही कर सकता। इस प्रकार नैतिकता (जीवन का उद्देश्य) और राजनीतिक दासत्व का आधार एक ही है—'सामान्य हितो की सामान्य चेतना'। राज्य

इसी चेतना पर आधारित है, इसी चेतना की अभिव्यक्ति के लिये बना है और यह चेतना एक नैतिक चेतना है। इस कारण राज्य भी एक नैतिक संस्था है बल्कि सभी नैतिक संस्थाओ मे सर्वोच्च है। कोई नैतिक सस्था बल पर आधारित नही हो सकती क्योकि नैतिकता आतरिक लक्षण है और शक्ति के प्रयोग से समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त राज्य मनुष्य के जीवन के उद्देश्य के अनुकूल होने के कारण भी शक्ति पर आधारित नही हो सकता। राज्य के आदेशो का पालन भी शक्ति के भय से नहीं होता बल्कि नैतिक विकास मे उपयोगी होने के कारण होता है। इसका यह अर्थ नही है कि राज्य का प्रत्येक कानून सभी सदस्यो की स्वीकृति से बनाया जाता है या उसके लिये उनकी स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक है। इस अर्थ मे तो वर्तमान किसी भी राज्य को प्रजा की इच्छा पर आधारित नही कहा जा सकता। अधिक से अधिक प्रबुद्ध नागरिक भी राज्य के नैतिक रूप को पूर्ण रूप से नही समझ पाता और न प्रत्येक नागरिक शासन के कार्य मे प्रत्यक्ष हिस्सा ले सकता है। ग्रीन के इस विचार का यह अर्थ भी नहीं लगाया जा सकता कि राज्य की सदस्यता ऐच्छिक है। राज्य निश्चित रूप मे एक अनिवार्य संस्था है क्योकि राज्य के बिना नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति संभव नही है। किन्तु अनिवार्य संस्था का अर्थ शक्ति के प्रयोग से तो नहीं है। यहा पर ग्रीन केवल यह दर्शाना चाहता है कि राज्य और व्यक्ति के सबध एक नैतिक इच्छा (चेतना) से बधे हुए है और यह बंधन अन्य किसी भी बधन से अधिक मजबूत है, क्योकि यह अच्छे जीवन के लिये स्वेच्छा से स्वीकृति बधन है।

प्रत्येक राज्य मे एक सर्वोच्च बाध्य करने वाली शक्ति (Supreme Coercive Power) पाई जाती है और व्यक्ति के आचरण को सीमित रखने के लिये शक्ति का प्रयोग भी किया जाता है जिससे यह भ्रम होता है कि राज्य शक्ति पर ही आधारित है या शक्ति राज्य का अनिवार्य लक्षण है। इस भ्रम का निवारण करते हुए ग्रीन यह दर्शाता है कि निरंकुश शक्ति न तो राज्य का अनिवार्य लक्षण है, न राज्य का आधार। कोई भी समूह निरकुश शक्ति से राज्य नही बनता बल्कि "वह शक्ति सर्वोच्च और बाध्य केवल इसलिये है कि वह राज्य के अदर कार्य करती है, अर्थात् किसी लिखित या परम्परागत विधि के अनुसार उपयोग मे लाई जाती है।" इस शक्ति का प्रयोग इन विधियो के विरुद्ध नही किया जा सकता। संप्रभु शक्ति राज्य पर आधारित है, राज्य संप्रभुता पर नही। राज्य मे शक्ति का सर्वोच्च स्वरूप इसलिये मिलता है कि राज्य सर्वोपरि संस्था है। श्रेष्ठ संगठन का अधिकार अन्य संगठनो से श्रेष्ठ होना चाहिये किन्तु वह निरंकुश नही हो सकता। राज्य एक नैतिक आदर्श पर आधारित है और कोई

आदर्श शक्ति पर आधारित नही होता । सभी संगठित समूहो में एक निश्चित उद्देश्य का होना आवश्यक है, चाहे सदस्य उस उद्देश्य के प्रति जागृत हो या न हों । इसी आधार पर राज्य को एक सावयव संगठन मानने से उसका स्वरूप भी सोद्देश्य (Teleological) हो जाता है । ग्रीन यह बतलाने का प्रयत्न करता है कि राज्य का यह नैतिक स्वरूप ही वास्तविक है, यद्यपि प्रचलित राज्यो मे यह स्वरूप विकृत हो जाता है; शासन की कमजोरियो के कारण अशुद्ध हो जाता है किन्तु समाप्त नही होता । जो नैनिक है वह शक्ति पर आधारित नही होता क्योकि नैतिकता आतरिक है और व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा का परिणाम है । ग्रीन इस बात को स्वीकार करता है कि राज्य के निर्माण मे शक्ति का कुछ हिस्सा रहा है । यह हिस्सा कुटुम्ब, कबीले और अन्य पूर्वराजनीतिक सगठनो के विकास मे रहा है तथा इन संगठनो के मेल से ही राज्य बना है । संप्रभु के अधीन व्यक्ति समूह को राज्य नही माना जा सकता बल्कि राज्य कुटुम्बों और कबीलो का समूह है । इन कुटुम्बो और कबीलो मे संगठित मनुष्यो के अधिकारो की स्पष्ट व्याख्या और मान्यता ही राज्य प्रदान करता है । प्रारम्भिक संगठन मनुष्य के व्यक्तिगत हितो की पूर्ति के लिये बनते है किन्तु जब मनुष्य मे सामान्य हितो की सामान्य जागृति आ जाती है तो राज्य का विकास होता है । वर्तमान राज्यो मे भी संप्रभु के द्वारा शक्ति का प्रयोग होता है किन्तु यह प्रयोग राज्य मे और राज्य के ही कारण होता है । राज्य से अलग कोई संप्रभु इस शक्ति का प्रयोग नही कर सकता । ग्रीन के अनुसार निरंकुश सप्रभुता के सिद्धात की गलती यह नही है कि वह सप्रभु को सर्वोच्च शक्ति प्रदान करता है बल्कि प्रधान त्रुटि यह है कि यह सिद्धात सप्रभुता को राज्य से अलग मान लेता है । इस संदर्भ मे ग्रीन लिखता है, ''राज्य का अध्ययन करने से पहले संप्रभुता को जानने की कोशिश करने का दुष्परिणाम यह होता है कि हम संप्रभुता के भावात्मक (abstract) सिद्धांत पर पहुँच जाते है... — ...और जब हम राज्य पर संप्रभुता के लक्षण से विचार करते है तो यह मानने लगते है कि सर्वोच्च शक्ति राज्य के लिये अनिवार्य है, तथा यह भूल जाते है कि वास्तव मे राज्य सप्रभुता का निर्माण करता है, सप्रभु राज्य का नही ।'' उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ग्रीन कहता है कि यदि एक प्रभु के पास अनेक दास है जिन पर वह संपूर्ण शक्ति का प्रयोग करता है तब भी प्रभु और दास के इस समूह को राज्य नही कहेगे । इसका कारण यह है कि दासो के पारस्परिक व प्रभु के साथ संबंधो के नियम निर्धारित नही होते । राज्य का आवश्यक तत्व है—शासक और शासित के पारस्परिक संबंधो का निर्धारित होना । इन संबंधो मे पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य ही आधारहोते हैं तथा सप्रभु का कार्य इन अधिकारों की सुरक्षा करना होता है, उन्हे छीनना

नही। प्राचीनकालीन यूनान और रोम के राज्यो में भी अधिकारों का अस्तित्व निश्चित रूप से स्वीकृत था। राज्य से अधिकारो का अस्तित्व अलग नही किया जा सकता; अतः राज्य के विकास मे यदि शक्ति का कोई अंश रहा है तो अधिकारों की भावना के सहयोगी के रूप मे। एक बार राज्य की स्थापना हो जाने के बाद अधिकारो का अस्तित्व अधिक स्पष्ट और महत्वपूर्ण हो जाता है तथा सामान्य हितो की भावना भी शक्तिशाली हो जाती है। अधिकारों का आधार यही सामान्य हितों की भावना है; अतः राज्य का आधार भी यही है। राज्य में शक्ति आकस्मिक है और जैसे-जैसे हम आदर्श स्थिति की ओर बढते है, शक्ति का अस्तित्व कम होता जाता है।

राज्य के प्रतिरोध का अधिकार—अधिकार और राज्य का यह अध्ययन हमे एक नये प्रश्न की ओर ले जाता है, 'क्या नागरिक को राज्य का प्रतिरोध करने का अधिकार है ?' ग्रीन एक ओर राज्य को इच्छा पर आधारित मानता है जिसका एक निश्चित उद्देश्य है और दूसरी ओर व्यक्ति के वैधानिक और प्राकृतिक अधिकारो मे अंतर भी दर्शाता है। इसलिये स्वाभाविक रूप से हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि यदि राज्य किसी प्राकृतिक अधिकार को मान्यता देने से इन्कार कर दे या उसका दमन करे तो क्या राज्य का विरोध किया जा सकता है ? ग्रीन से पहले आदर्शवादियो ने राज्य के विरोध करने का अधिकार व्यक्ति को नही दिया। ग्रीन इस प्रश्न को एक नये रूप मे देखता है क्योंकि ग्रीन के लिये राज्य स्वयं साध्य नही है बल्कि एक साधन है; साध्य तो सामाजिक हित है। ग्रीन के सिद्धांत की विशेषता यह है कि राज्य और अधिकारो का आधार समान है 'सामान्य हितो की सामान्य चेतना' तथा दोनो इस उद्देश्य की प्राप्ति के माध्यम है। अतः दोनों के बीच विरोध उत्पन्न होने पर व्यक्ति को स्वयं इस बात का निर्णय करना होगा कि किस माध्यम को प्रधानता दी जाय। सामान्य रूप से राज्य के आदेशो का पालन आवश्यक है क्योकि राज्य सभी अधिकारों का संरक्षक है। व्यक्ति राज्य से कुछ वैधानिक अधिकार प्राप्त करता है इसलिये उसे सामान्य रूप से राज्य का विरोध नही करना चाहिये। व्यक्ति नये अधिकारो की प्राप्ति के लिये जब राज्य का प्रतिरोध करना चाहता है तो उसे यह विचार करना पडता है कि ऐसा करने से उसके वैधानिक अधिकारो का अंत हो सकता है। जब राज्य न रहेगा तो, सामाजिक रूप मे ही सही, इन अधिकारो का अंत हो जायगा। इस कारण व्यक्ति को इस बात का निर्णय करना होगा कि क्या नया अधिकार इतना महत्वपूर्ण है कि उसके लिये स्थापित अधिकारो को निलंबित करने का संकट लिया जा सकता है ? सामान्य हितों की प्राप्ति ही

राज्य का जीवनाधार (Raison-d-etate) या राज्य का विचार (Idea) है। जब तक राज्य की विधि इस भावना की पूर्ति करती है उसकी अवज्ञा का कोई अधिकार नही हो सकता। आदर्शवाद को ग्रीन एक नया विरोधाभास प्रदान करता है, 'राज्य का विरोध केवल राज्य के उद्देश्य के लिये ही किया जा सकता है'। राज्य का प्रतिरोध उसी समय उचित है जब राज्य सामान्य हितो के विरुद्ध कार्य करता है किन्तु ऐसी स्थिति में भी प्रतिरोध करने से पहले अनेक बातों पर विचार करना आवश्यक है। इस अधिकार के दुरुपयोग के प्रति ग्रीन पूरी सावधानी लेना चाहता है। राज्य के द्वारा सामान्य हित की भावना का विरोध हो रहा है अथवा नही, इसका निर्णय हर व्यक्ति अपने लिये ही कर सकता है; किन्तु यह आवश्यक है कि वह सामान्य हित समाज के द्वारा स्वीकृत होना चाहिये, तभी उस हित के लिये विधि के विरोध की बात उत्पन्न होती है।" प्रतिरोध का जो भी अधिकार उसे (व्यक्ति को) है सामाजिक हितो के संबंध पर आधारित है और ऐसा संबंध जिसका बोध नागरिको को है . .. तथा यह भी दर्शाना चाहिये कि उस अधिकार को किसी वर्ग विशेष के हित मे रोका जा रहा है, सामाजिक हित के लिये नही।" ऐसी स्थिति मे भी व्यक्ति के द्वारा विधि का उल्लघन न्यायसंगत नहीं है बल्कि व्यक्ति को केवल उस विधि के विरुद्ध अपने विचारो का प्रदर्शन करना चाहिये तथा उनका प्रचार करना चाहिये। ग्रीन आगे लिखता है, "यदि किसी विधि का परिवर्तन अधिकारो के विरुद्ध होने के कारण मांगा जा रहा है तब भी उसकी अवज्ञा का कोई अधिकार नही हो सकता, क्योंकि जनहित, जिस पर सभी अधिकार आधारित है, विधि-पालन सामान्य रूप से चाहता है।" ऐसी स्थिति मे विधि का विरोध करते हुए भी उसका पालन आवश्यक है। जहां यह संभावना नही है कि विधि का उल्लघन करने से नागरिकों मे अवज्ञा की भावना बढेगी वहा विधि का उल्लंघन किया जा सकता है। राज्य का विरोध या विधि का उल्लंघन करते हुए इस बात को ध्यान मे रखना भी आवश्यक है कि ऐसा करने से अराजकता उत्पन्न हो सकती है। यदि अराजकता की संभावना है तो राज्य का विरोध नही करना चाहिये क्योंकि अराजकता की स्थिति मे सभी अधिकारो और स्वतन्त्रताओ का अत हो जाता है।

विधि पालन और स्वतन्त्रता एक दूसरे के ऊपर निर्भर है और व्यक्ति विधि का पालन इसीलिये करता है कि विधि और राज्य के द्वारा उसकी अनेक स्वतंत्रताये सुरक्षित रहती है। इस संदर्भ मे ग्रीन दास का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए तर्क करता है कि यदि राज्य दास को सामाजिक स्वतंत्रता देने के लिये तैयार नहीं है तो दास भी राज्य की विधि का पालन करने के लिये भी बाध्य नही है। दास की स्वतंत्रता की कामना

राज्य मे मिल जाने की इच्छा है, यदि राज्य इसे स्वीकार नही करता तो वह दास को राज्य का सदस्य बनने से रोक रहा है। उस दास पर राज्य का कोई अधिकार नहीं रह जाता और दास के लिये विधि का कोई अस्तित्व नही रह जाता। ग्रीन वह निश्चित रूप से मानता है कि स्वतन्त्रता राज्य के निर्माण की पहली शर्त है। महात्मा गाधी का सविनय अवज्ञा का सिद्धात ग्रीन के इस विचार के समान है। असहयोग और सविनय अवज्ञा की पूरी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि ग्रीन के सिद्धात मे मिलती है। यद्यपि महात्मा गाधी पर ग्रीन का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत नही होता किन्तु यह बात भी नहीं भुलाई जा सकती कि १८८८ मे लदन पंहुचे जब तक लंदन के बौद्धिक क्षेत्र में ग्रीन के विचारो का प्रभाव हो चुका था।

संप्रभुता के अध्ययन मे भी इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि ग्रीन कुछ परिस्थितियो मे सप्रभुता के उल्लघन को स्वीकार करता है। जब अनुचित विधियो को बदलने का कोई सवैधानिक तरीका नही रह जाता तो संप्रभु का विरोध करना व्यक्ति का अधिकार ही नही बल्कि नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है। नैतिक जीवन का उद्देश्य है सामान्य हितो की प्राप्ति। इस ध्येय की प्राप्ति के लिये कार्य करना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य है और यदि राज्य इस मार्ग मे बाधक होता है और उसे अनुकूल बनाने का कोई शातिपूर्ण तरीका नही है तो उसका विरोध करना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति मे विरोध करने के लिये बहुमत के समर्थन की भी आवश्यकता नही है बल्कि 'असहाय अल्पमत' ही राज्य का विरोध कर सकता है। जो विधि सामाजिक हित के अनुकूल नही है उसको बदलने के रास्ते यदि शासक रोकता है तो वह स्वयं समाज विरोधी हो जाता है और उसका विरोध करना आवश्यक हो जाता है अन्यथा सामान्य हितो का विकास नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को कुछ प्रश्नो पर विचार कर लेना चाहिये। (१) संप्रभु शक्ति का अंत किये बिना उसके स्वभाव को या व्यावहारिक रूप को सुधारने की कितनी संभावना है? यदि सप्रभु के स्वरूप व व्यवहार मे सुधार करने की सभावना है तो अंत करने की आवश्यकता नही है, जब सुधार की कोई संभावना नही है तभी अत करना उचित होगा (२) ऐसी स्थिति मे दूसरा प्रश्न उत्पन्न होता है—यदि इस शक्ति का अत करना पड़ा तो अराजंकता की सभावना तो नही है? अराजकता का अर्थ होगा स्थापित सामाजिक व्यवस्था का अंत जो कि सामान्य हितों के लिये लाभदायक नही है किन्तु फिर भी जीवन, संपत्ति की सुरक्षा तथा अन्य कुछ सुविधाये प्रदान करती है। अतः जहां तक सभव हो, सत्ता परिवर्तन इस प्रकार किया जाय कि सामाजिक जीवन में विच्छृंखलता न आवे; किन्तु यह संभव न हो तो फिर तीसरा प्रश्न सामने आता है।

(३) यदि संप्रभुता के विरोध से अराजकता उत्पन्न होने की सभावना है तो यह प्रश्न आता है कि क्या विधि और शासन की संपूर्ण व्यवस्था इतनी भ्रष्ट हो गई है कि उसको बनाये रखने मे सामान्य हितो को कोई लाभ नही है? इस प्रश्न के उत्तर पर ही अतिम निर्णय निर्भर होगा। ग्रीन स्वयं इस बात को स्वीकार करता है कि यह प्रश्न क्राति के वातावरण मे न तो विचाराधीन हो सकते है न इनका सही उत्तर ही प्राप्त हो सकता है। इन पर उचित विचार घटनाओ के बाद ही किया जा सकता है। सामान्य रूप से कार्यो का निर्णय उनके परिणाम से ही होता है किन्तु ग्रीन यह कहता है कि एक अच्छे नागरिक को इन बातो का ध्यान रखना चाहिये और अपना आचरण इसी आधार पर निर्धारित करना चाहिये। ग्रीन इस बात के प्रति पूरी सावधानी लेना चाहता है कि क्राति के अधिकार का दुरुपयोग न हो और जरा-जरा सी बात पर क्राति का प्रचार न किया जाय। ग्रीन का तर्क भी उसे इसी दिशा मे ले जाता है कि वह राज्य को एक साधन माने और किसी साधन की शक्ति अतिम नही होती व साधन का अस्तित्व साध्य से ऊपर नही होता। उदारवाद और आदर्शवाद का समन्वय यही चाहता है कि स्वतत्रता राज्य से ऊपर हो पर राज्य का विरोध यदि असभव नही तो कठिनतम अवश्य बना दिया जाय। ग्रीन की स्थिति उस नट के समान है जो 'सामान्य हितो की चेतना' के सहारे जीवन की रस्सी पर स्वतत्रता और व्यवस्था के बीच संतुलन कर रहा है।

युद्ध और व्यक्तिगत स्वतंत्रता—अधिकारो का वर्णन करते हुए ग्रीन ने व्यक्तिगत अधिकारो का भी वर्णन किया है। जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार अन्य सभी अधिकारो से पहले है क्योकि किसी भी अधिकार का प्रयोग करने के लिये शरीर की आवश्यकता सबसे पहले है। इसके बावजूद भी किसी भी समाज मे ये अधिकार भी सपूर्ण नही होते और आवश्यकतानुसार उन्हे सीमित करने का प्रयत्न किया जाता है। अधिकारो के अतर्गत ग्रीन ने जिन चार प्रश्नो का उल्लेख किया है उनमे पहले दो युद्ध की स्थिति से सम्बन्ध रखते है। युद्ध के समय राज्य का सम्बन्ध व्यक्ति के जीवन के अधिकार से दो प्रकार से होता है। राज्य अपने नागरिको को युद्ध करने और अपना जीवन संकट मे डालने का आदेश देता है। दूसरे रूप मे एक राज्य अपने शत्रु राष्ट्र के लोगो का जीवन लेने का आदेश देता है। पहली स्थिति मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि राज्य व्यक्ति के जीवन के अधिकार को कहा तक सीमित कर सकता है और दूसरी स्थिति मे यह प्रश्न आता है कि अन्य देशों के नागरिको को राज्य ने यह अधिकार प्रदान नही किया इसलिये उनके जीवन के अधिकार को सीमित करने की शक्ति राज्य को हो सकती है?

इन प्रश्नों का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि युद्ध के औचित्य के प्रति क्या दृष्टिकोण अपनाया जाता है। युद्ध के सम्बन्ध में ग्रीन के विचार हीगेल की अपेक्षा कान्ट से अधिक समानता रखते हैं। ग्रीन से पहले सामान्य रूप से राजनीति में यह धारणा प्रचलित थी कि युद्ध करने का अधिकार सप्रभुता का एक लक्षण है। हर राज्य संप्रभु है; अतः किसी बाह्य शक्ति के आदेश मानने के लिये बाध्य नहीं है, इसलिये दो संप्रभुओं के विवाद का निर्णय युद्ध के मैदान में ही हो सकता है। कान्ट से प्रभावित होकर ग्रीन इस समस्या पर एक नये दृष्टिकोण से विचार करता है। युद्ध का सम्बन्ध केवल राज्यों या शासकों से ही नहीं होता बल्कि प्रत्येक नागरिक से होता है, इसलिये युद्ध के औचित्य का निर्णय राज्य के नहीं बल्कि व्यक्ति के दृष्टिकोण से की जानी चाहिये। प्रत्येक युद्ध में नागरिकों का जीवन संकट में रहता है, असंख्य नागरिकों का जीवन राज्य के लिये बलिदान कर दिया जाता है। जीवन और स्वतंत्रता का जो अधिकार शांति काल में अनिवार्य और अन्य सभी अधिकारों का आधार माना जाता है, वही अधिकार सीमित कर दिया जाता है और छीन भी लिया जाता है, इसलिये यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि युद्ध के कारण यह अतिक्रमण उचित हो सकता है अथवा नहीं ?

ग्रीन इस बात को स्वीकार करता है कि युद्ध और हत्या में अंतर है। यह बात सही है कि युद्ध में सैनिक किसी व्यक्ति विशेष की हत्या नहीं करना चाहते तथा जो सैनिक मारे जाते हैं वे अपनी इच्छा से यह खतरा मोल लेते हैं। किन्तु इन तर्कों से युद्ध को न्यायसंगत नहीं बतलाया जा सकता। केवल सैनिक के कार्यों व स्थिति का स्पष्टी-करण किया जा सकता है। इन तर्कों को स्वीकार कर लेने पर भी युद्ध के समय जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार का अतिक्रमण तो होता ही है। ग्रीन यह मानता है कि कोई राज्य अपने नागरिकों को सेना में भरती होकर अपना जीवन संकट में डालने का आदेश नहीं दे सकता। सैनिकों को अनिवार्य भरती न्यायसंगत नहीं है किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि जहां अनिवार्य भरती नहीं है वहां हर सैनिक अपनी इच्छा से और जानबूझकर यह संकट मोल लेता है। इस सम्बन्ध में ग्रीन की आपत्ति यह है कि किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने जीवन को इस प्रकार संकट में डाले। जीवन का अधिकार केवल अपने लिये नहीं होता बल्कि सामाजिक विकास में उचित हिस्सा लेने के लिये। व्यक्ति के शरीर पर केवल उसका अधिकार नहीं होता बल्कि समाज का भी अधिकार होता है। सामाजिक विकास में सहयोग देना मनुष्य का सबसे बड़ा दायित्व है और कोई भी व्यक्ति इस दायित्व से केवल अपनी इच्छा से मुक्त नहीं हो सकता। ग्रीन इस तर्क से भी सहमत नहीं है कि जो लोग स्वेच्छा से सेना में

भरती होते है उनके खतरे के लिये राज्य का उत्तरदायित्व नही रह जाता क्योकि सेना सगठित करने, सैनिको की संख्या निश्चित करने तथा सैनिको को युद्ध के एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने का कार्य राज्य के आदेश से तथा वाध्य करने वाली शक्ति के द्वारा ही होता है। युद्ध के पक्ष मे यह भी कहा जा सकता है कि युद्ध समाज के लिये ही आवश्यक हो सकता है अर्थात् नैतिक जीवन की सुरक्षा के लिये आवश्यक है जैसे कि विदेशी आक्रमण के समय। ग्रीन के अनुसार इस तर्क से भी युद्ध को न्याय-सगत नही वतलाया जा सकता वल्कि केवल युद्ध आरंभ करने का दोष एक स्थान के वजाय दूसरे स्थान पर स्थानातरित कर दिया जाता है। इस तर्क से युद्ध का दोष मिटाया नही जा सकता। वास्तविक प्रश्न और भी अधिक उलझ जाता है। जब हम यह कहते है कि एक विशेष परिस्थिति मे युद्ध आवश्यक हो जाता है तो यह प्रश्न आता है कि उन परिस्थितियो का निर्माण कैसे और किसके द्वारा हुआ? हीगेल की यह वात आकर्षक लगती है कि युद्ध के समय राष्ट्रभक्ति, साहस, वीरता जैसे सदगुणो का विकास होता है किन्तु यह सब मिलकर जीवन के अतिक्रमण को न्यायसगत नही वना सकते। ग्रीन यह भी मानने को तैयार नही है कि किसी समय सामाजिक हित मे युद्ध करना आवश्यक हो सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि कुछ लोगो ने अच्छे इरादे से युद्ध मे हिस्सा लिया तो भी उनका दोष समाप्त नही होता वल्कि केवल कम हो जाता है। यह कहना कि किसी समय युद्ध ही अच्छाई का एकमात्र मार्ग रह गया था मानव दोष को स्वीकार करना है, दोष का स्पष्टीकरण नही। ग्रीन तो यहा तक कहता है कि अच्छा राज्य, जो उचित सिद्धातो पर आधारित है कभी अपने नागरिको के इन अधिकारो का अतिक्रमण नही करेगा और न उसे युद्ध करने की आवश्यकता ही होगी। यह कहना सर्वथा असत्य है कि अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे युद्ध स्वाभाविक है। युद्ध सदियों से होते आये है यह सही है, किन्तु यह युद्ध की अनिवार्यता का प्रमाण नही है वल्कि केवल इस वात का प्रमाण है कि राज्यो मे ऐसी कमजोरिया है जिनके कारण वे युद्ध की ओर जाते है। यह राज्य की अपूर्णता का प्रतीक है। युद्ध चाहे आक्रमणकारी हो या रक्षात्मक, व्यक्तिगत आकाक्षा से हो या सैद्धातिक आधार पर, वह न तो अनिवार्य कहा जा सकता है न पूर्णरूप से न्यायसंगत। सुरक्षात्मक युद्ध को भी ग्रीन न्यायसगत नही मानता, "यह कहने का कोई आधार नही है कि कोई राज्य अपने हितो की रक्षा के लिये जो उचित समझे कर सकता है, चाहे दूसरे मनुष्यो पर उसका प्रभाव कुछ भी हो। यदि यह परिणाम वुरे है—जैसे कि व्यक्तिगत अधिकारो का अतिक्रमण या विश्व मे कही भी समाज का नैतिक विकास अवरुद्ध होना तो ऐसे राजनीतिक कार्यो को पूर्णरूप से उचित नही कहा जा सकता।" इस आधार पर युद्ध को केवल अशतः उचित कहा

जा सकता है जिसके लिये ग्रीन ने तीन आधार पेश किये है ; (१) उन हितो की प्रकृति जिनकी रचा की जा रही है; (२) रचा के अन्य किसी उपाय का संभव न होना; (३) इन हितो के संकट मे पडने का कारण। हर परिस्थिति मे युद्ध का दोप किसी न किसी मानवीय शक्ति पर रहता है।

हीगेल के विपरीत ग्रीन यह दर्शाता है कि नैतिक भावनाओ का विकास राष्ट्रीय एकता तक ही सीमित नही है बल्कि इसके आगे विश्वबधुत्व की ओर भी अग्रसर होता है। "राष्ट्रीय भावना, जो अच्छे नागरिको की सामाजिक भावना है, क्रमशः ऐसे निर्देश ग्रहण करेगी, और कर रही है, जो एक राष्ट्र और दूसरे राष्ट्र के बीच संघर्ष के निपेध की ओर ले जाते है।" हम आज यह बात निश्चित रूप मे कह सकते है कि आनेवाले समय मे ग्रीन की इस कामना का समर्थन ही किया है। वर्तमान राजनीति इस बात का प्रमाण है कि अतर्राष्ट्रीय संघर्ष रोकने के लिये क्रमशः सभी देशो के निवासियों में दृढ इच्छा जागृत हो चुकी है। आगे चलकर ग्रीन लिखता है, "जैसे-जैसे प्रत्येक राष्ट्र मे अधिकारो का संगटन पूर्णता की ओर बढ़ता है (अधिकारों के संगठन ने ही वह राष्ट्र राज्य बनता है), राष्ट्रो के बीच संघर्ष की सभावना कम होती है।" इतिहास ग्रीन के इस विचार की भी पुष्टि करता है। पिछले दो महायुद्धो ने यह सबक सिखाया है कि प्रजातंत्रात्मक राज्य (जिनमे अधिकारो का सगठन अधिक अच्छा है) अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिये हानिकारक नही है बल्कि अप्रजातान्त्रिक राज्य शाति के लिये बड़ा खतरा प्रस्तुत करते हैं। ग्रीन के तर्को से हम भले ही सहमत न हो, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि पिछले दो महायुद्धो ने हमे जो सिखाया और द्वितीय महायुद्ध के बाद हमने जिसे स्वीकार किया वह शातिवाद का मार्ग ग्रीन पिछली शताब्दी मे ही दर्शा गया था। शांतिवाद को हम आज भयानक विध्वंस की कल्पना के कारण स्वीकार करते है जबकि ग्रीन ने उसका समर्थन नैतिक आधार पर किया था।

ग्रीन का अंतर्राष्ट्रीयतावाद विश्वराज्य की कल्पना से सबंधित नही है बल्कि वह राज्यो के पृथक अस्तित्व को स्वीकार करता है किन्तु उसका निष्कर्ष यह है कि राज्यो के सही सगठन का परिणाम अतर्राष्ट्रीय सहयोग होना चाहिये, सघर्ष नही। ग्रीन का इशारा एक विश्व की ओर नही बल्कि सहयोग और सह-अस्तित्व की ओर है। देश प्रेम और राष्ट्र भक्ति को युद्ध के तराजू मे तौलना हमारी प्राचीन परम्परा है, इस समय से जब कि राज्य मे अनेक अपूर्णतायें थी, जब व्यक्ति के जीवन की अपेचा राजसिंहासन का अधिकार अधिक महत्वपूर्ण था। अतः यह परम्परा राज्य की इन कमजोरियों का

प्रतीक है । राज्य मे सैनिक शक्ति का अस्तित्व पृथक राज्यों की प्रणाली के कारण नही बल्कि राज्य व्यवस्था की कमजोरियो के कारण है ।

अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास मे ग्रीन ने आर्थिक और सामाजिक सहयोग का भी उल्लेख किया है। उसका यह विश्वास है कि राज्य का संगठन जितना शुद्ध हो जाता है वह राज्य अन्य राज्यों के साथ मधुर सबध बनाये रखने की ओर ही प्रेरित होता है । व्यापार की आवश्यकता और आर्थिक अंतर्निर्भरता का विकास सुगठित राज्यो मे अधिक होता है और इस निर्भरता के कारण राष्ट्रीय एकता की भावना से अधिक व्यापक बंधनो का निर्माण होता है । प्रत्येक राज्य को एक स्वतंत्र और सपूर्ण इकाई मान लेने की अपेक्षा विश्व का एक अंग मानना ही अधिक लाभदायक है । यह बात स्मरणीय है कि विश्व के राजनीतिज्ञों ने इस बात का आभास द्वितीय महायुद्ध मे किया और संयुक्त राष्ट्र को विशाल आर्थिक और सामाजिक कार्यक्षेत्र प्रदान किया जब कि राष्ट्र संघ (League of Nations) के निर्माण मे आर्थिक और सामाजिक सहयोग को उचित महत्व नही दिया गया था । पारस्परिक निर्भरता, सहयोग और मैत्री की उपस्थिति मे युद्ध और वैमनस्य की संभावना न्यूनतम हो जाती है ।

ग्रीन का शांतिवाद विश्वसंघ की ओर इसलिये नही बढ सका कि वह व्यक्ति और राज्य की प्रकृति मे अंतर मानता है । व्यक्ति के बधन जितने दृढ होते है राज्य पर नही हो सकते क्योकि राज्यो को पर्याप्त मात्रा मे स्वतंत्रता चाहिये । साथ ही ग्रीन यह भी मानता है कि व्यक्ति के पारस्परिक व्यवहार मे संघर्ष की जितनी सभावना रहती है राज्यो के बीच नही रहती । हर व्यक्ति को अपने आसपास रहने वाले व्यक्ति के साथ उचित व्यवहार करने का जो लालच होता है वह हर राज्य को नही होता क्योंकि व्यक्तिगत व्यवहार में ऐसे व्यवहार मे व्यक्तिगत लाभ होने की लालच रहती है । अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार मे ऐसे तरीको से व्यक्ति को कोई लाभ होने की संभावना नही है । इस आधार पर ग्रीन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वास्तविक प्रजातंत्रों में युद्ध की संभावना न्यूनतम हो जाती है ।" विभिन्न सरकारे यदि विभिन्न जन समूहो की वास्तविक प्रतिनिधि है, जैसा कि राज्य के उचित सगठन से वे बन जायगी, और एक राज्य को दूसरे से लड़ाने मे कोई व्यक्तिगत लाभ (राजा या उसके परिवार का—Dynastic) नही है तो ऐसा कोई कारण नही दिखता कि उनके पारस्परिक व्यवहार मे आवेशहीन निष्पक्षता क्यो न होगी ।" वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्ध ने ही हमे यह समझा दिया है कि युद्ध की संभावना प्रजातंत्रो की ओर से बहुत कम होती है । ग्रीन का विश्वास क्रमशः पल्लवित हो रहा है तथा राज्यो का विकास क्रमशः इसी दिशा

मे हो रहा है। पिछले दो महायुद्धो ने मानव जाति को विश्वशाति के प्रति सजग कर दिया और नये अस्त्रों के द्वारा विध्वस की भयानक कल्पना ने युद्ध को हमेशा के लिये रोकने के लिये वाध्य कर दिया है। वह वातावरण क्रमशः समाप्त हो रहा है जब राजनायको के आह्वान पर नागरिक युद्ध करने के लिये तैयार हो जाते थे। ऐसे वातावरण का विकास हो रहा है जहाँ जनमत राजनायको को युद्ध की ओर वढ़ने से रोक सकता है। यही कारण है कि युद्ध की सभावना अविकसित और अर्धविकसित देशो मे अधिक मालूम होती है जहाँ इतना दृढ़ जनमत नही वन सका है जो शासको को प्रभावित कर सके। युद्ध के विरुद्ध ग्रीन को केवल दो कारणो से आपत्ति थी कि राज्य न तो अपने नागरिको को प्राणो की आहुति देने का आदेश दे सकता है न दूसरे देश के नागरिको के प्राण लेने का। किन्तु वर्तमान समय मे युद्ध का अर्थ होगा सपूर्ण विश्व के सामाजिक और आर्थिक जीवन को संकट मे डालना। इसलिये युद्ध को रोकना आज अधिक महत्वपूर्ण हो गया है किन्तु आज भी शासक और राजनीतिज्ञ इस विश्वास को त्यागने के लिये तैयार नही है कि युद्ध करना संप्रभुता का एक अग है।

दंड सिद्धान्त – जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार का अध्ययन तीसरा प्रश्न प्रस्तुत करता है, "यह किस आधार पर माना जा सकता है कि व्यक्ति अपने किसी आचरण से अपने जीवन के अधिकार के उपयुक्त नहीं रह जाता, ताकि राज्य उसके ऊपर शक्ति का प्रयोग कर सकता है, उसे एक पशु या वस्तु की तरह मान सकता है? क्या यह शक्ति कभी इतनी पूर्ण होती है कि राज्य जीवन ही ले सके?" ग्रीन का तात्पर्य स्पष्टतः इस वात से है कि राज्य किस आधार पर दंड दे सकता है। और मृत्युदंड दे सकता है अथवा नही? ग्रीन के दृष्टिकोण से दंड का सिद्धात अधिकारो के सिद्धात से सवंधित है क्योंकि जव व्यक्ति को कारावास दिया जाता है तो वह उस अवधि के लिये अपने सामान्य अधिकारो से वंचित हो जाता है और जव उसे मृत्यु दड दिया जाता है तो सभी अधिकारो का आधार पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है। जीवन की स्वतत्रता का अधिकार इस विश्वास पर आधारित है कि हर व्यक्ति मे सामान्य हितो की प्राप्ति की चमता होती है और इस चमता का प्रयोग इसी दिशा में होता है। सभी अधिकारो का सैद्धातिक आधार यह है कि व्यक्ति की इस चमता को क्रियान्वित होने का पूर्ण अवसर प्रदान किया जाय। इसी सिद्धात के आधार पर यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार व्यवहार करता है कि दूसरो को सामाजिक हित के कार्य करने मे वाधा हो तो उस व्यक्ति को राज्य बल प्रयोग से रोक सकता है। अपराधी को दंड इसलिये

दिया जाता है ताकि समाज के अन्य लोग सामान्य हितो के लिये कार्य करते रहे। दँड व्यवस्था केवल इसी आधार पर न्याय सगत है कि वह समाज के व्यापक हितो मे आवश्यक है।

दड के विभिन्न स्वरूपो की व्याख्या करते हुए ग्रीन अपने सिद्धांत की स्थापना करता है। सबसे पहले बदले का सिद्धात (Retributive theory) हमारे सामने आता है। अपराधी को दंड बदला लेने के लिये या क्षति पूर्ति के लिये दिया जाता है किन्तु बदले की भावना व्यक्तिगत होती है और किसी भी संगठित समाज मे व्यक्तिगत बदले का अधिकार नही दिया जा सकता। ग्रीन यह दर्शाता है कि बदला लेने का प्रारंभिक अधिकार भी सामाजिक स्वीकृति पर ह आधारित हो सकता है और जहा किसी प्रकार का सगठित जीवन बन चुका है वहा दड देने का अधिकार व्यक्ति के पास नही रह जाता। राज्य की स्थापना से पहले भी एक कुटुम्ब के सदस्यो को आपस मे बदला लेने का अधिकार नही होता था। राज्य और विभिन्न सगठनो का विकास बदले की भावना का विकास नही है बल्कि क्रमशः उस पर कब्जा करने का प्रयास है। प्रत्येक अपराध किसी व्यक्ति के प्रति होने के साथ-साथ समाज को भी आघात पहुँचाता है किन्तु समाज अपराधी से बदला नही ले सकता। किसी अपराध से व्यक्ति को जो हानि होती है उसका मूल्यांकन किया जा सकता है किन्तु जो आघात समाज को पहुचता है उसका सही मूल्याकन नही हो सकता। अत. समाज की क्षति पूर्ति नही हो सकती और इस अर्थ में दंड बदले की भावना से प्रेरित नही हो सकता। किसी अपराध से व्यक्ति को जो हानि होती है उसकी पूर्ति भी धन सपत्ति के मामलो मे ही की जा सकती है। 'खून के बदले खून' की भावना जिसकी हत्या हो चुकी उसे कोई मुआवजा नही दे सकती और समाज के नैतिक बधनो को प्रत्येक अपराध से जो ठेस पहुचती है उसे भी पूरा नही किया जा सकता। ग्रीन कहता है कि दंड के द्वारा अपराधी को दो बातो का ज्ञान कराना चाहिये। (१) अपराधी यह जान सके कि अधिकार का सही अर्थ क्या है, तथा (२) उसने ऐसे ही किसी अधिकार का उल्लंघन किया है। यह बाते समझ लेने पर अपराधी स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि जो दड उसे मिल रहा है वह उसके अपने कार्य का स्वाभाविक परिणाम है। उसे इस बात का ज्ञान हो जाय कि हर अपराध बूमरेंग (Boomerang) की तरह उसी के पास वापिस होता है जो उसे फेकता है। बदले का सिद्धात केवल इसी एक अर्थ मे स्वीकार किया जा सकता है कि अपराधी को इस बात का आभास हो कि दड उसके अपराध का स्वाभाविक परिणाम है, किसी भी व्यक्ति को उस कार्य के बदले यही परिणाम मिलेगा। तब उसे इस बात का आभास

होगा कि किसी व्यक्ति का नुकसान पूरा करने के लिये उसे दंड नही दिया जा रहा है बल्कि सामाजिक बंधनों को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है।

दंड का दूसरा सिद्धांत अवरोधात्मक सिद्धांत (Preventive or Deterrent Theory) है। यह सिद्धात इस विचार पर आधारित है कि दंड का उद्देश्य अपराध को रोकना है। अवरोध दो प्रकार का होता है; जिसने अपराध किया है उसे भविष्य में अपराध करने से रोकना तथा अन्य व्यक्तियों (संभावित अपराधियो) को अपराध करने से रोकना। यह व्याख्या अपराध के प्रति भय उत्पन्न करने का समर्थन करती है। अपराधी को इतना कठोर दंड देना चाहिये कि उसके हृदय मे अपराध के प्रति भय उत्पन्न हो जाय तथा अन्य लोग भी दंड की कठोरता से आतंकित हो जायं। इस सिद्धात की गलत व्याख्या की जाने लगी तथा यह निष्कर्ष निकाला गया कि दंड कठोरतम होना चाहिये। दंड जितना कठोर होगा भय उतना ही अधिक होगा। इस रूप मे दंड न्यायसंगत नहीं रह जाता। क्योंकि दंड और अपराध के बीच अनुपात का होना आवश्यक है और यह सिद्धांत इस अनुपात को त्याग देता है। भेड और बकरी चुराने के लिये प्राणदंड देना न्यायसंगत नही है। यदि शक्ति का प्रयोग अपराध के निवारण के लिये करना है तो केवल इतनी शक्ति का प्रयोग होना चाहिये जो पर्याप्त हो। न्याय करने के लिये यह जानना भी आवश्यक है कि अपराध किस कारण से और किन परिस्थितियो में हुआ। अज्ञानतावश, अकारण, लाचार या उत्तेजित होकर व्यक्ति जब कोई अपराध करता है तो उसके निवारण के लिये अधिक शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नही है। ग्रीन इस बात को स्वीकार करता है कि अपराध के प्रति दंड के आतंक को बनाये रखना आवश्यक है ताकि अधिकांश लोग अपराधों से दूर रहे, किन्तु आतंकित करना ही दंड का लक्ष्य नही है और अपराध रोकने के लिये आतंक ही पर्याप्त नही है।

दंड का तीसरा और वास्तविक सिद्धात सुधारवादी सिद्धांत (Reformative Theory) है। दंड का वास्तविक उद्देश्य अपराधी को सुधारना है। बदला और आतंक के अतिरिक्त सुधार अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अपराध और दंड का अध्ययन भी नैतिक सिद्धांत के रूप मे किया गया है। मनुष्य स्वभाव से एक नैतिक प्राणी है और अनैतिकता केवल आकस्मिक है। एक अपराध से मनुष्य की नैतिक शक्तियों का लोप नहीं हो जाता, और न यह स्वीकार किया जा सकता है कि वह व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करने के योग्य नहीं रह गया। अपराध केवल इस बात का प्रमाण है कि उसकी नैतिक दृष्टि कमजोर पड़ गई है तथा वह व्यक्ति भटक गया है। उसे सही रास्ते पर लाना और नैतिक जीवन का महत्व स्वीकार करने की प्रेरणा देना ही राज्य का तथा दंड

व्यवस्था का उद्देश्य होता है। ग्रीन यह मानकर चलता है कि अपराध करने से व्यक्ति के सभी अधिकारों का अंत नहीं हो जाता और उसके अधिकारो का उचित आदर होना चाहिये। अपराधी को दंड के माध्यम से सुधार कर पुनः अधिकारो का उपभोग करने के योग्य बना देना चाहिये। इस प्रकार वह व्यक्ति पुनः सामाजिक विकास में सहयोग देने के योग्य बन सकता है। अपराधी का सुधार करना भी अपराध को रोकने का एक तरीका है। यदि वह अपनी गलती महसूस कर लेता है तथा नैतिक जीवन के महत्व को समझ लेता है तो वह भविष्य में अपराध नहीं करेगा। इस प्रकार से अपराधी भावना का निवारण स्थाई रूप से किया जा सकता है, किन्तु केवल दड के भय से अपराधो पर स्थाई रोक नहीं लगाई जा सकती। भय से अपराधी भावना समाप्त नहीं होती और अपराधी नजर बचा कर अपराध करने का प्रयत्न करते है। प्रायः यह देखने मे आता है कि अपराधी कारागार की यातनाओ से अभ्यस्त हो जाते हैं और दड के प्रति कोई भय उनके हृदय मे नहीं रह जाता।

इसी आधार पर ग्रीन ने मृत्यु दड का भी अध्ययन किया है। प्राणदंड का अर्थ यह होता है कि एक व्यक्ति के सभी अधिकार समाप्त कर दिये जाते है और नैतिक विकास मे एक व्यक्ति का हिस्सा भी समाप्त कर दिया जाता है। इसलिये प्राणदंड का अध्ययन नये प्रश्न प्रस्तुत करता है। प्राणदड केवल दो परिस्थितियो मे न्यायसगत कहा जा सकता है। प्रथम जबकि यह प्रमाणित किया जा सके कि संपूर्ण समाज के हितो के लिये उस अपराधी के जीवन का अंत कर देना आवश्यक है तथा द्वितीय जब यह विश्वास किया जा सके कि अपराधी अपने अधिकारो का उपभोग करने के योग्य स्थाई रूप से नहीं रह गया। जब तक अपराधी मे अपने अधिकारो का सही उपयोग करने की योग्यता है, उसे सुधारकर पुन: सामाजिक जीवन मे स्थान दिया जाना चाहिये। इस व्यवस्था का निष्कर्ष यह निकलता है कि मृत्यु दड उस समय दिया जा सकता है जब कि उस व्यक्ति का जीवित रहना सपूर्ण समाज के लिये हानिकारक हो और जब उस अपराधी को सुधारकर सही रास्ते पर लाने का कोई तरीका न रह गया हो। ग्रीन के लिये दंड भी एक नैतिक कार्य है जो अंतिम नैतिक उद्देश्य से सीमित है। दड के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नैतिक भावना का निर्माण नहीं किया जा सकता किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से पतित व्यक्ति को सुधारकर उसे नैतिक जीवन के योग्य बना दिया जाता है। उचित और न्यायसंगत दड देना समाज तथा व्यक्ति के नैतिक विकास के लिये है और अपराधी के नैतिक सुधार की संभावना समाप्त हो जाने पर ही प्राणदड न्याय-संगत है।

राज्य का कार्य—राजनीतिक अध्ययन मे ग्रीन के लिये सबसे महत्वपूर्ण बात राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करना है। कार्यक्षेत्र के संबंध में इंगलैंड मे दो विचार प्रचलित थे; व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते थे और उसके कार्यक्षेत्र को न्यूनतम कर देना चाहते थे तो दूसरी ओर संरक्षणात्मक शासन (Paternal Government) के समर्थक यह चाहते थे कि राज्य व्यक्ति का पालन उसी प्रकार करे जिस प्रकार पिता अपनी संतान की करता है। ग्रीन दोनो विचारधाराओ से सहमत नही है यद्यपि उसका झुकाव संरक्षणात्मक शासन की विपरीत दिशा में ही अधिक है। उदारवाद की प्रचलित परम्परा मे जान स्टुअर्ट मिल के जीवन काल में ही परिवर्तन दिखने लगे थे और स्वयं मिल ने भी राज्य के कार्यक्षेत्र मे विस्तार करना स्वीकार कर लिया था तथा आने वालों वर्षो मे ब्रिटिश उदारवाद क्रमशः विस्तृत कार्यक्षेत्र का समर्थक बनता गया, फिर भी उदारवाद यह मानने के लिये तैयार नही था कि राज्य के कार्यक्षेत्र के अंतर्गत जीवन की सपूर्ण क्रियाओ को समेटा जा सकता है। ग्रीन भी इस बात से सहमत है कि राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित है और होना चाहिये।

ग्रीन एक आदर्शवादी है और ग्रीन से पहले आदर्शवाद राज्य के सर्वग्राही कार्यक्षेत्र का समर्थक रहा है। राज्य नैतिकता का निर्माता था और नैतिक जीवन मनुष्य का श्रेष्ठतम उद्देश्य था। राज्य को नैतिक जीवन के लिये आवश्यक मानते हुए भी ग्रीन ने सीमित कार्यक्षेत्र के पक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किये है वे व्यक्तिवादी तर्कों से कही अधिक शक्तिशाली है। व्यक्तिवाद का नैतिक आधार यह है कि राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति मे स्वावलंबन और स्वतः कार्य करने की क्षमता के लिये हानिकारक है। राज्य के पूर्ण संरक्षण मे रहने वाला व्यक्ति स्वयं कार्य करने का साहस नही करना चाहता बल्कि हमेशा राज्य की सहायता की राह देखता है। ग्रीन का तर्क भी इसी के समान है किन्तु आदर्शवाद का परिधान पहने हुए है।

अधिकारो के अध्ययन मे ग्रीन ने स्वतंत्र जीवन के अधिकार को स्वीकार किया तथा जो चौथा प्रश्न प्रस्तुत किया वह इस प्रकार है—"सामाजिक हितो के लिये मुक्त रूप से योग देने की क्षमता को सक्रिय रूप से प्राप्त करने की व्यक्ति की कामना का स्वभाव तथा विस्तार क्या है?" अन्य आदर्शवादियो और ग्रीन के दृष्टिकोण में मूल अंतर यह है कि ग्रीन नैतिक जीवन की इच्छा को आंतरिक मानता है। स्वतंत्र इच्छा के अध्ययन मे ही हम यह बात स्पष्ट कर चुके है कि ग्रीन कान्ट के स्वतंत्र इच्छा के सिद्धांत से प्रभावित है जो यह मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति मे सामान्य हितो की पूर्ति की भावना स्वभावतः होती है, और प्रत्येक व्यक्ति इस इच्छा की प्राप्ति के लिये स्वयं कार्य करना

चाहता है। यही इच्छा नैतिक इच्छा है इसलिये राज्य नैतिकता का निर्माता नही हो सकता क्योंकि नैतिकता स्वाभाविक है; मानव-आत्मा का जन्मजात गुण है। नैतिकता निर्माण बाहरी हस्तक्षेप से नही होता और इस नैतिक इच्छा की अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अधिकार चाहती है। यही अधिकार राज्य के कार्य-क्षेत्र की सीमा निर्धारित करता है। यद्भाव्यमा नीति मे व्यक्ति का यह अधिकार केवल निष्क्रिय (Negative) रूप मे ही स्वीकृत था। यह स्वीकार किया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक विकास मे योग देने का स्वतत्र अधिकार होना चाहिये। ग्रीन के अनुसार केवल इतना स्वीकार कर लेने से ही समाज का कल्याण संभव नही है बल्कि यह आवश्यक है कि समाज मे ऐसी परिस्थितियो का निर्माण किया जाय कि हर व्यक्ति अपनी क्षमताओ का उचित प्रयोग कर सकें तथा सामाजिक विकास मे उचित हिस्सा ले सके। व्यक्ति के जीवन और व्यवहार के प्रति राज्य की उदासीनता सामाजिक विकास के अनुकूल नही हे। सामाजिक विकास के लिये कार्य करने मे व्यवित को राज्य की सहायता की आवश्यकता है। प्रश्न यह आता है कि यह सहायता किस प्रकार की होनी चाहिये ? अथवा राज्य नैतिक जीवन मे किस रूप मे सहायक हो सकता है ?

नैतिक क्षमता मानव-आत्मा का आतरिक गुण है। अपने नैतिक उद्देश्य का ज्ञान हर व्यक्ति को स्वयं होता है और वह स्वयं इसकी प्राप्ति के लिये कार्य करता है। राज्य का, या अन्य किसी बाह्य शक्ति का, हस्तक्षेप इच्छा की स्वतंत्रता को नष्ट कर देता है और जो कार्य स्वतत्र इच्छा से कही किया गया उसका नैतिक मूल्यांकन भी नही किया जा सकता। ग्रीन तो यह भी मानता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी के आदेश से सामान्य हितो के अनुकूल कार्य करता है तो वह नैतिक कार्य नही कहा जा सकता। इस रूप मे तो हम पशु तथा निर्जीव पदार्थों को भी सामाजिक विकास के लिये लाभदायक बना सकते है। इस प्रकार पूर्ववर्ती आदर्शवाद की इस कल्पना को ग्रीन त्याग देता है कि राज्य नैतिकता का निर्माण करता है किन्तु नैतिक सस्था के रूप मे राज्य का महत्व फिर भी स्वीकार किया गया है। राज्य का नैतिक अस्तित्व प्रत्यक्ष नही बल्कि अप्रत्यक्ष कार्यो से है। व्यक्ति की नैतिक क्षमता को सक्रिय बनाने मे राज्य अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है। राज्य को ऐसे वातावरण का निर्माण करना चाहिये जो नैतिक जीवन के अनुकूल है। राज्य का सम्बन्ध इच्छा के निर्माण से नही बल्कि बाह्य वातावरण के निर्माण से है। इस प्रकार के वातावरण का निर्माण होना चाहिये कि हर व्यक्ति नैतिक जीवन का महत्व समझ सके और उसे निभा सके। ग्रीन का यह विचार है कि यद्भाव्यम् नीति के कारण समकालीन समाज मे जो

वातावरण बन गया था उसमे सामाजिक विकास की क्षमता का विकास करीब-करीब असम्भव था। व्यक्ति अपनी इस आंतरिक क्षमता का आभास नही कर सकता था और स्वार्थी तथा निम्न प्रवृत्तियो ने सामान्य हितो की भावना को दबा दिया था। राज्य अपराधी को दंड तो देता था किन्तु उन कारणो को दूर नही करता था जो अपराध करने की प्रेरणा देते थे। पहले तो राज्य व्यक्ति को 'अनैतिक और अपराधी वातावरण मे पलने देता है, बाद मे उसे अपराध करने के लिये दंड भी देता है। ग्रीन स्पष्ट शब्दो मे लिखता है, 'लंदन के किसी क्षेत्र के एक अशिक्षित और अधभूखे निवासी मे जिसके दाँये और बाँये शराब की दुकाने हों, सामाजिक चेतना का विकास कैसे हो सकता है।" इस निवासी को अपने अधिकारो के योग्य बनाने के लिये इस वातावरण से मुक्ति दिलाना आवश्यक है। सामाजिक वातावरण मे जो तत्व नैतिक विकास को अवरुद्ध करते है उन्हे दूर करना राज्य का कार्य है तथा इन्हे दूर करके ही राज्य मनुष्य के नैतिक जीवन में (नैतिकता के विकास मे, निर्माण मे नहीं) सहायक हो सकता है। राज्य का कार्य नैतिक जीवन के विकास मे आनेवाली 'बाधाओ को रोकना' या 'बाधाओ मे बाधा उपस्थित करना' है। इस विश्लेषण मे राज्य आवश्यक है, एक बुराई के रूप मे नही बल्कि नैतिक संस्था के रूप में। यह केवल सुरक्षा प्रदान करने वाला पुलिस राज्य नही है; राज्य केवल रक्षक नही बल्कि पालक भी है और पथ निर्देशक भी। राज्य नैतिक जीवन का पथ स्वयं निर्धारित नही करता बल्कि गलत मार्ग पर जाने से रोकता है और सही मार्ग को प्रकाशित करता है। नैतिक जीवन के लिये राज्य से मुक्ति नही बल्कि उसका सहयोग आवश्यक है। राज्य एक नैतिक संस्था है क्योकि वह मनुष्य की नैतिक इच्छा को सक्रिय बनाने के लिये अनुकूल वातावरण तैयार करता है। इस व्याख्या मे मनुष्य की सभी स्वतंत्रताये भी सुरक्षित हैं क्योकि जब तक वह नैतिक मार्ग पर चल रहा है राज्य उसके आचरण मे हस्तक्षेप नही करेगा। इस समन्वय से ग्रीन राज्य को नैतिक संस्था मानते हुए भी उसे सर्वग्राही शक्ति बनने से रोक लेता है।

ऊपरी सतह पर कार्यक्षेत्र का यह विश्लेषण निषेधात्मक ही प्रतीत होता है। 'अवरोधो को अवरुद्ध करना' राज्य को कोई सक्रिय शक्ति प्रदान नही करता बल्कि यह स्वीकार कर लेता है कि नैतिकता के निर्माण मे राज्य का कोई प्रत्यक्ष हिस्सा नही है। ग्रीन यह स्वीकार कर लेता है कि व्यक्ति के स्वेच्छित (Spontaneous) कार्य मे राज्य को कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिये क्योकि हस्तक्षेप से स्वतंत्र कार्य करने की शक्ति का ह्रास होता है; किन्तु वह स्वतंत्र कार्य की परिभाषा को बदल देता है। स्वेच्छित कार्य

का अर्थ उन कार्यो से नही है जो व्यक्ति स्वयं विना किसी वाहरी आदेश के करता है बल्कि वही कार्य स्वेच्छित है जो उसके नैतिक विकास के अनुकूल है। अनैतिक और असामाजिक भावनाये व्यक्ति के सही मार्ग की वाधाये है जिन्हे दूर करना राज्य का कार्य है। इस प्रकार से यह विश्लेपरा राज्य को सक्रिय कार्यक्षेत्र प्रदान कर देता है। यह विवेचन हमें वाह्य रूप से उदारवादी ही दिखता है किन्तु व्यवहार मे इसकी व्याख्या भी 'स्वतंत्रता के विरोधाभास' तक ले जा सकती है। यदि हीगेल के सिद्वात मे अपराधी को दंड देना उसकी स्वतंत्र इच्छा का प्रतीक है तो ग्रीन के सिद्धात मे वह वाधा दूर करने का तरीका है। इस सिद्धांत के आधार पर ग्रीन राज्य को जो सक्रिय शक्तिया सौपना चाहता है उनमे शिक्षा, मद्यनिपेध, संविदाओ का नियंत्रण व संपत्ति वितरण की व्यवस्था भी शामिल है। सामान्य रूप से वालको को शिक्षा प्रदान करना माता-पिता का नैतिक कर्त्तव्य ही दिखाई देता है किन्तु ग्रीन कहता है कि यदि माता-पिता इस कर्त्तव्य की अवहेलना करते है तो वे वालक अज्ञान के कारण सद्जीवन की क्षमता प्राप्त न कर सकेंगे, अतः अज्ञान सद्जीवन की प्राप्ति मे वाधा है और उसे दूर करना राज्य का उत्तरदायित्व है। राज्य को उचित शिक्षा व्यवस्था का प्रवंध करना चाहिये।

इसी प्रकार का तर्क मद्यनिपेध के सम्वन्ध मे भी प्रस्तुत किया गया है। नशे की हालत मे व्यक्ति अपनी तर्कशक्ति खो देता है और तर्क के विना नैतिक विकास संभव नही है। इस प्रकार नशा भी नैतिक विकास के मार्ग मे वाधा है और राज्य को मद्यनिपेध का कानून वनाना आवश्यक है। सविदा की स्वतत्रता के सम्वन्ध मे ग्रीन का यह कहना है, 'कुछ मनुष्यो के द्वारा अपनी मनमानी करने का अर्थ यह होगा कि अन्य कई या आनेवाली पीढियां अपने अधिकारो के प्रयोग के योग्य न रह जाय।" ग्रीन का तात्पर्य उन कार्यो से है जो जनता के स्वास्थ, भोजन, निवास इत्यादि के सम्बन्धित है। वह लिखता है "स्वास्थ की आवश्यकताओ की अवहेलना करते हुए विशाल जनसमूह का एकत्रित होना, हानिकारक वस्तुओं का स्वतत्र व्यापार, किराये के मजदूरो की असीम वृद्धि, विशेप रूप से कारखानो मे, जो परिस्थितियो के कारण एकाएक बढ़ गये है", आनेवाली पीढियो के लिये हानिकारक है इसलिये सर्वहारा वर्ग से उत्पन्न होने वाले सकट के विरुद्ध उचित प्रवन्ध करना चाहिये। इन सभी दोषो को व्यक्तिगत प्रयासों से दूर नही किया जा सकता वल्कि राज्य के द्वारा सामूहिक शक्ति का प्रयोग आवश्यक है। इस प्रकार राज्य के कार्यक्षेत्र की यह व्याख्या निषेधात्मक नही वल्कि आदेशात्मक बन जाती है।

संपत्ति—राज्य के कार्यक्षेत्र की व्याख्या हमें सपत्ति के अध्ययन पर ले आती है। ग्रीन से पूर्व इंग्लैड मे संपत्ति को राज्य के अधिकार से मुक्त माना जाता था। लॉक

ने संपत्ति की जो परिभाषा की उसके अनुसार संपत्ति को राज्य से परे मान लिया गया। प्रारंभिक अर्थशास्त्रियों और व्यक्तिवादियों ने भी इस अधिकार को पूर्ण माना, किन्तु ग्रीन ने आदर्शवादी होते हुए भी सपत्ति के अधिकार को सीमित ही माना तथा इस बात का समर्थन किया कि राज्य को सपत्ति के वितरण पर नियंत्रण रखना चाहिये। औद्योगिक विकास और यद्भाव्यम् नीति के कारण सभी यूरोपीय देशो मे ऐसी मजदूर बस्तिया निर्मित हो गई थीं जिनका जीवन अत्यत दयनीय था। सर्वहारा वर्ग केवल आर्थिक रूप से ही शोषित नही था बल्कि उनके जीवन की परिस्थितिया ऐसी बन गई थी कि वे उन्नति की बात सोच ही नही सकते थे। इस जीवन के लिये ग्रीन ने व्यक्तिवाद की अहस्तक्षेप की नीति तथा सपत्ति की प्रचलित व्यवस्था को दोषी ठहराया। यह बात अत्यंत आश्चर्यजनक है कि ग्रीन ने अपने व्याख्यानों मे मार्क्स के विचारो की कोई चर्चा ही नहीं की जबकि साम्यवादी घोषणापत्र १८४८ में प्रकाशित हो चुका था, अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी दल की स्थापना हो चुकी थी और जर्मनी तथा फ्रास से निष्कासित कार्ल मार्क्स लंदन के पुस्तकालय में बैठकर 'कैपिटल' की रचना कर रहा था। इस अवहेलना के दो स्पष्ट कारण है—आक्सफोर्ड की दार्शनिक परम्परा और ग्रीन का विचारक्षेत्र। ग्रीन का विचार क्षेत्र मूल रूप से नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) से सम्बन्ध रखता है और इस क्षेत्र मे मार्क्स का कोई महत्व नही था।

ग्रीन यह तो स्वीकार करता है कि विशाल संपत्तिहीन वर्ग के जीवन में सुधार करना आवश्यक है किन्तु इस दोष का कारण संपूर्ण संपत्ति की व्यवस्था नही है बल्कि भूमिगत संपत्ति की व्यवस्था है। संपत्ति और उद्योगो का राष्ट्रीयकरण ग्रीन का ध्यान आकर्षित नही करता बल्कि उदारवादी परम्परा पर ग्रीन राज्य को कम से कम अधिकार ही सौपना चाहता है, केवल इतनी शक्ति जो इस दोष को दूर करने के लिये आवश्यक है।

व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार का समर्थन करते हुए ग्रीन यह मानता है कि अन्य अधिकारो की तरह संपत्ति का अधिकार भी सामान्य हितो की पूर्ति के लिये आवश्यक है। सामाजिक विकास मे व्यक्ति योग दे सके इसके लिये उसके पास संपत्ति का होना जरूरी है और यह नियम सभी सदस्यों पर लागू होता है। इसी आधार पर ग्रीन सपत्ति-हीन अवस्था का भी विरोध करता है। संपत्तिहीन नागरिक सामाजिक विकास मे पूर्ण हिस्सा नही ले सकता ; अत सपत्तिहीनता को रोकना भी राज्य का कर्त्तव्य है। इस प्रकार राज्य को संपत्ति के नियंत्रण का अधिकार मिल जाता है। सपत्ति जमा करने क उद्देश्य केवल भविष्य मे संभाव्य संकट के समय सहायता के उद्देश्य से सग्रह करना ही

नही है। इस प्रकार का संग्रह तो अन्य प्राणी भी कर लेते हैं; ग्रीन चीटियो का उदाहरण प्रस्तुत करता है। संपत्ति इस वात का प्रतीक है कि व्यक्ति की चेतना अपनी अभिव्यक्ति चाहती है इसीलिये वह दूसरों के संपत्ति के अधिकार को स्वीकार करने के लिये तैयार रहता है। लॉक ने संपत्ति और जीवन के अधिकारों का आधार समान माना है किन्तु ग्रीन यह कहता है कि लॉक यह नही वतला सका कि वह आधार क्या है। यह आधार सामान्य हितों की चेतना है जो अन्य सभी अधिकारो का आधार है। हर व्यक्ति इस वात को स्वीकार करता है कि प्रत्येक दूसरा व्यक्ति सामान्य हितों की पूर्ति के लिये कार्य कर रहा है इसलिये वह उनके इन अधिकारो को स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार संपत्ति का संग्रह और संपत्ति का अधिकार पृथक नही है तथा इसमे व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति समान रूप से निहित हैं।

अन्य अधिकारो की तरह संपत्ति का अधिकार भी पुरातन जाति प्रथा मे आरंभ हुआ है। प्राचीन कुटुम्व, जाति, कवीलो मे संपत्ति का अधिकार सामूहिक ही होता था किन्तु व्यक्तिगत उपयोग की स्वतंत्रता थी। इस व्यवस्था को ग्रीन व्यक्तिगत सपत्ति के अधिकार का खंडन नही मानता वल्कि उसका प्रारभिक रूप मानता है। इस अवस्था में सामान्य हितो की भावना इसी रूप मे व्यक्त होती है। विकास के साथ, नैतिक इकाई के रूप में, व्यक्ति इन प्रारंभिक वंधनो से स्वतंत्र होता गया तथा जाति और कवीले राज्य के रूप में विकसित होते गये। राज्य के निर्माण से संपत्ति के व्यक्तिगत अधिकार की स्थापना तो हो गई किन्तु व्यक्ति का उत्थान अपूर्ण रह गया, परिणाम स्वरूप कुछ व्यक्तियो ने संपत्ति प्राप्त कर ली तथा कुछ संपत्तिहीन हो गये। ग्रीन यह मानता है कि अधिकांश यूरोपीय देशों मे सभ्यता का विकास इसी रूप में हुआ है। कानून की दृष्टि मे संपत्ति प्राप्त करने का अधिकार सवको है किन्तु व्यवहार मे यह अवसर सवको समान रूप से नही मिलता। नैतिक दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि सवके पास सपत्ति होना चाहिये तथा सवको संपत्ति प्राप्त करने की व उपभोग करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये। यह विचार स्वतः विरोधी दिखता है किन्तु ग्रीन यह दर्शाता है कि संपत्तिहीनता संपत्ति की स्वतत्रता का परिणाम नहीं है; यह तर्क आर्थिक समानता का भी समर्थक नही है। आर्थिक असमानत स्वाभाविक है क्योंकि सामाजिक विकास मे व्यक्ति का योग भिन्न मात्रा मे रहता है। जो व्यक्ति जिस अनुपात मे योग देता है उसी अनुपात में उसके पास साधन भी होने चाहिए। व्यापार की स्वतंत्रता भी नैतिक रूप से हानिकारक न होकर लाभदायक है क्योंकि उत्पादक अपनी वस्तु उस वाजार मे वेचना चाहता है जहां उसका मूल्य अधिकतम है अर्थात् उसकी माग अधिकतम

है, अर्थात वहां उस वस्तु की आवश्यकता अधिक है। इस प्रकार स्वतंत्र प्रतियोगिता समाज के हितों की पूर्ति मे सहायक है।

ग्रीन इस आरोप को स्वीकार नहीं करता कि विशाल संपत्तिहीन समूह का निर्माण संपत्ति की स्वतंत्रता के कारण है। यह सही है कि संपत्ति की स्वतंत्रता के कारण कुछ लोगों के पास अतुल संपत्ति एकत्रित हो जाती है किन्तु एक व्यक्ति की संपत्ति की वृद्धि का अर्थ यह नही होता कि दूसरे की संपत्ति कम हो जाती है। कुल उपलब्ध संपत्ति सीमित नहीं है वल्कि उत्पादन के विकास से संपत्ति की मात्रा निरंतर वढ़ती जा रही है। अत: एक व्यक्ति जो संपत्ति वढ़ाता है।दूसरे से छीनकर नही वढ़ाता। ग्रीन प्रूधाँ के इस विचार मे सहमत नहीं है कि सभी संपत्ति चोरी है। श्रमिको की संपत्तिहीन अवस्था उत्पादन प्रणाली के कारण नहीं है क्योकि नौकरी की कोई शर्त उन्हे वेतन मे से वचत करने या उस वचत को अधिक लाभ वाले कार्य में लगाने से नही रोकती। इन उपायो से प्रत्येक श्रमिक अपनी संपत्ति में वृद्धि कर सकता है। इसके विरुद्ध मार्क्सवादी आलोचक यही कहेगे कि श्रमिक को वेतन इतना कम मिलता है कि वह उसमे से किसी प्रकार की वचत नही कर सकता। न्यून वेतन का दोप उत्पादन प्रणाली मे नही वल्कि श्रमिकों की अधिक पूर्ति मे है। प्रतिष्ठित अर्थ-शास्त्र के सिद्धांत स्वीकार करते हुए ग्रीन यही मानता है कि श्रमिक का वेतन मांग और पूर्ति के नियम से निर्धारित होता है। श्रमिको की आर्थिक स्थिति निरंतर गिरती जाती है क्योकि संप्रत्तिहीन लोगो की मात्रा वढती जा रही है और यह व्यक्ति नौकरी प्राप्त करने की स्पर्धा मे वहुत कम वेतन स्वीकार कर लेते है। औद्योगिक वस्तियो में लगातार ऐसे श्रमिक आ रहे हैं जिनमे न तो शिक्षा है, न चरित्र ; जो न तो वचत का महत्व समझते हैं, न अपनी वुरी आदतो को सुधारना चाहते है। इसका उत्तरदायित्व वर्तमान उत्पादन प्रणाली पर नही है वल्कि प्राचीन भूमि वितरण की व्यवस्था पर है। इस संदर्भ में ग्रीन कहता है "भूमिहीन ग्रामवासी जिनके पूर्वज कृपिदास (serfs) थे, विशाल नगरो के सर्वहारा के जनक है।" सर्वहारा के निर्माण का कारण संपत्ति व्यवस्था नही है वल्कि भूमि वितरण की प्रणाली है। ग्रीन का तर्क यह है कि एक व्यक्ति के धन की वृद्धि दूसरे के धन में कमी करके नहीं होती, किन्तु यह नियम भूमि पर लागू नही होता क्योकि पूजी सीमित नही है जव कि भूमि सीमित है। भूमि का जो वितरण अधिकाश यूरोपीय देशो मे हो चुका है वह न तो न्यायसंगत है और न समाज के लिये लाभदायक। लॉक की जो परिभाषा यूरोपीय अर्थशास्त्र मे प्रचलित थी, उसके अनुसार श्रम और भूमि का मिश्रण ही संपत्ति

है किन्तु समकालीन समाज मे सभी भूमि संपत्ति श्रम और भूमि के मिश्रण से नही बनी थी। सभ्यता के विकास में युद्ध, हिंसा और शक्ति प्रयोग के द्वारा ही अधिकांश भूमि का स्वामित्व स्थापित किया गया। इसलिये ग्रीन कहता है, "प्रारंभिक भूस्वामी आक्रमणकारी रहे हैं।" ग्रीन संपत्ति की नई परिभाषा प्रस्तुत करता है, "श्रम के द्वारा तथा श्रम के उचित प्रयोग के द्वारा अतुल संपत्ति प्राप्त करने की स्वतंत्रता मे किसी का यह अधिकार निहित नही है कि वह प्रकृति की उस देन के साथ मनमानी करे जिसके बिना श्रम का प्रयोग नही किया जा सकता।" यदि श्रम और प्राकृतिक देन का मिश्रण ही संपत्ति है तो प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम का प्रयोग करने का अधिकार मिलना चाहिए किन्तु प्राचीन भूमि व्यवस्था के कारण भूमिहीन वर्ग की स्थापना हो गई जिनके पास श्रम तो था किन्तु भूमि नही। यह लोग भूस्वामियो को अपना श्रम बेचने लगे और जब खदानो और कारखानो मे मजदूरो की आवश्यकता हुई तो इन्ही लोगो ने अपना श्रम किसी भी मूल्य पर बेच दिया, क्योंकि इनमे सौदा करने की शक्ति नही थी। शासन ऐसे लोगो के हाथ मे रहा जिन्होने भूमि पर कब्जा कर लिया था, अतः सपत्ति के अधिकार का उपयोग प्रायः इसी वर्ग के हितो मे हुआ। इसके बाद राज्य ने श्रमिक वर्ग के आर्थिक पतन को रोकने का भी कोई प्रयत्न नही किया। स्वास्थ, निवास और शिक्षा का उचित प्रबध नही किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप श्रमिक अशुद्ध वातावरण मे रहते थे, नशीले द्रव्यो का प्रयोग करते थे और अनैतिक बाते सीखते थे। नैतिक जीवन या सामाजिक हितो के बारे मे सोचने के लिये न उनके पास समय था, न ज्ञान, न वातावरण। इस प्रकार सपत्तिहीनता का दोष पूजीवाद पर या संपत्ति की स्वतंत्रता पर नही है बल्कि भूमि वितरण व्यवस्था पर तथा राज्य की उदासीनता पर है। भूमि वितरण फिर से किया जाना आवश्यक है तथा भू-सपत्ति के विस्तार पर नियत्रण रखना भी आवश्यक है। अन्य संपत्ति की अपेक्षा भू-संपत्ति का आधार अलग है क्योंकि भूमि की मात्रा निश्चित है और वह अन्य सभी उद्योगो का आधार है, इसके अतिरिक्त निवास तथा आवागमन के लिये भी भूमि की आवश्यकता है। इसलिये भूमि संपत्ति के अधिकार पर विशेष नियत्रण रखना आवश्यक है। यह नियंत्रण भी सामाजिक हितो के लिये आवश्यक हो जाता है। संपत्ति की स्वतंत्रता और नियंत्रण का एक ही आधार है। ग्रीन का यह विश्वास है कि यदि हर किसान के पास पर्याप्त भूमि होती तो वह सपत्तिहीनता के कारण हर कीमत पर अपना श्रम बेचने के लिये कारखानों की ओर न भागता। संपत्तिहीनता को रोकने के लिये उद्योगो का राष्ट्रीयकरण न तो आवश्यक है न न्यायसंगत, बल्कि राज्य को भूमि वितरण पर ही नियंत्रण

करना चाहिये तथा श्रमिकों के वेतन, स्वास्थ, निवास व शिक्षा के लिये उचित प्रबंध करना चाहिये ।

मूल्यांकन—ग्रीन ने आदर्शवाद और उदारवाद दोनों को शुद्ध करने का प्रयत्न किया किन्तु फिर भी उसके सिद्धात मे दोनों की कमजोरियां बनी हुई हैं। अन्य आदर्शवादियो की तरह ग्रीन भी इच्छाओ का विभाजन स्वीकार करता ही है, सामाजिक इच्छा को ही नैतिक और स्वतंत्र इच्छा मानता है। सार्वजनिक इच्छा के सिद्धात मे संशोधन कर देने के वाद भी सामान्य हितो की भावना को राज्य तथा राजनीतिक कार्यो का आधार मानता है। सामान्य हित भी उतने ही भावात्मक और अस्पष्ट है जितनी सामान्य इच्छा। किसी निश्चित समय पर एक समाज मे सामान्य हितो की अनेक परिभाषाये की जा सकती है और इनमें सही कौन है, इस वात का कोई सामान्य निर्णय नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे शासन को प्रधानता मिल जाती है। शासन ही इस वात का निर्णय करता है कि सामान्य हित क्या है और अंत में व्यक्ति स्वतत्रता मे हस्तक्षेप कर सकता है।

राज्य मे शक्तियो के महत्व को अस्वीकृत करते हुए ग्रीन ने इच्छा को राज्य का आधार अवश्य वना दिया किन्तु व्यवहार मे यह आधार भी उतना ही अनिश्चित और अस्पष्ट है जितना सामान्य इच्छा का विचार। अधिकार और राज्य सबंधी विचार उलझे हुए है। ग्रीन न तो व्यक्ति स्वतत्रता को त्यागना चाहता है और न आदर्शवाद को। अतः अधिकारो की नई (आदर्शवादी) व्याख्या करता है। अधिकारो का नया आधार केवल उनकी आवश्यकता ही नही दर्शाता वल्कि राज्य के विरुद्ध भी अधिकार प्रदान कर देता है। फिर भी अधिकारो का आधार वही है जो विधि-पालन का तथा राज्य के कार्यो का। वैसे तो इनमे विरोध ही नही होना चाहिये किन्तु विरोध हो जाने पर व्यक्ति का दृष्टिकोण सही है या राज्य का, यह निर्णय करने का कोई निश्चित आधार नही है। हर व्यक्ति अपने लिये इस वात का निर्णय कर लेता है कि विधि सामाजिक हितो के अनुकूल है अथवा नही। निर्णय विधि के विरुद्ध होने पर भी उसका पालन करना चाहिये व्यक्ति को नैतिक इकाई मान लेने से ग्रीन का तर्क राज्य के प्रतिरोध के अधिकार की ओर ले जाता है किन्तु आदर्शवादी श्रृद्धायें इस अधिकार के उपयोग को सीमित कर देना चाहती है, फलस्वरुप यह अधिकार इतना सीमित हो जाता है कि इसका प्रयोग ही संभव नही रह जाता। क्रांति का अधिकार केवल सैद्धातिक विचार वनकर रह जाता है।

इन कमजोरियो के होते हुए भी ग्रीन का प्रभाव वहुत अधिक हुआ। उसके सैद्धातिक प्रभाव का प्रतीक आक्सफोर्ड की आदर्शवादी परम्परा है जिसमें ब्रेडले, बोसांके,

हाबहाउस और सर अर्नेस्ट बार्कर जैसे विचारक शामिल है; और व्यावहारिक राजनीति मे इंगलैड की राजनीति मे प्रचलित सभी उदार सिद्धात ग्रीन से प्रभावित हैं। ग्रीन के सिद्धात का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा राज्य के कार्यक्षेत्र और अधिकारो से सबधित है। ग्रीन के यह विचार आदर्शवाद को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करते है तथा व्यक्तिवाद के साथ उसका समन्वय करते है। मूल रूप से ग्रीन एक समन्वयवादी था और उसकी सफलता इस समन्वय की शुद्धता पर निर्भर करता है। इस समन्वय का प्रभाव केवल इंगलैड की राजनीति मे नही बल्कि कल्याणकारी राज्य की कल्पना मे सभी जगह व्यक्त होता है। ग्रीन के समन्वय ने एक ओर यद्भाव्यम् नीति का विरोध किया और राज्य की उस उदासीनता का अंत कर दिया जिसके कारण श्रमिको का जीवन असहनीय और नैतिक विकास के अयोग्य बन गया था। दूसरी ओर ग्रीन के विचारो ने (विशेष रूप से इगलैड मे) राज्य की उस समष्टिवादी और सर्वग्राही (Totalitarian) कल्पना को विकसित होने से रोका जिसके अतर्गत आर्थिक संतोष के लिये व्यक्ति स्वतत्रता समाप्त हो जाती है। एक ओर व्यक्ति की अणुवादी कल्पना (Atomistic conception of the individual) थी जो व्यक्ति और समाज को पृथक मानती है और दूसरी ओर समाज का अवयववादी विचार (Organic concef tion of society) जो व्यक्ति को समाज मे विलीन कर देता है। दोनो विचार अपूर्ण है और प्रत्येक वस्तु के केवल एक पहलू को ही दर्शाता है। ग्रीन ने दोनो विचारो का समन्वय करके व्यक्ति और समाज को अतर्निर्भर माना, न एक दूसरे से अलग और न एक दूसरे मे विलीन। प्रत्येक क्रिया और सस्था पर इसी दोहरे दृष्टिकोण से विचार करना होगा—व्यक्तिगत और सामाजिक। किसी एक की अवहेलना उचित नही। स्वतंत्रता और अधिकारो की व्याख्या इस बात का प्रतीक है। ग्रीन व्यक्ति की अरस्तूवादी व्याख्या को स्वीकार करता है जो व्यक्ति को स्वभावत: सामाजिक प्राणी मानती है, "प्रत्येक आत्मा एक सामाजिक आत्मा है।" इसी आधार पर बार्कर यह मानते हैं कि ग्रीन का आदर्शवाद प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू के अधिक समीप है, हीगेल की अपेक्षा कान्ट के अनुकूल अधिक है।" इस सशोधन के कारण ही बार्कर कहते है कि ग्रीन "उतना ही शात यथार्थवादी था जितना उच्च आदर्शवादी।"

ग्रीन की सबसे बड़ी व्यावहारिक सफलता यह है कि उसने उदारवाद को एक ठोस आधार प्रदान किया। ग्रीन के पहले आंग्ल उदारवाद मनुष्य के सुख और दुख की भावना पर आधारित था; ग्रीन ने उसे भौतिकवाद (Materialism) और अनुभववाद (Empiricism) से मुक्त करके एक नैतिक सिद्धात बना दिया। उदारवाद ने आरंभ

से ही संरक्षणात्मक राज्य का विरोध किया तथा राजसत्ता के कार्यक्षेत्र को न्यूनतम रखना चाहा। ग्रीन ने पहले विचार को स्वीकार करते हुए भी राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया और नैतिक जीवन मे सहयोग देने का अवसर भी दिया। इंगलैंड की राजनीति में यह परिवर्तन आवश्यक भी था क्योंकि उदासीन राज्य के अधीन स्वतंत्र निवासियों की आर्थिक, सामाजिक और नैतिक स्थिति लगातार गिरती जा रही थी। उदार समाज का अर्थ यह नही होता कि वह अपने सदस्यों को पतन के गंत मे गिरने से बचाने का प्रयत्न न करे बल्कि ऐसा समाज जो सदस्यों की नैतिक उन्नति का अधिक से अधिक अवसर प्रदान करे। व्यक्ति एक नैतिक प्राणी है और समाज तथा राज्य नैतिक संस्थाएं है। इनमे परस्पर विरोध नही होता बल्कि अधिकतम सहयोग स्थापित करने का प्रयास करना चाहिये। राज्य के उचित संरक्षण में ही व्यक्ति की स्वतंत्रता यथार्थ रूप ग्रहण कर सकती है क्योंकि स्वतंत्रता स्वयं एक नैतिक स्थिति है।

ग्रीन के विचार केवल उदारवाद के संशोधन के नाते ही महत्वपूर्ण नही है बल्कि आदर्शवाद को पुनर्जीवन प्रदान करने का श्रेय भी उसे है। जटिल, भावात्मक, रूढ़ीवादी तथा स्थूल स्थिति से उठाकर आदर्शवाद को सरल व्यावहारिक और गतिशील बना दिया। हीगेल के उग्र दृष्टिकोण ने आदर्शवाद को अप्रिय और आकर्षणहीन बना दिया था, ग्रीन की उदार व्याख्या ने उसे पुनर्जीवित ही नहीं किया बल्कि स्वतंत्रता और प्रजातंत्र का पथप्रदर्शक बना दिया। यूरोपीय आदर्शवाद इंगलैंड को ग्राह्य नही था किन्तु ग्रीन की व्याख्या ने इंगलैंड को एक ऐसा विचार प्रदान किया जिसने जार्ज सेबाइन के विचार से आंग्ल दर्शन को उस बोझिल परम्परा से मुक्ति दिला दी जो अनुभववादी मनोविज्ञान तथा सुखवादी तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र ने प्रदान किया था।

समाप्त